THE SOCIETY AS REFLECTED IN HINDI & KONKANI PROVERBS

Thesis Submitted to
THE UNIVERSITY OF COCHIN
for the Degree of
DOCTOR OF PHILOSOPHY

by
ASHA B. S.

Prof and Head of the Department
Dr. N. RAMAN NAIR

Supervisor
Dr. L. SUNEETHA BAI

DEPARTMENT OF HINDI
UNIVERSITY OF COCHIN

1983

हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में प्रतिबिंबित समाज

कोचीन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में

पी एच. डी. की उपाधि के लिए

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

प्रभा. पी. एम.

विभागाध्यक्ष

डा. एन. रामन नायर

निर्देशक

डा. एल. सुशीला बाई

हिन्दी विभाग

कोचीन विश्वविद्यालय

1983

CERTIFICATE.

This is to certify that this THESIS is a bonafide record of work carried out by ASHA.B.S. under my supervision for Ph.D and no part of this has hitherto been submitted for a Degree in any University.

Department of Hindi
University of Cochin,
COCHIN - 682022.

Dr.L.SUNEETHA BAI
(Supervising teacher)

ACKNOWLEDGEMENTS

This work was carried out in the Department of Hindi, University of Cochin, Cochin-22 during the tenure of Scholarship awarded to me by the Cochin University. I sincerely express my gratitude to the Cochin University for this help and encouragement.

Department of Hindi,
University of Cochin,
COCHIN - 682022.

ASHA.B.S.

विषय - सूची

पृष्ठ - संख्या

प्राक्कथन — अ - ई

पहला अध्याय - भारतीय समाज का स्वरूप — 1 49

समाज शब्द का अर्थ - समाज और व्यक्ति का अन्तः संबन्ध - सामाजिक संगठन का स्वरूप - भारतीय समाज - सामाजिक आदर्शों के विभिन्न रूप - सामाजिक वर्गीकरण - वर्णव्यवस्था - ब्राह्मण - क्षत्रिय - वैश्य - शूद्र - जातिव्यवस्था - वर्ण और जाति - पारिवारिक संगठन - संयुक्त परिवार - धर्म का स्वरूप - धार्मिक विश्वास - संस्कार और सामाजिक व्यवस्था - दहेज प्रथा - विवाह एक प्रमुख सामाजिक व्यवस्था - दहेज प्रथा - नैतिकता - सदाचार - हिन्दी तथा कोंकणी समाज - निष्कर्ष ।

दूसरा अध्याय - लोकसाहित्य एवं समाज — 50 90

लोक शब्द - लोकमानस , मानव-प्रकृति और समाज - लोकसाहित्य एवं जनजीवन सामाजिक जीवन एवं लोकसाहित्य - लोकसाहित्य एवं समाज के विभिन्न अंग - लोकसाहित्य की परंपरा - लोकसाहित्य के विभिन्न रूप - लोकगीत , लोकगाथा , लोककथा , लोकनाट्य - प्रकीर्णसाहित्य - कहावतें - कहावतों में सामाजिक तत्व - कहावतों की परंपरा - कहावतों का विकास एवं समाज से उनका संबन्ध - कहावत - लोकसाहित्य का सबल माध्यम - कहावतों का वर्गीकरण - हिन्दी तथा कोंकणी समाज एवं कहावतें - एक सामान्य परिचय - निष्कर्ष ।

तीसरा अध्याय - हिन्दी तथा तेलुगु कहावतों में प्रतिफलित वर्णव्यवस्था एवं परिवार

91 152

भारतीय सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप - वर्णव्यवस्था - ब्राह्मण का स्वरूप - क्षत्रिय का स्वरूप - वैश्य का स्वरूप - शूद्र का स्वरूप - पेशेवर जातियाँ - सुनार चमार, नाई, धोबी, कुम्हार, - हिन्दी तथा तेलुगु कहावतों में परिवार का स्वरूप - परिवार में पुत्री का स्थान - पिता का स्वरूप - पिता-पुत्र-संबन्ध - पुत्रजन्म का उद्देश्य - पुत्रों के चरित्रविकास में पिता का योग - परिवार में दामाद का स्थान - परिवार में नारी का स्वरूप - कन्यादान - स्त्री-स्वातन्त्र्य - स्त्रियों का महत्व - पतिव्रता का स्वरूप - पति-पत्नी-संबन्ध - बहू का स्वरूप - सास-बहू-संबन्ध - माता का स्वरूप - दुश्चरित्रा नारियाँ - वेश्या का स्वरूप - निष्कर्ष

चौथा अध्याय - हिन्दी तथा तेलुगु कहावतों में प्रतिफलित धर्म 153 - 207

समाज और धर्म - जीवन में धर्म का महत्व - धर्म का क्षेत्र - हिन्दी तथा तेलुगु कहावतें और धर्म - हिन्दी तथा तेलुगु कहावतों में प्रतिफलित धर्म के विभिन्न अंग - ईश्वर का स्वरूप - ईश्वर की प्रतिष्ठा - ईश्वर-भक्ति - व्रत, अनुष्ठान तथा त्योहार - तीर्थों का महत्व - दान का महत्व - पाप - पुण्य - धार्मिक विश्वास - भाग्य कर्म का स्वरूप - पुनर्जन्म संबन्धी धारणा - दर्शन तथा लोकायत - धर्माचरण और सामाजिक संस्कार - नामकरण तथा कर्णवेध - अन्नप्राशन - उपनयन - विवाह - अन्त्येष्टि - निष्कर्ष ।

पाँचवाँ अध्याय - हिन्दी तथा तेलुगु कहावतों में प्रतिफलित नीति एवं व्यवहार

208- 252

समाज और नीति - समाज में नीति का महत्व - जीवन में सदाचरण का महत्व - हिन्दी तथा तेलुगु कहावतों में प्रतिफलित सदाचरण का स्वरूप - उपदेशों का स्वरूप - राजनीति का स्वरूप - धन का महत्व - लोकाचार और लोकनीति -

राजनीति का स्वरूप - अर्थनीति का स्वरूप - हरिजन - वर्ग की दुरावस्था - हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में प्रतिफलित व्यक्ति-व्यवहार का स्वरूप - समाज में व्यक्ति का स्वरूप - जन्मजात स्वभाव एवं उसमें सुधार - व्यक्ति का स्वार्थ एवं उसे दूर करने के उपाय - लोभीपन और उसके परिणाम - कंजूस व्यक्ति - आलसी मनुष्य - कर्मठ व्यक्ति - दुष्ट व्यक्ति - बुद्धिमान एवं बुद्धिहीन - ढोंगी एवं मक्कार - कृतघ्न व्यक्ति - मित्रता का स्वरूप - व्यावहारिक जीवन के कुछ अंग - जीवन का स्वरूप - विभिन्न अवस्थाएँ - जीवन में स्वास्थ्य का महत्व - गृहस्थ-जीवन का महत्व - काल एवं आयुष्य - निष्कर्ष ।

छठा अध्याय - उपसंहार 253-273

हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में प्रतिफलित समाज - एक मूल्यांकन

लोकमानस और कहावतें - समाज और कहावतें - समाज में कहावतों का महत्व - कहावतों के विषय - वैविध्य - हिन्दी एवं कोंकणी समाज तथा कहावतें - हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में प्रतिफलित समाज - समानताएँ और विषमताएँ - धार्मिक समानताएँ और विषमताएँ - नैतिक समानताएँ और विषमताएँ हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में प्रतिफलित समाज - भिन्नता में एकता - हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में भारतीय संस्कृति की झलक - निष्कर्ष ।

परिशिष्ट

1. सन्दर्भ - ग्रन्थ - सूची 275-285
2. शोध-प्रबन्ध में प्रयुक्त हिन्दी कहावतें 286 297
3. शोध - प्रबन्ध में प्रयुक्त कोंकणी कहावतें 298-308
4. हिन्दी तथा कोंकणी की कुछ समान कहावतें 309 321

प्राक्कथन

कोंकणी गोवा, कोंकण, महाराष्ट्र के कई प्रदेश, कर्नाटक तथा केरल में बोली जानेवाली एक भाषा है। इस भाषा का परम्परागत महत्व रहा है। पहले यह भाषा 'लिंग्वा ब्राह्मणिका', 'लिंग्वा कानरीम' या 'कानरीना', 'लिंग्वा ब्राह्मण गोआना' आदि नामों से अभिहित की जाती थी। इसकी उत्पत्ति भी गोवा में हुई थी और वास्तव में ब्राह्मण तथा गोवा के रोमन कैथोलिक के ईसाई लोग ही प्रमुखतः इसका प्रयोग करते थे। साथ ही कनारा के उत्तर प्रान्त से लेकर सावन्तवाडी के दक्षिण तथा पश्चिम प्रान्त तक की सभी जातियों के लोग कोंकणी ही बोलते हैं। राजनीतिक परिवेश की भिन्नता तथा गोवा से प्रवासित होने के कारण कोंकणी उत्तर में मालवन, कनारा के दक्षिण भाग, मंगलूर और यहाँ तक कि पश्चिमी तट में केरल में भी फैली हुई है। केरल में तेलिचेरी और कोचिन में इसे बोलनेवाले संख्या में बहुत अधिक मिलते हैं।

कोंकणी आर्य भाषा है और मराठी से भी इसे संबद्ध किया जाता है। लेकिन इसे मराठी की बोली मानना उचित नहीं है। पुरानी मराठी से ही कोंकणी का संबन्ध रहा है जो पालभाषा के निकट आती है। लेकिन आज की मराठी और कोंकणी में काफी भिन्नता रखते हैं। दोनों का मूल स्रोत संस्कृत होने पर भी दोनों भाषाओं में व्यवहृत शब्दों में भिन्नता रखते हैं। संस्कृत के संबन्ध को दृष्टि में रखकर कहा जा सकता है कि मराठी की अपेक्षा कोंकणी ही संस्कृत के अधिक निकट रहते हैं। कोंकणी की प्रमुख चार बोलियाँ हैं। वे हैं, उत्तर की कुडाली जो मराठी से प्रभावित है, मध्य की गोमन्तकी और दक्षिण की दो बोलियाँ जिन पर कन्नड़ तथा मलयालम का प्रभाव रहा है। गोमन्तकी की और भी कई उपबोलियाँ मिलती हैं जिनमें से किन्हीं पर मराठी तथा किन्हीं पर पोर्तुगीज तथा कानरीज का प्रभाव रहा है। महाराष्ट्र की कोंकणी गोमन्तकी के निकट आती है जिसमें कई मराठी शब्द मिलते हैं। उत्तर कनारा के उत्तर प्रान्त की कोंकणी अपने मूल

रूप में सुरक्षित है । जनता की कोंकणी ने कन्नड़ शब्दों को भी अपनाया है । मैसूर और पूर्व में कोंकणी और हिन्दुस्तानी का एक मिश्रित रूप मिलता है । कोचिन में बोली जानेवाली कोंकणी में संस्कृत और मलयालम के शब्द ही अधिक मिलते है ।

कोंकणी के समान हिन्दी का भी मूल स्रोत संस्कृत ही रहा है । अतः दोनों भाषाएँ कई स्थानों पर एक दूसरे से टकराती है । भाषा के क्षेत्र में ही नहीं , बल्कि सामाजिक क्षेत्र में भी इनमें समानता रही है । इसका मूल कारण यह है कि दोनों समाज एक ही भारतीय समाज के अंग है । दोनों भाषाभाषियों के आचार व्यवहार , सामाजिक संगठन , रहन सहन आदि में बहुत अधिक समानताएँ रही है और इनका आधार भारतीय सामाजिक व्यवस्था है । दोनों भाषाओं का अपना अपना लोकसाहित्य भी है । लोकसाहित्य के प्रमुख माध्यम के रूप में कहावतें उस समाज का पूरा चित्र खींचती है । दोनों भाषाओं में उपलब्ध कुछ समान कहावतों में समाज के लिए चेतावनी , उसके प्रति व्यंग्य आदि रहते है ।

कोंकण भाषाभाषियों का विशेष कर ब्राह्मणों का बड़ा ही प्राचीन इतिहास रहा है । इनका संबन्ध भारत के सबसे प्राचीन ब्राह्मण समुदायों से दिखाया जा सकता है । उत्तर भारत में मिथिला का त्रिहोत्र इनका केन्द्र माना जाता है । चिरकालीन उत्तर भारतवास के कारण इनका उत्तर भारत की संस्कृति एवं रहन सहन से घनिष्ठ संबन्ध रहा है । यही नहीं भारत की चिरपुरातन ब्राह्मण संस्कृति से इनका अटूट संबन्ध माना जा सकता है । जिस प्रकार भाषा की दृष्टि से हिन्दी और कोंकणी एक ही मूल से उत्पन्न हुई है वैसे ही सामाजिक आचार विचारों की दृष्टि से भी वे एक दूसरे से अलग नहीं कही जा सकती । दोनों के मूल में भारतीयता का अक्षय स्रोत वर्तमान है । दोनों एक ही संस्कृति से प्रेरित है और वह है भारतीय संस्कृति । हिन्दी और कोंकणी समाज का स्वरूप प्राचीन भारतीय समाज का रहा है । दोनों समाजों की आवश्यकता के मूल में भारतीय समाज की आवश्यकता एवं कर्तव्यता ही रही है । वैसे भारतीय धर्म और नीति का प्रतिफलन भी इनमें देखने को मिलता है । इसी कारण दोनों भाषाभाषियों के सामाजिक व्यवस्था में

एक हद तक समानतायें भी मिलती है । प्रस्तुत प्रबन्ध में इसी तथ्य को कहावतों के विश्लेषण के जरिये प्रस्तुत किया गया है ।

हिन्दी भाषा और साहित्य को लेकर कई अनुसंधान कार्य हो चुके है । हिन्दी तथा हिन्दीतर भाषाओं को लेकर भी कई अनुसंधानकर्ताओं ने साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है । लेकिन लोकसाहित्य का अध्ययन , विशेषकर कहावती साहित्य का अध्ययन , वह भी तुलनात्मक दृष्टि से , बहुत ही कम लोगों ने ही किया है । डा. सत्येन्द्र का 'लोकसाहित्य विज्ञान ', डा. कन्हैयालाल सहल का 'राजस्थानी कहावतें - एक अध्ययन' जैसे ग्रंथ इस दिशा में प्रमुख रहे है । इस सिलसिले में हिन्दी और कोंकणी कहावतों का अध्ययन हिन्दी अनुसंधान के क्षेत्र में एक नया प्रयोग होगा । एम. फिल. की उपाधि के लिए मैंने इस क्षेत्र में काम किया था और 'हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों का तुलनात्मक अध्ययन ' नामक विषय पर अपना लघुशोधप्रबन्ध प्रस्तुत किया था । इसी अध्ययन ने मुझे दोनों भाषाभाषियों की कहावतों में प्रतिफलित समाज के अध्ययन के लिए प्रेरित किया । इसमें सन्देह नहीं कि प्रस्तुत अध्ययन हिन्दी अनुसंधान के क्षेत्र में एक नई दिशा प्रस्तुत करेगा ।

हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में प्रतिफलित समाज के अध्ययन के लिए मैंने हिन्दी कहावतों के साथ साथ लगभग एक हजार कोंकणी कहावतों को भी संग्रहीत किया है । इनमें कोचिन में प्रयुक्त कहावतें ही अधिक रही है । मंगलूर तथा गोवा में प्रयुक्त कहावतों का भी स्थान स्थान पर प्रयोग किया है । ये कहावतें 'पंचमताय' नामक पत्रिका से प्राप्त हुई है । हिन्दी कहावतों के लिए मैंने मूल रूप से हिन्दुस्तानी कहावत कोश का ही सहारा लिया है । प्रस्तुत प्रबन्ध में दोनों भाषाओं से लगभग तीन तीन सौ कहावतों का ही विश्लेषण हो सका है । संपूर्ण सामग्री को मैंने शोधप्रबन्ध के छः अध्यायों में बांटा है जिसका विवरण नीचे दिया जा रहा है ।

प्रथम अध्याय में सामान्य रूप से भारतीय समाज का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । इसके अन्तर्गत समाज और व्यक्ति का संबन्ध , समाज की जातिव्यवस्था , परिवार , संयुक्त परिवार , विभिन्न धार्मिक विश्वास , संस्कार आदि विषयों पर विचार हुआ है ।

दूसरा अध्याय 'लोकसाहित्य और समाज ' लोकसाहित्य और सामाजिक जीवन के संबन्ध को प्रस्तुत करता है । साथ ही साथ जीवन में कहावतों का महत्व , समाज से कहावतों का

संबन्ध आदि विषयों पर प्रस्तुत अध्याय में विचार किया गया है ।

तीसरे अध्याय में हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में प्रतिफलित वर्णव्यवस्था एवं परिवार पर विचार किया गया है । इसके अन्तर्गत वर्ण और वर्णव्यवस्था , परिवार , विभिन्न पारिवारिक संबन्ध , समाज में पुरुष एवं स्त्रियों का स्थान आदि का कहावतों के माध्यम से विश्लेषण हुआ है ।

चौथे अध्याय में हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में प्रतिफलित धर्म का विश्लेषण हुआ है । इसके अन्तर्गत जीवन में धर्म का महत्व , समाज और धर्म का संबन्ध , आदि पर विचार करते हुए हिन्दी और कोंकणी कहावतों में चित्रित ईश्वर , भक्ति , व्रत अनुष्ठान, तीर्थ , दर्शन आदि का अध्ययन किया गया है ।

पाँचवें अध्याय हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में प्रतिफलित नीति एवं आचार व्यवहार से संबन्धित है । इसमें राजनीति , अर्थनीति , सदाचार आदि के साथ साथ समाज में दिखाई पड़नेवाले विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों और उनके आचरणों का विश्लेषण कहावतों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है ।

छठे अध्याय में उपसंहार के रूप में हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में प्रतिफलित समाज - का मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है । इसमें हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में पाई जानेवाली सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक समानताओं और विषमताओं को प्रस्तुत करते हुए यह निष्कर्ष निकाला गया है कि हिन्दी और कोंकणी समाज में विषमताओं की अपेक्षा समानताएँ ही अधिक है और इसका कारण यह है कि दोनों समाज मूल भारतीय समाज से ही उद्भूत है ।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का कार्यान्वयन कोचिन विश्वविद्यालय , हिन्दी विभाग की आदरणीय प्राध्यापिका डा. एन. सुशीला शर्मा के निर्देशन में हुआ है । उनका विशेष प्रोत्साहन , सहयोग एवं विद्वत्तापूर्ण सुझाव इस प्रबन्ध को प्रस्तुति में पग पग पर मुझे प्राप्त हुआ है । उनका मैं आभार मानती हूँ । विभागाध्यक्ष डा. एन. रामन नायर के प्रति भी मैं कृतज्ञता प्रकट करती हूँ जिन्होंने एक नये विषय पर शोध करने में मुझे प्रोत्साहन दिया है । इस संदर्भ में मैं उन सभी लोगों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना चाहूँगी जिन्होंने कोंकणी कहावतों के चयन में मेरी सहायता की है ।

हिन्दी विभाग,
कोचीन विश्वविद्यालय,
कोचीन 682022
7 11 1983

आशा बी. फस

पहला अध्याय

भारतीय समाज का स्वरूप

1

भारतीय समाज का स्वरूप

समाज ऐसी एक संस्था है जो मनुष्य एवं अन्य कई तत्वों को अपने में समेटकर चलती है। जिस प्रकार एक विशालकाय पीपल की शाखाएं उपशाखाएं, पत्ते, फल फूल आदि होते है और पृथ्वी पर दिखाई देनेवाले इस पेड़ का आधार मूल रूप से उसकी जड़ें ही होती है, वैसे ही समाज रूपी नींव पर व्यक्ति और उसके नीचे परिवार तथा अन्य तत्वों का निर्माण एवं भरण पोषण होता है। यद्यपि मनुष्य एक पूर्ण व्यक्ति कहा जाता है तो भी वह अपने में पूर्ण नहीं। क्योंकि वह अकेला कुछ नहीं कर सकता। समूह में जीना मानव का सहज स्वभाव है। इस प्रकार अनेक व्यक्तियों के मिलन से एक संस्था बनती है जिसे समाज कहा जाता है और बाद में यही संस्था व्यक्तियों के लिए एक व्यवस्था बनाती है। इस सामाजिक व्यवस्था का पालन करके जीवनपथ पर अग्रसर होनेवाला व्यक्ति ही 'सामाजिक व्यक्ति' कहलाता है। कहने का तात्पर्य है कि व्यक्ति से संबन्धित जानकारी प्राप्त करने के लिए पहले पहल उस समाज की परख करनी है जिसमें रहकर वह व्यक्ति अपने चरित्र का विकास कर पाता है। तब प्रश्न उठता है, आखिर समाज क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देना तो आसान बात नहीं है। समाज एक छोटा सा शब्द है, फिर भी उसके अंग प्रत्यंग का विश्लेषण करना उतना ही कठिन है जितना सागर में उठनेवाली तरंगों को गिनने का प्रयास करना। अर्थात् समाज तो ऐसी एक केन्द्रीय सत्ता है जिसके कई छोटे मोटे विभाग होते है। अतः समाज को पूर्णतः समझने के लिए पहले इन विभागों का विश्लेषण करना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में समाज के स्वरूप के संबन्ध में कुछ बताने के पहले 'समाज' शब्द का अर्थ, सामाजिक आदर्शों के विभिन्न रूप तथा उसके निर्धारक तत्व, सामाजिक वर्गीकरण, व्यक्ति और समाज का संबन्ध, समाज में परिवार, धर्म, संस्कार आदि का महत्व, इन सभी तथ्यों का विशेष अध्ययन करना है।

समाज शब्द का अर्थ

गति और क्षेपण - प्रेरण अर्थ को द्योतित करनेवाली 'अज्' धातु के साथ सम्यक अर्थ का प्रतिपादक 'सम्' उपसर्ग के जोड़ने से 'समाज' शब्द निकलता है। अर्थात् समाज का अर्थ है - 'अच्छी तरह से रहना'। अतः समाज शब्द की व्युत्पत्ति यों बताई गई है -- 'सम्यक् अजन्ति गच्छन्ति जनाः अस्मिन् इति समाजः'।[1] जिसमें सभी लोग अच्छी तरह रहें वह समाज है। दूसरे शब्दों में यों कहिए - समाज वही होता है जहाँ लोग एक दूसरे की सहायता, उपकार करते हुए सभी की कल्याणकामना करते हुए, समष्टिभावनाओं से प्रभावित होकर रहते हैं। यहाँ हर व्यक्ति व्यक्ति के बीच विरोध या झगड़े को स्थान नहीं है। समाज ऐसा एक संगठन होता है जिसमें मनुष्यों का एक समूह होता है, एक तरह का पारस्परिक संबन्ध रहता है, मानवीय चरित्र का विकास होता है और एक प्रकार की व्यवस्था भी होती है। अतः आर् एम. मेकाइवर और चार्ल्स का मत अनुचित नहीं है --
"Society is a system of uses and precedures of opority and mutual aid of many groupings and divisions of condoles of human behaviour and literature.2

समाज केवल एक ही प्रकार के व्यक्तियों का समूह नहीं है। यहाँ कई स्तर के लोग रहते हैं जो भिन्न स्वभाव के होते हैं, फिर भी एक दूसरे से किसी न किसी रूप में संबन्धित रहते हैं। यहाँ भिन्न जाति के और भिन्न देशों के लोग रहते हैं जिनमें पुरुष, स्त्री, बच्चे आदि भिन्न वर्गों को देखा जा सकता है। लेकिन वे सब अपने भावों और सांस्कृतिक विचार - धाराओं को स्वतन्त्रता के साथ व्यक्त कर सकते हैं। यही समाज की विशेषता है। अर्थात् एक ही समाज में विविध प्रकार के धार्मिक एवं सांस्कृतिक भावनाओं को लेकर अपनी अपनी जाति को कायम रखने के लिए प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है। रयूटर ने ठीक ही कहा है --
A Society is a permanent and continuing grouping of men, women and children ,able to carry on independently the proce of racial perpetuation and maintenance on thier own cultural level.[3]

---

1. भारतीय समाज का स्वरूप -- डा. सीताराम व्यास शा., पृ. 76
2. Society - R.M. Mackaiver and Charles . p.5
3. " " " p. 5

प्रसिद्ध समाजशास्त्री गिन्सबर्ग ने समाज के संबन्ध में यों लिखा है ---
A society is a collection of individuals united by certain relations or modes of behaviour which mark them from others who do not enter into these relations or who differ from them in behaviour.[1]

कहने का अर्थ यह है कि समाज तो ऐसे व्यक्तियों का संगठन है जिनके संबन्धों तथा आचार व्यवहारों में समानता हो और वे उन व्यक्तियों से भिन्न है जिनके संबन्ध और आचार व्यवहार भी भिन्न है । इस दृष्टि से देखें तो 'समाज' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है ।

समाज और व्यक्ति का अन्तः संबन्ध

ऐसे व्यापक समाज में भी व्यक्ति का बड़ा महत्व रहता है । क्योंकि समाज का निर्माण ही व्यक्तियों से होता है । मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा जाता है । यहाँ प्रश्न यह उठता है कि समाज और मनुष्य में इतना अटल संबन्ध कौन सा है कि उसे सामाजिक कहा जाय । पहले ही कहा जा चुका है कि स्वतन्त्र रूप से अपनी जाति, अपना धर्म, संस्कार तथा आचार व्यवहार को कायम रखनेवाले व्यक्तियों का समूह ही समाज है । एक व्यक्ति के मन में जो विचार उठे उन्हें दूसरों के सामने व्यक्त किए बिना उसकी मौलिक तसल्ली नहीं हो पाती । इसी कारण व्यक्ति को एक दूसरे से मिलना है और इसी प्रकार से सामाजिक मिलनसारी पड़ती है । व्यक्ति अपने में पूर्ण नहीं है । उसे पूरक तत्व की खोज करनी पड़ती है । किसी और व्यक्ति से मिलकर वह अपनी पूर्णता का परिष्कार करता रहता है । इसलिए समाज जैसे संयुक्त संगठन में ही व्यक्ति का सर्वांगीण विकास संभव होता है । इस प्रकार समाज का मूलाधार व्यक्तियों का पारस्परिक संपर्क तथा संबन्ध है, जो अन्योन्याश्रयत्व या अन्योन्य सौख्यत्व के रूप में होता है ।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैकाइवर का भी यही मत है कि समाज व्यक्तियों के अन्तः संबन्धों की उपज है और समाज और व्यक्ति के बीच में अटल संबन्ध रहना अस्वाभाविक नहीं है ।

---

1. मध्ययुगीन कृष्णकाव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति - हरगुलाल - पृ.4

साथ ही यह समाज इन्हीं अन्तःसंबन्धों की जटिल व्यवस्था ही है उन्होंने अपने 'सोशियोलाजी' नामक ग्रंथ में लिखा है -- " The term society refers not to a group of people , but to the complete pattern of the norms of interaction that rise among and between them." [1]

वास्तव में सामाजिकता मानवता का अविभाज्य अंग है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति जन्म से ही समाज का स्वतः सदस्य होता है । अर्थात् व्यक्ति का जिस समाज में जन्म होता है उसे उसी समाज की व्यवस्थाओं में बन्धा हुआ रहना पड़ता है । ऐसा करना उसके लिए अनिवार्य भी है । इस प्रकार एक समाज विशेष का सदस्य बनने तथा एक दूसरे पर निर्भर रहने के कारण पारस्परिक सहयोग का क्रम दिन प्रतिदिन अपेक्षित होकर विकसित होता जा रहा है और यह अनेक समुदायों से बढ़कर आज के 'विश्वसमाज' तक पहुँच गया है ।

समाज और मनुष्य के पारस्परिक संबन्ध की ओर भी स्पष्ट करते हुए योरोपीय समाजशास्त्रियों का कहना है कि मनुष्य समाज की उपज , यानी समाज का बच्चा है । इसी कारण समाज के बिना वह रह ही नहीं सकता । इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य ने ही समाज तथा उसके छोटे समुदायों की रचना की है और इस रचना के पीछे कुछ उद्देश्य अवश्य रहते हैं ।

वस्तुतः मनुष्य की यह आदत रही है कि वह जहाँ भी रहे वहीं एक नया समाज बना लेता है । अतः इसे आरंभ करके यह क्रमशः परिवार , गाँव , नगर , राज्य संसार आदि सबसे सम्मिलित होकर युक्त समाज के निर्माण का आग्रही रहता है । इसका कारण यही है कि इन संबन्ध सूत्रों को स्थापित किये बिना व्यापक स्तर पर उसका हित साधन संभव नहीं । दूसरे शब्दों में , मनुष्य सदा एक समूह बनाकर रहना चाहता है और इसलिए वह जब कभी किसी एक समाज से अपने को मुक्त कर लेता है तो उसके मन में एक नये समाज

---

1. Sociology - Lapier p.9

को) उसका बनने की इच्छा बनी रहती है, चाहे वह समाज अपने धर्म, संस्कार, आचार व्यवहार आदि में भिन्नता क्यों न रखता हो। वह उस नये समाज में स्वयं अपने को मिला देने का प्रयास करता है। विख्यात अमेरिकन समाजशास्त्री आर. एम. मैकाइवर का मत इस बात की ओर भी स्पष्ट कर देता है।[1]

मनुष्य के इस प्रकार का स्वभाव मात्र समाज और व्यक्ति के संबन्ध को ही नहीं और दु सम स्वरूप को भी स्पष्ट कर देता है। मनुष्यों के जीवन में व्यक्तियों के साथ मानवीय संबन्धों का जाल सा बिछा हुआ है, समाजशास्त्र में उसी को समाज कहा जाता है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज के बीच का संबन्ध बहुत ही जटिल है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मनुष्य समाज की सारी व्यवस्थाओं तथा विधानों का पूर्णतः पालन करे। लेकिन इसका यह भी अर्थ नहीं लिया जाता कि समाज में रहकर सामाजिक शर्तों का उल्लंघन किया जाय। दोनों में एक प्रकार का सामंजस्य होना चाहिए। अर्थात् व्यक्ति को समाज में रहने या न रहने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। साथ ही समाज के लिए यह भी आवश्यक है कि समाज एक सरल एवं हितकारी शर्त का विधान करे जिसका पालन करते हुए प्रत्येक व्यक्ति सुख का अनुभव करे। ऐसे समाज में रहते हुए व्यक्ति के मन में यह भावना उत्पन्न हो जाय कि समाज उसका हितैषी है। दूसरे शब्दों में यों कहिए, व्यक्ति और समाज का संबन्ध स्वेच्छा का है। अर्थात् समाज में रहकर उसके नियमों का पालन करना ही व्यक्ति के लिए उचित है, किन्तु जब व्यक्ति को यह समझ आ जाय कि प्रत्येक नियम भी उसके लिए हितकारी नहीं है तो उस समाज की उपेक्षा करने का अधिकार उस व्यक्ति को प्राप्त है। लेकिन समाज के लिए यह अधिकार नहीं है कि वह अपने नियमों को व्यक्तियों पर बलपूर्वक थोप दे और उसी समाज में रहने के लिए व्यक्ति को मजबूर बना दे।

---

1. "... No man is free of the need of society. When the hermit leaves the society of men he imagines he can find another society in communion with God or with 'nature' or he is driven by some obsession to a kind of self-punishment. If he is not mad at the outset he becomes so in the end. For normal humanity must have social relationships to make life livable.

--Society p.57

संक्षेपतः यह कह सकते हैं कि समाज और व्यक्ति का अंतः संबन्ध बहुत ही जटिल होने के साथ ही बहुत ही शिथिल भी है । मनुष्य समाज की शर्तों का अनुसरण कर सकता है और यदि वे उसके लिए विरुद्ध हो जाये तो वह उनका उल्लंघन करके समाज को ही छोड़ सकता है । अर्थात् समाज के किसी भी सदस्य को समाज से बाहर जाने से कोई बाधा नहीं हो सकती ।। धर्मग्रन्थों में हिन्दू समाज की व्यवस्था के संबन्ध में बताया गया है कि हिन्दू समाज में सबको अपने विचार एवं आचरण में स्वतंत्रता है और इसमें शर्त यह है कि जो व्यवहार कोई अपने लिए पसन्द करता है वैसा ही व्यवहार वह दूसरे के प्रति भी रखे । अतएव शास्त्रवचन है --
'श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् । आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ' ।।
इसका अर्थ है कि पूर्ण धर्म का यह सार है । इसको सुनो । धारण करो । जो अपने लिए प्रतिकूल है वह दूसरों के प्रति व्यवहार में न लाओ ।। यह सिद्धान्त समाज में रहने या समाज से निकलने में पथप्रदर्शक है । अर्थात् व्यक्ति को एक दूसरे की तथा समाज को व्यक्ति की स्वेच्छाचारिता पर प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार नहीं रहेगा । क्योंकि समाज व्यक्तियों से बनाये हैं , न कि समाज ने व्यक्ति को बनाया है ।

सामाजिक संगठन का स्वरूप

सामाजिक संगठन किस प्रकार का है और विभिन्न समाजों के निर्माण में क्या एक ही तत्व मूल में अन्तर्निहित है और क्यों ये संगठन व्यवहार में आ जाते हैं ? सामाजिक संगठन से संबन्धित अध्ययन के अवसर पर ऐसे प्रश्न हमारे सामने उठ खड़े होते हैं । यह स्वाभाविक ही है । निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सामाजिक संगठन तो स्वतः व्यक्तियों के पारस्परिक संबन्धों को व्यवस्थित तथा चिरस्थायी बनाने के लिए ही होता है । सभी तो सभी देशों के सामाजिक संगठन एक ही नहीं होते । उनके मूल में भिन्नता अवश्य होती है । सामाजिक संगठन में कोई न कोई तत्व अन्तर्निहित रहता है और इसी तत्व पर विचार करने से सामाजिक संगठन के स्वरूप को पहचाना जा सकता है ।

किसी भी समाज का अपना एक सिद्धान्त, जीवन दर्शन और उस दर्शन पर आधारित जीवन संबन्धी विचार होते हैं और लौकिक एवं पारलौकिक सत्य भी इन्हीं के मूल में है। जैसा कि डा. राधाकृष्णन ने बताया है -- सामाजिक संगठन को परखने के लिए प्रमुख रूप से उस समाज में प्रचलित तात्त्विक विचार, जीवन दर्शन आदि को परखना चाहिए।[1]

भारतीय समाज

दूसरे समाजों की तरह भारतीय समाज की भी अपनी एक व्यवस्था है। इसके संगठन में प्रमुखतः दो प्रधान तत्वों को आधार बना लिया है। लौकिक और पारलौकिक। भारत अपनी आध्यात्मिकता के लिए बहुत मशहूर है और सभी भारतीय उस आध्यात्मिकता की ओर अधिक झुके हैं। फिर भी वे अपने भौतिक चिन्तन की रक्षा के लिए उपेक्षा नहीं करते।

सामाजिक आदर्शों के विभिन्न रूप

मनुष्य के चारित्रिक निर्माण में समाज का ही बहुत बड़ा योगदान है। जैसा समाज वैसा व्यक्ति। अर्थात् यदि समाज का कोई आदर्श न हो तो उस समाज में जीनेवाले व्यक्ति कैसे आदर्शवान बन सकेंगे? आदर्शहीन समाज में यह तो कभी संभव ही नहीं है। अतएव समाज में आदर्शों का होना जरूरी है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि सामाजिक आदर्श क्या है? उनका पालन कैसे हो? समाज तो व्यक्तियों से ही बनता है। अतः पहले व्यक्ति आदर्शवान हो, तभी उसके सामाजिक जीवन में निरन्तर प्रगतिशीलता रहेगी। दूसरे शब्दों में आदर्शहीन होने से मनुष्य में अपनी लक्ष्यप्राप्ति की चिन्ता नहीं रहती और इस तरह वह क्रमशः क्रमशः अकर्मण्य बनते हुए अपने जीवन को सार्थक बना देने में असमर्थ रहता है, प्रगतिहीन रह जाता है।

भारतीय समाज में आदर्शों पर जितना जोर दिया जाता है उतना दूसरे देशों के समाजों में नहीं। कारण तो स्पष्ट है। अध्यात्मवाद से प्रभावित भारतीय समाज में मोक्ष को ही साधना की अन्यतम परिणति माना गया है और भारतीयों के सामाजिक जीवन का यही महत्त्व

---

1. समाज और धर्म - डा. राधाकृष्णन पृ. 86

आदर्श भी है । मोक्षप्राप्ति के लिए व्यक्ति को अपने जीवन में आदर्शवान बनना पड़ता है । अपने जीवन को कैसे आदर्शपूर्ण बनाया जा सकता है और इन आदर्शों का रूप कौन सा है , इस पर भारतीय समाज ने व्यक्ति के सामने विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है ।

सामाजिक आदर्श के विभिन्न रूप हो सकते हैं । बड़ों का आदर करना , मातृधर्म , पुत्रधर्म , पत्नीधर्म , भ्रातृधर्म आदि । व्यक्ति को एक दूसरे से आदर का भाव रखना चाहिए विशेषतः अपने से बड़े लोगों के साथ ।। समाज में माता पिता एवं आचार्य का महत्वपूर्ण स्थान है । 'मातृदेवो भव' , पितृदेवो भव' , 'आचार्य देवो भव' , इसका प्रमाण है । फिर भी माता को ही अत्यन्त महत्व दिया जाता है । क्योंकि वह ही व्यक्ति को जन्म देनेवाली होती है । मातृपद से भी ऊँचा कुछ नहीं है । माता के आशीर्वाद के बिना व्यक्ति जीवन में सफलता नहीं पा सकता । माँ अपने बच्चों की भलाई ही चाहती है और वह अपने बच्चों पर आई विपत्ति को स्वयं झेलने के लिए तैयार होती है ।

समाज में माता का इतना ऊँचा स्थान इसलिए है कि देश के प्रत्येक नागरिक के जीवन की लगाम उसीके हाथ में रहती है । माँ जिस प्रकार अपने बच्चों के जीवननिर्माण पर ध्यान देती है वैसा और कोई नहीं देता । बच्चा दूसरों की नजर में कितना भी बुरा हो , माता के लिए वह लाड़ला रहता है और अपने बच्चे को उन्नत बनाये रखने के लिए वह दूसरों के सामने बच्चे की बुरी करतूत नहीं प्रकट करती । विभिन्न भाषाओं की कहावतों से समाज में माता का यह महत्वपूर्ण स्थान स्पष्ट हो जाता है ।

भारतीय समाज में आदर्श मातृधर्म से युक्त ऐसी माताओं की निष्ठा तथा पुत्रधर्म का एक अविच्छिन्न अंग मानी जाती है । ऐसे देवव्रती बेटों से ही समाज की भी प्रगति हो सकती है । ऐसे समाज की सब कहीं प्रशंसा भी होती है । माता के जैसे पिता की सेवा करना भी पुत्र का परम धर्म है । क्योंकि माता के समान न तो कोई देवता है और पिता के सदृश न कोई गुरु ही होता है । अतः कहा गया है -- 'नास्ति मातृसमं दैवं नास्ति पितृसमो गुरुः' यही बात महाभारत में और एक ढंग से बताई गई है -- 'सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमयः पिता ' माँ का आशीर्वाद सभी तीर्थों से बढ़कर है । पिता का अनुग्रह सभी देवों का अनुग्रह है ।

माता पिता के साथ ही मनुष्य को अपने आचार्य का भी सम्मान करना चाहिए । ये तीनों मानव के लिए ईश्वरतुल्य हैं । उपनिषद्काल से ही इस आदर्श पर बल दिया गया है । मनुष्य को अपने से बड़े भाइयों , बहनों एवं रिश्तेदारों का आदर करना चाहिए । भाइयों के

प्रेमपूर्ण व्यवहार का बहुत अच्छा प्रभाव समाज पर अवश्य पड़ता है। भाइयों को एक दूसरे से ईर्ष्यापूर्ण व्यवहार नहीं करना चाहिए। एक दूसरे का बहुत अधिक साथ देनेवाले भाइयों का समाज में महत्वपूर्ण स्थान है और यही परिवार को सफल बनाता है। प्राचीन के इस कुटुम्बात्मक आदर्श को लक्ष्य करके कहावतें चलती है। इन सभी कहावतों में भारतीय परिवार का आदर्श ही प्रतिफलित हुआ है।

समाज में बड़े लोगों का अपमान करना निन्दनीय है। मनु ने भी इस तथ्य पर बल दिया है।[1] महाभारत में भी इसके कई दृष्टान्त मिलते है। अतः बड़े व्यक्तियों का अनुकरण करते हुए व्यक्ति को जीना चाहिए जिससे उसे अपने जीवन में सफलता मिलती है। संक्षेप में अपने जीवन की सफलता के लिए उसे बड़ों का आदर करना चाहिए। बड़ों के वचन के अनुसार चलना चाहिए। कहने का अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति के शील और अनुशासन की भावना को विकसित करने में एक दूसरे के प्रति दिखाए जानेवाले आदरभाव तथा स्नेहपूर्ण व्यवहार का योग बहुत हो जाता है। इसलिए एक आदर्श समाज के निर्माण के लिए सामाजिक प्राणी कहे जानेवाले मनुष्य को सतत सामाजिक मर्यादा का ध्यान रखना बहुत जरूरी है। इसी कारण कहा जाता है कि बचपन से ही बच्चों को, जो कालान्तर में प्रत्येक समाज का निर्देशक बननेवाला है, सामाजिक मर्यादा तथा अन्य सद्गुणों की शिक्षा दी जानी चाहिए। नहीं तो बड़े होने पर वे अपने समाज को कुत्सित कुकर्मों की ओर झुकेंगे। इस प्रकार व्यक्ति के चरित्रनिर्माण में बचपन से ही अंकुश रखना चाहिए।

सामाजिक आदर्श के निर्वाहन में कई तत्व अन्तर्निहित है। अर्थात् सामाजिक आदर्शों को बनाये रखने में सत्य, त्याग, दान, परोपकार जैसे तत्वों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। इन तत्वों में सत्य का महत्वपूर्ण स्थान है। यही समाज का शाश्वत आधार है जिसकी कभी भी पराजय नहीं होती। तभी तो कहा गया है -- 'सत्यमेव जयते'। यह कथन तो अनेक

---

1. मनुस्मृति - अ. 2 (पांच स्मृतियाँ)

सामाजिक घटनाओं एवं तज्जन्य अनुभवों के आधार पर ही सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है ।

सामाजिक आदर्शों में धर्म का एक अलग स्थान है जिसके दृष्टान्त हमें वेदों, पुराणों एवं स्मृतियों में मिलते हैं। 'सत्यं वद', 'धर्मं चर', इसी की पुष्टि करते हैं। सामाजिक जीवन से भी बढ़कर व्यक्तिगत जीवन में धर्म का अन्यतम स्थान है और व्यक्ति को सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान करने का मापदंड भी यही है। कहने का मतलब है कि धर्मचारी को चाहे अपनी जीवनयात्रा में कितनी ही प्रतारणाओं को झेलना पड़े अन्त में उसकी ही जीत होती है ।

धर्मचारियों की तरह त्यागियों का भी समाज में सम्मान होता है। त्याग मानव को महान तथा मानव से होकर समाज के अनुरूप बना देता है। एक दूसरे की भलाई के लिए तन मन धन से मनुष्य को परिश्रम करना चाहिए। मनुष्य में सर्वस्व के भाव को अपने जीवन में अपनाना चाहिए जो सामाजिक सम्बन्धों को सुदृढ़ रखने में सफल होता है। क्योंकि त्याग मनुष्य के स्वार्थपूर्ण कूप से बाहर निकाल कर बाह्य समाज के सुख दुःखों से अवगत कराता है और साथ ही उन सुख दुःखों में अपने को मिलाकर संबन्ध भी स्थापित करा लेता है।

दूसरों की भलाई के लिए भी अपने ही जीवन को अर्पित करने के लिए तैयार होना मनुष्य का कर्तव्य है और इस प्रकार के व्यक्तियों से समाज के आदर्श रूप में भी सफलता होती है। इसी कारण शिबि जैसे राजाओं की त्याग की भावना आज तक स्मरण करने योग्य है। उपनिषदों और दर्शनशास्त्रों में भी त्याग की ओर संकेत किया गया है। कैवल्योपनिषद् में कहा गया है कि त्याग ही ऐसा एक मार्ग है जिसका अवलम्बन करके मानव अमृतत्व की ओर प्राप्ति कर पाता है।[1] महर्षि व्यास ने लिखा है कि मनुष्य में सर्वस्व का भाव उत्पन्न होने से ही वह ब्रह्मज्ञान के प्रति जिज्ञासावान होता है -- 'मनुष्य में ब्रह्मज्ञान के प्रति तभी जिज्ञासा उत्पन्न होगी जब वह संसार की सभी वस्तुओं को अनुभव के आधार पर समझकर भोग का त्याग करेगा।[2] वेदान्तदर्शन में भी त्याग को ही ब्रह्मजिज्ञासा का कारण बताया गया है

---

1. त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः -- कैवल्योपनिषद् - 108 उपनिषदें - ब्रह्मविद्या खण्ड पृ 42
2. वेदान्त दर्शन - महर्षि व्यास पृ 33

संक्षेपतः कहा जा सकता है कि दूसरों के लिए अपना सब कुछ समर्पित करने की भावना जितनी ही मनुष्य में रहती है उतना ही उसके मनुष्यत्व का सम्यक् विकास हो सकता है। अतः समाज के कल्याण के लिए अपने को अर्पित कर देना मानव जीवन का परम धर्म माना जाता है।

त्याग के साथ ही साथ मनुष्य को परोपकारी भी बनना चाहिए। मानव और मानवसमाज की महत्ता परोपकार के द्वारा स्वार्थ की धारा से मुक्त होकर परार्थ के व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित होने में ही निहित है। मनुष्य और पशु में केवल इतना ही अन्तर रहता है कि मनुष्य मात्र को अपने जीवन की समस्याओं का हल करने का ज्ञान ही नहीं, अपितु दूसरों की समस्याओं पर भी विचार करने की क्षमता है। यदि मनुष्य भी पशुओं की तरह केवल अपनी उदरपूर्ति की चिन्ता में व्यस्त हो तो समाज में उसकी उच्चता नहीं रहेगी और वह मनुष्य कहलाने योग्य भी नहीं रहेगा। स्मृतियों में भी इस ओर भी संकेत किया गया है।

म्रियन्ते किं न जीवन्ति स्वात्मार्थं परस्परम्
परलोकहितार्थेन यो जीवति स जीवति ।।
काकोऽपि हि जीवन्ति केवलात्मोदरम्भराः
किं तत्वेन कुत्सेन जीवता चिरजीविना ।।

मनुष्य का दानशील होना भी उसके आदर्श होने का द्योतक तत्त्व है। दानशील व्यक्तियों का समाज में उच्च स्थान होता है। वैदिककाल से ही दानशीलता और उसके महत्त्व पर संकेत मिलता है। यह तो सामाजिक सन्तुलन का भी एक प्रमुख द्योतक तत्त्व है। क्योंकि धनी लोगों के द्वारा दान स्वीकार कर लेने पर निर्धनों की गरीबी भी कहीं एक प्रकार से मिट सकती है। अर्थात् निर्धन लोग भी अपनी जीविका चलाने में समर्थ होते हैं।

वैदिक साहित्य में याज्ञिकों के दान देने के कई दृष्टान्त मिलते हैं। पुराणों में भी कई दानशील व्यक्तियों का उल्लेख किया गया है।। महाभारत का कर्ण, दानशील व्यक्तियों में अग्रगण्य है। वह मात्र धन दान को ही नहीं, अपितु अपनी जान को भी दान देने को तैयार था या यों कहिए, दान करना उसका व्रत हो था। इसीलिए जब इन्द्र ने जब

ब्राह्मण का रूप धारण करके उससे उसके कवच और कुण्डलों का दान माँगा तो कर्ण ने बिना किसी हिचक के दान किया था, यह जानते हुए भी इन कवच और कुण्डलों के न रहने से युद्ध में उसकी हार होगी। ऐसी पौराणिक प्रसंग के आधार पर कहानियाँ चल पड़ी है। ये कहानियाँ दानवीरता एवं दानप्रवृत्तियों के महत्व को अभिव्यक्त करती है और समाज की आनेवाली पीढ़ी को दान का महत्व समझा देती है।

वस्तुतः सामाजिक आदर्श के कई रूप और उसके कई निर्धारक तत्व भी होते है। इन तत्वों पर ही किसी एक समाज आदर्श या आदर्शरहित कहा जायगा। सामाजिक संगठन के मूल में जो व्यक्ति है उसी में इन आदर्श तत्वों का होना जरूरी है। व्यक्तियों द्वारा इन तत्वों का पालन होने से ही संपूर्ण समाज में आदर्श बना रहेगा।

सामाजिक वर्गीकरण

मनुष्य का आचरण तो जैविक उत्तराधिकार का विरासत नहीं है, लेकिन वह तो सामाजिक समूहों के संपर्क से प्रभावित होकर हो जाता है। अर्थात् मनुष्य का व्यक्तित्वगठन समाज से ही होता है। न कि अपने उत्तराधिकार से। समाज में मात्र एक ही प्रकार का आचरण करनेवाले बहुत कम है। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि समाज में कई वर्गजातियों, कई रूप एवं स्वभाववाले तरह तरह के काम करनेवाले एवं भिन्न रीति रिवाज के लोग मिलेंगे। बाह्य रूप से इनमें दिखाई पड़नेवाले तत्वों के आधार पर सामाजिक प्राणियों का वर्गीकरण किया गया है। यह वर्गीकरण मुख्यतः वर्ण एवं पेशे के आधार पर हुआ है।

वर्णव्यवस्था

वर्णव्यवस्था के संबन्ध में विचार करने के पहले यह जानना आवश्यक है कि 'वर्ण' शब्द का क्या अर्थ है। 'वृणोति इति वर्णः', जिसके द्वारा वरण किया जाय अथवा निर्धारित किया जाय वही वर्ण है। सर्वतंत्र सिद्धान्त पदार्थ लक्षण संग्रह में वर्ण की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है -- 'ब्राह्मणत्वादि जातिबोधिका आकृतिः वर्णः' तथा 'रूपस्य स्फुटावस्था वर्णः'। प्रायः वर्ण शब्द का संबन्ध रंग से है। इसके तीन प्रचलित अर्थ है -- रंग चयन और सामाजिक वर्ग।

'वर्ण' शब्द भारतीय समाजशास्त्र के प्राचीन शब्दों में से है। क्योंकि भारतीय समाज का वर्गीकरण पहले वर्ण के आधार पर ही हुआ था। एक ही रंगवाले लोगों को दूसरे रंगवाले लोगों से पृथक रखने के लिए प्राचीन समाज शास्त्रियों ने रंग के आधार पर वर्गीकरण करना चाहा जिसके फलस्वरूप भारतीय समाज को पहले पहल चार वर्णों में विभक्त किया गया। ये चार वर्ण हैं -- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इन चारों वर्णों के रंग भी अलग थे, क्रमशः सफेद, लाल, पीला और काला। प्रसिद्ध समाजशास्त्री सेनार्ट ने भारतीय समाज का मुख्यतः दो वर्णों में विभाजन किया है जैसे आर्यवर्ण और दासवर्ण।[1] डा. जी.एस.घुर्ये ने आर्यवर्ण का रंग सफेद और दासवर्ण का काला बताया है।[2] जे.एच.हट्टन ने भी वर्ण का अर्थ रंग माना जिसके आधार पर उन्होंने भारतीय समाज को चार वर्णों में विभाजित किया है। उनके अनुसार श्वेत रंगवाले ब्राह्मण, लाल रंगवाले क्षत्रिय, पीले रंगवाले वैश्य और काले रंगवाले शूद्र कहे जा सकते हैं।[3]

अतिप्राचीन काल से ही वर्णव्यवस्था भारतीय समाज में प्रचलित है। लेकिन यह वर्ण-व्यवस्था किस काल में प्रारंभ हुई थी? क्या पहले से ही ये चारों वर्ण प्रचलित थे? इस प्रकार के वर्णविभाजन का क्या आधार है? सम्यक् अध्ययन एवं विवेचन से ज्ञात पड़ता है कि पूर्ववर्ती वैदिक काल में चारों वर्णों का स्पष्टतः विभाजन नहीं हुआ था। उस समय मात्र दो वर्ण ही प्रचलित थे। आर्य और दास। किन्तु उत्तर वैदिक काल के ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णभेद का स्पष्ट चित्रण मिलता है। शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मणों में ही इनका अधिक प्रयोग हुआ है। फिर भी यदि प्राचीनता की दृष्टि से देखा जाय तो सर्वप्रथम ऋग्वेद में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है। ~~यह पंचम वर्ण तो निषाद है।~~ ऋग्वेद के एक मन्त्र में पाँच वर्णों का उल्लेख मिलता है और यह पंचम वर्ण तो निषाद है।[4]

---

1. Caste in India-Senart p. 153
2. Caste and class in India -G.S.Ghuryae. p.40
3. Caste in India - J.H.Hutton, p.64

"Of all the differences between the races of men, the colour skin is the most conspicuous and one of the best marked.

--The Descend of Man- Mr. Darwin p.223

4. भारतीय समाज का स्वरूप - डा. सीताराम झा 'श्याम' - पृ7

तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है --'ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रं राजन्यः'। मनु ने जो कहा है कि संसार के संवर्द्धन और उसकी भलाई के लिए ही ईश्वर ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सृष्टि की है।

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥[1]

निषाद के साथ ही कहीं कहीं एक अलग वर्ण के रूप में 'म्लेच्छ' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। लेकिन म्लेच्छ तो कोई पृथक वर्ण नहीं है। महाभारत के अनुसार म्लेच्छ वैसे लोगों का वाचक है जो अपशब्द यानी अशिष्ट बोलते हैं। बाद में इस शब्द को वर्णबहिष्कृत हुए और अशिष्ट आचार करनेवाले सभी को म्लेच्छों के अन्तर्गत रखा गया। शुक्रनीति में म्लेच्छों को शूद्र से भी नीचा माना गया है।

इन के अतिरिक्त अन्य तत्वों के आधार पर भी वर्णविभाजन हुआ है। वर्णव्यवस्था में व्यक्ति के गुणों की ओर भी ध्यान दिया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में बताया गया है कि पूर्वजन्म के कर्म के अनुसार ही मनुष्य का वर्ण आकृत है।[2] भगवद्गीता में भी गुणों एवं कर्म को ही वर्णव्यवस्था का प्रमुख आधार माना है। 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः'[3] भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं --'मैंने चारों वर्णों की सृष्टि पूर्वजन्म के गुणों एवं कर्मों के आधार पर की है'।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी वर्णव्यवस्था के मूल में कर्म को ही महत्व दिया है। उनके अनुसार जन्म नहीं कर्म ही यह निश्चित करता है कि किसे व्यक्ति को किस वर्ण में रखा जाय। महात्मा भृगु ने बतलाया है कि पहले संपूर्ण संसार ब्राह्मणमय था और पीछे कर्मभेद के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की संरचना हुई। महाभारत का भी यही मत है।[4] यहाँ भी बताया गया है कि ब्राह्मण ने ही कर्मानुसार अन्य तीन वर्णों की संरचना की है। कहने का अर्थ है कि व्यक्ति का स्वभाव भी वर्ण का निर्धारक तत्व है और स्वभाव तथा गुणानुकूल ही

---

1. मनुस्मृति अ. 1 श्लो 31
2. भारतीय समाज का स्वरूप - पृ 7
3. भगवद्गीता अ. 4 श्लो. 13
4. संसृष्टा ब्राह्मणैरेव मिथु वर्णेषु सृष्टयः - महाभारत, शांतिपर्व

आचरण होता तथा आचरण के अनुसार वर्ण का निर्धारण हो। क्योंकि अच्छे आचरण से कोई भी उच्च वर्ण का हो जाता है, चाहे उसका रंग उच्च वर्ण का क्यों न हो। किन्तु इसके विरुद्ध जब कोई दुराचार से च्युत हो गिर जाता है तो उस व्यक्ति का उच्च वर्ण के रंग का होते हुए भी नीचवर्ण का होना संभव है। तभी तो कहा जाता है -- 'जन्मना जायते शूद्रः कर्मणा जायते द्विजः'।

वस्तुतः वर्णविभाजन का मूलाधार कर्म है और बाद में ही रंग आता है। वर्ण ही इसका आधारक बनता है। वर्ण तो सामाजिक व्यवस्था का सूचक है। यहीं नहीं वर्णधर्म और वर्णव्यवस्था एक दूसरे से संबन्धित हैं। क्योंकि वर्णव्यवस्था वर्णितता के लिए आवश्यक है जिससे उसकी भावना बनी रहती है। वर्णधर्म उस भावना का प्रकट रूप होती है। यहीं पर डा. राधाकृष्णन का कथन उल्लेखनीय है -- 'वर्णव्यवस्था संपूर्ण मानवजाति पर लागू करने के लिए है।'[1]

सामाजिक प्रतिष्ठा और कार्यात्मक योग्यता के आधार पर चारों वर्णों का क्रम निर्धारित किया जा सकता है। अर्थात् समाज में जिस वर्ण को अपने आचरण से उन्नत स्थान प्राप्त है तथा जिस प्रकार के कर्म को कौन सा वर्ण अधिक कुशलता से संपादित कर सकता है इसी क्रम के अनुसार प्रत्येक वर्ण का स्थान हो जायगा।

ब्राह्मण

इस दृष्टि से देखा जाय तो प्रथम वर्ण में ब्राह्मण ही आते हैं। इसके अनेक कारण हैं। वैदिक काल से ही माना गया है कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुँह से निकले हैं। महाभारत में इस संबन्ध में कहा गया है कि सबसे पहले ब्राह्मणों की ही सृष्टि हुई थी और बाद में ही दूसरों की। 'निरस्यावयाः वर्ण एव पुरा राजन् ब्राह्मणा वै निसृष्टाः'। आगे यह भी बताया गया है कि सभी आश्रम ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित हैं। यहीं नहीं ब्राह्मण सभी लोगों का गुरु भी माना जाता है -- 'गुरुर्हि सर्वभूतानां ब्राह्मणो परिकीर्तितः'। इन कारणों से

---

1. धर्म और समाज -- डा. राधाकृष्णन पृ. 155

अतिरिक्त गुणों के आधार पर भी ब्राह्मणों का वर्ण ही पहले आता है। उनमें निहित सत्वगुण के कारण उनमें उच्चतम तेज और अधिकतम तप की क्षमता भी रहती है। कहा गया है कि सूर्य भी ब्राह्मण के आशीर्वाद से ही दीप्तिमान होता है।

ब्राह्मणो हि परं तेजो ब्राह्मणो हि परं तपः ।
ब्राह्मणानां नमस्कारैः सूर्यो दिवि विराजते ।।[1]

इससे स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणों में तप अपरिग्रह और परोपकारिता का सर्वोच्च विकास हुआ है। उनके इन्हीं गुणों के कारण वे यज्ञ, दान, होम जैसे उत्कृष्ट कार्य करने योग्य कहलाये गये हैं। अर्थात् यह निखिल विश्व ब्राह्मणों पर ही आश्रित है और स्वर्ग में देवताओं का अस्तित्व भी इन्हीं की कृपा पर आधारित है। अतः ब्राह्मण को प्रत्यक्ष देवता कहा गया है -- 'देवाः परोक्षदेवाः प्रत्यक्षदेवाः ब्राह्मणाः'।[2] इस प्रकार ब्राह्मणों की देवता देवताओं के लिए भी स्वीकार्य होने के नाते ब्राह्मण-वर्ण का अनुगामी होना ही सभी वर्णों के लिए हितकर माना जाता है।[3]

ब्राह्मणों के वेदाध्ययन कर्म का महत्वपूर्ण स्थान है। फिर भी वैदिक काल के प्रारंभ में जब वर्णव्यवस्था बहुत दृढ़ नहीं थी तब मन्त्रों की रचना करने के साथ साथ ब्राह्मण पशुपालन कृषि और शिल्पकृति में भी लीन रहते थे। कभी कभी वे शत्रुओं से लड़ाई करने की योजना में भी संलग्न रहते थे। तैत्तिरीय संहिता में लिखा है कि तत्कालीन ऋषि पवित्र, तेजस्वी, उन्नत, इन्द्रियजयी और पशुमान होने के लिए यज्ञ करते थे। गोपथब्राह्मण एवं रामायण में भी ब्राह्मणों को खेती का उल्लेख मिलता है। किन्तु वैदिक काल के पश्चात् आगे अनेक के उत्तरकाल में वर्णव्यवस्था आगे रही तो उच्चकोटि के ब्राह्मणों का कृषि के प्रति झुकाव कम हो गया और सूत्रकाल तक आते आते ब्राह्मणों की खेती की ओर रुचि घट गई थी। वर्तमान युग में भी ब्राह्मणों का मुख्य कर्तव्य रहा है पूजा पाठ करना एवं वेदाध्ययन और पौरोहित्य को भी उन्हीं के हाथों में सौंप दिया गया है। लेकिन मनु ने ब्राह्मणों के पौरोहित्यकर्म को

---

1. महाभारत - वनपर्व
2. समाज का स्वरूप - डा. सीताराम झा श्याम पृ. 12
3. देवतानामपि ये देवा यद्ब्रूयुस्ते परं हितम् । तस्माद् वर्णाः सर्वपराः शुश्रूषन्ते न चान्यथा ।।
-- महाभारत - शान्तिपर्व

अत्यन्त निन्दित माना है । उनके अनुसार धूर्तों तथा मूर्खों के पुरोहितों को श्राद्ध में भोजन देने के लिए नहीं बुलाना चाहिए । श्रीमद्भागवत में बताया गया है कि केवल दुर्मति ही पुरोहित बनकर प्रसन्न हो सकता है ।[1]

ब्राह्मणों के इन कर्तव्यों के साथ साथ वे दान भी ले सकते थे । कहीं कहीं उनको भिक्षुक के रूप में चित्रित किया गया है यद्यपि भिक्षावृत्ति उनकी आत्मसन्तुष्टि का प्रतीक मानी गई है । किन्तु वैदिककाल से ही मात्र ब्रह्मचारी भिक्षावृत्ति अपना सकते थे । महाभारत में तो यही प्रथा थी -- ' न ब्रह्मचारी भिक्षावान् भिक्षुर्वा ब्रह्मचर्यवान् ' अर्थात् कोई भी भिक्षुक ऐसा नहीं है, जो ब्रह्मचारी न हो । यदि ब्रह्मचारी के अतिरिक्त और कोई भिक्षा मांगे तो उसे भिक्षा देना पाप समझा जाता था । किन्तु मनु ने यह विधान बताया है कि यज्ञ करने के लिए ब्राह्मण भिक्षा द्वारा धन एकत्र कर सकता है, पर यज्ञ करते हुए उस भिक्षा के धन से कुछ भी अपने लिए बचा लेना महापातक है । यद्यपि ब्राह्मणों की भिक्षावृत्ति मना की गई है तथापि वे दान ले सकते हैं और ब्राह्मणों को दान देना स्वर्ग प्राप्त करने के लिए तथा पापों से मुक्ति पाने के लिए उत्तम साधन माना गया । पर दान तो ऐसे व्यक्तियों को ही देना चाहिए जो सदाचार, तपस्वी और विद्वान हो, क्योंकि कुपात्र को दान देना पाप है । मनु ने एक हद तक दान के विरोध में कहा है कि ब्राह्मण दान लेने में समर्थ हो तब भी उसे दान में आसक्ति नहीं रखनी चाहिए और न दान की कामना । क्योंकि दान लेने से ब्राह्मण का ब्रह्मतेज शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । अर्थात् स्वर्ण, भूमि, घोड़ा, गाय, अन्न, सुगन्धित द्रव्य, तिल और घी को दान के रूप में लेनेवाला अविद्वान ब्राह्मण लकड़ी की भांति जल जाता है, वह नरक में जा गिरता है । वनपर्व में भी तो दान न लेने की प्रशंसा की गई है । फिर भी दान को ब्राह्मण की जीविका का साधन तो कहा ही गया है ।

इस प्रकार ब्राह्मण के अनेक कर्म बताए गए हैं और उनके सात्विक महान आदर्शों के कारण समाज में उनको ही पहला वर्ण, वर्णों में श्रेष्ठ, कहा जाता है । ऋग्वेद से लेकर

---

1. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका - रामजी उपाध्याय पृ. 76

आज तक ब्राह्मणों का समाज में उन्नत स्थान है और उनका सामाजिक जीवन भी आदर्श माना गया है यद्यपि कुछ एक ब्राह्मणों का व्यवहार निकृष्ट है। ब्राह्मणों की इन्हीं मान्य एवं निकृष्ट सामाजिक कृतियों को आधार बनाकर कई कहानियाँ प्रचलित हैं।

क्षत्रिय

वर्णव्यवस्था में दूसरा वर्ण क्षत्रिय का है। ये तो ब्रह्मवर्ण की कड़ी माने हैं। जिस तरह ब्राह्मणों की सृष्टि परमपुरुष के मुख से हुई थी वैसे ही उसी परम पुरुष की बाहों से ही क्षत्रिय उत्पन्न हुए हैं। इसी कारण उनमें युद्ध करने की अधिक क्षमता है। उनकी बाहों की शक्ति का प्रयोग करते हुए वे अपनी तथा अपनी प्रजा की रक्षा के लिए सदा जागरूक रहते हैं। क्योंकि उनका प्रमुख कर्तव्य ही प्रजा का पालन है। याज्ञवल्क्य स्मृति में इस ओर संकेत किया गया है --'प्रधानं क्षत्रियं कर्म प्रजानां परिपालनम्'।[1] साथ ही उनके और भी कर्तव्य हैं जैसे वीरता दिखाना, तेजोद्दीप्त रहना, धैर्य रखना, युद्ध में निर्भीक होकर अपनी चतुरता दिखाना और ब्राह्मणों को दान देना तथा उनकी ओर श्रद्धाभावना रखना। शुक्राचार्य ने क्षत्रियों के प्रमुख कर्म बताए हैं, सज्जनों की रक्षा एवं दुष्टों का नाश करना।

चतुर्वर्णों की रक्षा एवं धर्म की रक्षा के लिए क्षत्रियों का युद्ध करना अत्यन्त श्रेयस्कर माना जाता था। इसके विरुद्ध युद्ध से किसी क्षत्रिय का विमुख होना निन्दनीय है। उनके युद्ध करने के भी धर्म विधान थे। अर्थात् शस्त्रहीन, पतित, कवचहीन, प्रपन्न, भीत, रणमुक्तजन एवं आतुर के साथ युद्ध करना श्रेष्ठ धर्म नहीं है।[2] क्षात्रवृत्ति अपनाने के पहले क्षत्रिय अपना वेदाध्ययन पूर्ण करता है। वेदाध्ययन के साथ ही यज्ञ तथा दान करने का अधिकार उसे प्राप्त है। महाभारत में भी इस ओर संकेत मिलता है कि क्षत्रिय वेदाध्ययन तथा यज्ञ कर सकता है, परन्तु अध्यापन, और याजन कार्य नहीं। रामायण में इसका कारण यों बतलाया गया है कि क्षत्रिय के याजक होने पर देवता यजमान का हव्य ग्रहण नहीं

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति - बीस स्मृतियाँ - भाग -2 पृ 25
2. भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास - डा. विमलचन्द्र पाण्डेय पृ 41

करते । क्षत्रिय पशुपालन का सारा काम भी अपने हाथों से करते थे । कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार राजा के विभिन्न कोटि के पशुओं के लिए अध्यक्ष तथा अन्य कर्मचारी नियुक्त होते थे । पशुपालन के साथ आपत्काल में अपर वर्णों के कर्मों का अनुसरण भी कर सकते थे । किन्तु मनुस्मृति में क्षत्रियों के लिए कृषिकर्म वर्जित माना गया है । अनेक व्यवस्थाकारों ने वैश्यकर्म एवं हलवान को अनुपयुक्त कहा है । फिर भी ये ब्राह्मणों की भाँति क्षात्रकर्म छोड़कर वैश्य एवं शूद्रों के विविध कर्मों को अपना लेते थे ।

वैश्य

सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से ब्राह्मण और क्षत्रिय के पश्चात् ही वैश्यवर्ण आता है । 'वैश्य' नाम से ही यह स्पष्ट होता है कि ये कृषि , पशुपालन एवं व्यापार करनेवाले लोग थे । वैश्यों का स्वाभाविक कर्म भी कृषि , पशुपालन तथा कोई व्यवसाय था यद्यपि वे वेदाध्ययन , यज्ञ तथा दान करने के अधिकार से वंचित भी नहीं थे । गीता में उनके कर्म खेती , पशुपालन और वाणिज्य कहा है ।[1] किन्तु भौतिक अभ्युदय में निरत वैश्यों ने आध्यात्मिक एवं मानसिक संस्कृति की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया । इसी कारण वेदाध्ययन , यजन , दानादि कर्मों की उपेक्षा करके वैश्य कृषि , पशुपालन एवं वाणिज्य जैसे धनार्जन के साधनों में अपनी प्रतिभा एवं अध्यवसायशीलता दिखाने लगे । वैश्य वर्ण ही समाज में सबसे अधिक धनाढ्य था एवं इसी का कारण वे सबसे अधिक राजकर भी देते थे और दूसरे वर्णों की अपेक्षा वे ही बहुसंख्यक भी थे । यद्यपि वैश्यों का प्रमुख ध्येय था धनार्जन , तो भी वे मद्य , मांस , लाख , चर्म आदि निषिद्ध वस्तुओं का विक्रय नहीं करते थे ।

वैश्यों का सामाजिक जीवन भी आदर्शमय था । उनमें रज तथा तम गुणों का सामंजस्य हुआ है और इसी कारण कहा गया है कि उनका रंग पीला है । वे स्वभावतः शांत प्रकृतिवाले थे । वे सदा युद्ध से विमुख रहते थे । किन्तु आपत्काल में युद्ध करने के लिए हिचकते नहीं थे । यद्यपि उनके संबन्ध में 'वैश्यो धनार्जनं कुर्यात्' कहा जाता है तो भी वे बड़ी चतुराई से धन संचयन करने में ध्यान देते थे । उद्योगरत रहकर पशुओं का बड़ी सावधानी

---

1. कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् -- भगवद्गीता अ. 18 श्लो. 44

और बहुत स्नेह से पालन करना वे अपना उत्तम धर्म मानते थे । वैश्यों के लिए यह विधान किया गया है कि वे कंजूस न बनकर उदारतापूर्वक धन का वितरण करें, अतिथियों का सत्कार करें और भगवान की भक्ति करें । इसके विरुद्ध उन्हें अपने धन के अहंकार में ईश्वर को भूलकर दूसरों से दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए ।

शूद्र

वर्णव्यवस्था में शूद्रों को सबसे नीच वर्ण माना जाता है । इसका कारण यह है कि वे ब्रह्मा के पांवों से ही उत्पन्न हुए थे । किन्तु प्राचीन भारत में समाज के उत्पादक वर्ग शूद्र थे और उनके पास बहुत ही धनराशि भी थी । सभी तरह के शिल्पों का काम वे ही करते थे । यही नहीं वे उच्च कोटि का आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर सकते थे । पुराणेतिहास भी वे पढ़ा करते थे । जब वर्णव्यवस्था दृढ़ बन गई तो अपरवर्ण के द्विजातियों के सेवाकार्य का भार अनार्य कहे जानेवाले शूद्रों पर डाला गया । याज्ञवल्क्य ने भी द्विजातियों की शुश्रूषा करना ही शूद्रों का कर्तव्य कहा है । विष्णुपुराण में भी यही बात व्यक्त की गई है । ज्यों ही शूद्रों को दूसरे उच्च वर्णों का सेवक बनाया गया, त्यों ही उनके वेदादि पढ़ने का निषेध किया गया यही नहीं शूद्रों के समक्ष दूसरों का वेदाध्ययन भी निषिद्ध था । इसका कारण यों कहा जाता है कि वे मन्त्रहीन उत्पन्न किए गए थे । और उनका मन्त्र सुनना हितकर नहीं है । अतएव उनके संस्कार भी मन्त्रहीन हुआ करते थे । महाभारत में संस्कारहीन होने के कारण शूद्रों को चतुराश्रमों का अनधिकारी बताया है । मनु ने भी शूद्रों को धार्मिक क्रिया तथा व्रतों के अनुपयुक्त कहा है ।

कहने का अर्थ है कि वैदिक-काल के पश्चात् शूद्रों की सामाजिक स्थिति अत्यन्त ही हेय हो गई । वे समाज का अत्यन्त निकृष्ट वर्ग समझे जाने लगे । अपनी जीविका चलाने के लिए उन्हें द्विजातियों पर निर्भर होकर उनके त्यक्त वस्त्रों, आसनों तथा बर्तनों का प्रयोग करना पड़ा । धर्मशास्त्र भी उनके प्रति अतिकठोर, अनुदारतापूर्वक व्यवहार करते थे । अर्थात् कोई शूद्र सेवा करने के बदले स्वामी होने का दंभ भरे, चाण्डाल बने या किसी ब्राह्मण का अपमान करे तो उसका विनाश होना था । यहाँ तक कि सामाजिक आचार विचार में भी शूद्रों की उपेक्षा

निर्धारित की जाती थी ।

वस्तुतः शूद्रों का परम धर्म उच्च वर्ण की परिचर्या करना था और आपद्ग्रस्त स्वामी को अपने जीवन धन से सहायता पहुँचाना भी उनका प्रमुख कर्तव्य था । यह भी मानी गई बात है कि शूद्र तमोगुणवाले हैं और उनका रंग काला है । अतएव वे अपने गुणानुकूल नीचकर्म किया करते थे और इसी कारण समाज उनको और घृणास्पद दृष्टि से देखा करता था । आज भी शूद्रों के प्रति वही द्वेष दृष्टि रही है जो पहले थी , यद्यपि सुधार तो अवश्य हुआ हो ।

इस प्रकार चतुर्वर्ण में पहला स्थान ब्राह्मणों को दिया गया है और उसके बाद ही अन्य तीन वर्ण आते हैं । किन्तु पहले तीन वर्णों को द्विज माना गया है क्योंकि इन तीनों वर्णों में उपनयन संस्कार के बाद वेदाध्ययन शुरू होता है । माना जाता है कि उपनयन संस्कार द्वारा इन वर्णों का पुनर्जन्म होता है । किन्तु शूद्र में संस्कार का अभाव रहा है और इसी कारण उनके कन्धों पर द्विजों की सेवा का बोझ डालकर उन्हें चतुर्थ वर्ण में रखा गया है । पहले के तीन वर्णों में से राहुल सांकृत्यायन ने धन के आधार पर वैश्य को ही सबसे महान माना है । पर यह बात माननीय नहीं क्योंकि धन संचय करनेवाले व्यक्तियों की अपेक्षा धन की उपेक्षा करनेवाले तथा विद्वत्ता प्राप्त करके दूसरों को भी धनप्राप्ति की इच्छा न करते हुए विद्यादान करनेवाले ही समाज में श्रेष्ठ एवं आदर्श कहलाने योग्य हैं । यह आदर्श तत्व ब्राह्मणों में ही पाया जाता है । अतएव वर्णव्यवस्था में ब्राह्मणों को ही पहला वर्ण मानना उचित है ।

वर्णव्यवस्था से लोगों का विभाजन तो अवश्य हुआ । इस प्रकार के वर्गीकरण से समाज में एक तरह की सुव्यवस्था बनी रही । प्रत्येक वर्ण को पृथक पृथक विभाग का अधिकार सौंप देने से सामाजिक उन्नति बढ़ती गई । अर्थात् चतुर्वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मणों को प्रथम वर्ण में रखकर उन्हें क्षत्रिय तथा वैश्य को वेदाध्ययन कराने का तथा उनसे यज्ञ कराके पौरोहित्य का अधिकार भी सौंप दिया गया । देश की तथा दूसरे वर्णों की रक्षा करने की ज़िम्मेदारी दूसरे वर्ण के क्षत्रिय की ही है । वैश्य लोग भी तीसरे वर्ण के हैं , कृषि पशुपालन तथा वाणिज्य के द्वारा धनार्जन करके क्षत्रियों के ख़ज़ाने को कर से भर देते थे । उनके खेतों में उपजे फसल ही दूसरों के लिए खाद्य रहे । उपर्युक्त इन द्विजों को अपने अपने काम पड़े रहते थे और इसी कारण उनका सेवाकार्य करने के लिए एक चतुर्थ वर्ण का विधान हुआ जिसे शूद्र कहा गया ।

इस प्रकार के अधिकार विभाजन के कारण सभी वर्णों की शक्ति सन्तुलित थी और वर्णसंघर्ष का खतरा भी नहीं था। इस संदर्भ में डा. राधाकृष्णन का कथन उल्लेखनीय है कि वर्णव्यवस्था के कारण समाज में वर्णसंघर्ष की स्थिति नहीं रहती थी। वर्णव्यवस्था में व्यक्ति के सामाजिक कर्तव्य पर जोर दिया जाता है, न कि उसके निजी अधिकारों पर।[1] वर्णव्यवस्था के कारण समाज में उच्छृंखलता का अभाव हो गया। अपने से पृथक वर्ण पर शासन या व्यय करने का सामाजिक अधिकार दूसरे वर्ण को नहीं रहता था। वर्णविभाजन के संबन्ध में डा. राधाकृष्णन का मत यही उल्लेखनीय है -- 'समाज का श्रेणीविभाजन कोई बलपूर्वक थोपी गई क्रिया नहीं है, वरन् प्रकृति का नियम है हिन्दू समाज के चतुर्वर्ण हमारे जीवन के विकास की चार मंजिलों के प्रतिनिधि हैं।[2]

भारतीय धर्मशास्त्रों का यह भी मत रहा है कि वर्णव्यवस्था के कारण समाज में धार्मिकता बनी रहती है। इसी कारण मनुष्य को वर्णधर्म से मुँह नहीं मोड़ना चाहिए और वर्णव्यवस्था का उल्लंघन करनेवाले को नरक में जाना पड़ता है। कहा गया है -

स्ववर्णधर्मातिक्रमितृर्षि नरः प्राप्नोति न संशयः ।
प्रयाति नरकोत्थातिर्यग्योनिरेषतात् ।।3

इसी कारण गीता में भी कहा है - 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'। कहने का तात्पर्य है कि वर्णव्यवस्था से सामाजिक सुव्यवस्था अवश्य दिखाई पड़ती है पर आजकल व्यक्ति अपने को स्वेच्छानुसार किसी भी वर्णविशेष का मानता है। जीवन के प्रति भौतिकवादी दृष्टिकोण को अपनाने के कारण तथा अधिकारों का गलत विवेचन करने से आज वर्णव्यवस्था का स्वरूप बहुत ही परिवर्तित हो चुका है। कर्तव्य के बदले किसी एक वर्णविशेष के व्यक्ति को दूसरे से उच्च नीच का भाव नहीं रखना चाहिए। क्योंकि वर्णव्यवस्था में कोई भी ऊँचा या नीचा नहीं होता। सभी को अपने अपने कर्तव्य निभाने चाहिए। अतएव गीता कहती है --

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।।

---

1. प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार -- डा. राधाकृष्णन पृ 40।

2. वही

3. मार्कण्डेयपुराण - भाग 1 पृ 34

इस प्रकार वर्णव्यवस्था का सही विवेचन उसके महत्व को इस प्रकार स्पष्ट दिखाता है कि यह व्यवस्था मनुष्य को अपने निर्धारित अधिकारों एवं कर्तव्यों के प्रति निष्ठावान् रखने में सहायता देती है ।

जातिव्यवस्था

समुदाय विशेष के अन्तर्गत भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भिन्नता का विकास उत्पन्न करानेवाली शक्ति ही जाति कही जाती है । 'जायते उत्पद्यते भिन्नेभ्यो भिन्नाभिधानप्रत्ययो येभ्यो यया वा जातिः' ।[1] महाभाष्य में जाति का अर्थ है - 'लिंगानां च न सर्वभाक् सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या जातिः' समाजशास्त्र में 'जाति' शब्द का तात्पर्य मनुष्य के जन्म से है । भारतीय समाज में जातिव्यवस्था का विशेष महत्व है । ब्राह्मण-साहित्य में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के अतिरिक्त बहुत सी जातियों तथा उपजातियों का उल्लेख मिलता है । इन ग्रन्थों में वर्ण या समानधर्मा एक विशिष्ट वर्ग के अर्थ में ही 'जाति' शब्द का प्रयोग हुआ है । प्राचीन भारतीय समाज में प्रचलित दन्तकथाएँ ही जातिव्यवस्था की आधार हैं । अब यह प्रश्न उतना अस्वाभाविक नहीं कि इन दन्तकथाओं के प्रणेता कौन थे और क्यों इनकी रचना हुई थी ? लेकिन इस प्रश्न का उत्तर देना आसान नहीं है । क्योंकि जातिव्यवस्था के उद्भव या विकास के अध्ययन के लिए इतिहास की अनेक संकीर्ण एवं तंग गलियों से फिर से गुजरना होगा । घुर्ये का कथन इस बात का समर्थन करता है -- 'जब हम पूछते कि भारत में जातिव्यवस्था कैसे शुरू हुई तो वस्तुतः हम जानना चाहते हैं कि हिन्दू समाज की स्थापना किस प्रकार हुई । परन्तु इस व्यवस्था की उत्पत्ति के सामाजिक कारण ढूंढने की चेष्टा व्यर्थ है । कोई भी सामाजिक व्यवस्था प्रादुर्भूत नहीं होती , उसका विकास ही होता है '[3] ।

जाति के उद्भव को लेकर कई सिद्धान्त भी प्रचलित हैं । भारत के विभिन्न धार्मिक ग्रंथों में यह बताया गया है कि विभिन्न जातियाँ तो ब्रह्मा के शरीर के विभिन्न अंगों से उद्भूत हुई हैं और उनमें नैतिक अन्तर भी रहता है । प्रो. सोरोकिन का मत है कि इस प्रकार ब्रह्मा की देह से निकलने के कारण उस समय परस्पर रक्त का सम्मिश्रण या अन्तर्जातीय विवाह ।

---

1. ~~Caste, class and Race.32~~ 2. महाभाष्य 4 - 1 - 63

3. घुर्ये , कास्ट एण्ड रेस - क्लास पृ 82 - 84

प्रजातियों के बीच किसी प्रकार का संपर्क सबसे बड़ा अपराध माना जाता था । प्रत्येक व्यक्ति का सामाजिक नाम या दर्जा उसके माता पिता के रक्त के आधार पर ही निर्धारित होता था ।[1]

यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है कि वर्णों से ही विभिन्न जातियों का प्रादुर्भाव हुआ है । सर्वश्री एच. ई. बार्न्स और हावर्ड बेकर ने भी इसका समर्थन किया है । उन्होंने लिखा है -- ' यह महत्वपूर्ण बात है कि भारतीय जातिव्यवस्था के आधारभूत चार वर्ण हैं , और चारों वर्णों का तात्पर्य चार रंग से है । ये वर्ण श्वेत से लेकर गाढ़े कृष्ण तक हैं । इस व्यवस्था के शीर्ष पर पुरोहित ब्राह्मण हैं जो लगभग तीन हजार वर्ष ई. पू. भारत पर आक्रमण करनेवाले आर्यों के वंशज हैं ।[2] इसका तात्पर्य है कि आर्यों एवं द्रविड़ों की पारस्परिक सामाजिक प्रभुता से ही जातिव्यवस्था बनी है ।

वेदों, ब्राह्मण ग्रंथों , धर्मशास्त्रों , स्मृतियों तथा पुराणों में भी जातिव्यवस्था का उल्लेख मिलता है । शतपथ ब्राह्मण में 'भू ', 'भुवः' , 'स्वः' , शब्दों से ही जाति की उत्पत्ति बताई गई है । तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार वेदों से जाति उद्भूत हुई है । जैसे सामवेद से ब्राह्मण यजुर्वेद से क्षत्रिय और ऋग्वेद से वैश्य ।[3] किन्तु इसमें शूद्रों का उल्लेख नहीं हुआ है और न कि अन्य उपजातियों का ही । जन्म को भी जाति का आधार माना गया है । कुमारिल ने जातिभेद का मूल कारण जन्म को माना है । उनके अनुसार जो व्यक्ति जिस वर्ण के अन्दर जन्म लेता है उसकी वही जाति निर्धारित हो जाती है । 'जन्मतो जातिभेदस्तु मनुष्याणां तु जन्मना ' ।[4]

जातिव्यवस्था का मूल वर्णसंकरता भी कहा जाता है । वर्णसंकरता का अर्थ है वर्णों का मिश्रण । अर्थात् जब एक वर्ण के साथ इतर वर्ण का यौन संबन्ध स्थापित हो जाता है तो उससे प्रादुर्भूत संतति के लिए पृथक जाति का निर्माण करके उस जाति के लिए पृथक नाम दिया जाता है । यह तो प्रायः अनुलोम विवाह (उच्चवर्ण के पुरुष का नीच वर्ण की स्त्री के साथ) और प्रतिलोम विवाह (नीच वर्ण के पुरुष का उच्च वर्ण की स्त्री के साथ) से उत्पन्न संततियों से ही बन जाता था । फिर मिश्रण का और भी मिश्रण होने से अनेक जातियाँ और उपजातियाँ उत्पन्न होती हैं ।

---

1. Contemporary Sociological Theories- P. Sorokin , p.219-220
2. Social thought from lore to Science -part 1 -Barnes H.E. &Becker H. p.71-72
3. जातिव्यवस्था - डा. नर्मदेश्वर प्रसाद पृ 17
4. भारतीय समाज का स्वरूप पृ. 37

ऊपर उद्धृत किए गए तथ्यों की अपेक्षा पेशे के आधार पर बनी जातिव्यवस्था ही अधिक समीचीन लगती है । अर्थात् व्यवसाय या कर्मों के अनुसार ही जातिव्यवस्था आज के रूप में विकसित हुई । भृगु महर्षि का कथन भी इसी तथ्य से सहमत है । उनके अनुसार जातियों में कोई अन्तर नहीं है । शुरू में ब्रह्मा ने इस विश्व की सृष्टि की और सब लोग जन्म से ब्राह्मण थे । तदुपरान्त अपने अपने कर्म से लोग विभिन्न जातियों में बँट गये । जिन द्विजों ने क्षत्रिय गुण को सब कुछ मानकर अपने कर्तव्य को त्याग दिया वे ब्राह्मणों से पृथक होकर क्षत्रिय कहने लगे । जिन्होंने गो पालन को अपने कर्तव्य के रूप में अपनाया वे वैश्य बन गये और जो द्विज असत्यभाषण, दुराचरण जैसे कुकर्म किया करते थे वे शूद्र हो गये । अतः अपने कर्मों के अनुसार ब्राह्मण ही विभिन्न जातियों में बँट गए थे ।।[1]

शुक्रनीति के अनुसार 'जाति' शब्द 'ज्ञाति' शब्द का परिवर्तित रूप है जिसका अर्थ है जीविका के लिए साधन का ज्ञान प्राप्त करना । अर्थात् जाति की उत्पत्ति के संबन्ध में बताया गया है कि जो लोग जिस व्यवसाय से जीविका चलाने लगे, उनकी वही जाति हो गयी । 'विद्याकलाश्रयेणैव तन्नाम्ना जातिरुच्यते'।[2] ऋग्वेद में भी व्यावसायिकता के आधार पर अनेक जातियों का उल्लेख मिलता है, जैसे वाप्ता (नाई), तष्टा (बढ़ई), कर्मारा (लोहार) चर्मम्न (चमार), कुलाल (कुम्हार) आदि । किसी किसी ने जाति की उत्पत्ति के मूल में व्यवसाय को ही प्रमुख माना है ।[3] और किसी ने संस्कृति या पेशे के आधार पर ही जाति-व्यवस्था का विवेचन किया है । वे प्रजातिसंबन्धी सिद्धान्त रिज़ले को उपेक्षा इसलिए करते हैं कि उनका कहना है कि जातिव्यवस्था संगठित होने के पहले ही जनसंख्या पूरी तरह से मिश्रित हो गई थी ।[4]

----

1. महाभारत शान्तिपर्व

2. भारतीय समाज का स्वरूप पृ 39

3. Function and function alone is responsible for the origin of caste structure in India.
—The Myth of Caste system, p.29

4. History of the caste system of North-west Provinces and Oudh
—J.C. Nesfield, p. 76

4.

वस्तुतः हिन्दू समाज व्यवस्था अनेक प्रकार के तत्वों के मिलन से बनी है और आज तो वह इतनी जटिल और बीहड़ हो गई है कि उसकी उत्पत्ति की जड़ ढूंढना बहुत कठिन हो गया है। प्रायः हिन्दू समाज के चार हिस्से होते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र। ये ही चार वर्ण भी कहलाते थे। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर मात्र ये चार वर्ण नहीं, अपि तु असंख्य जातियाँ ही मौजूद थीं। मनुस्मृति में इसका कारण यों बताया गया है कि वर्णों के सम्मिश्रण से, अवैध विवाह से तथा अपने कर्तव्यों की उपेक्षा से ही अनेक मनुष्य वर्ण संकर जातियाँ बन गई हैं। इसके अतिरिक्त समाज दिन ब दिन विकास की ओर बढ़ता रहा तो तरह तरह के पेशे भी निकलने लगे जिनके आधार पर नई नई जातियाँ बनती गईं। पेशे के महत्व को लेकर ही आज जातियों का महत्व भी निर्धारित किया जाता है। अर्थात् हर पेशेवर की अलग जाति थी और जिस जमात का पेशा जितना ही हीन होता था उसकी सामाजिक हैसियत भी उतनी ही नीच मानी जाती थी।

जातिव्यवस्था के कारण एक ओर समाज में लोगों के बीच एक प्रकार का ऊँच नीच का भाव रहता है और अस्पृश्यता के तत्व पर जोर दिया जाता है। तो भी दूसरी ओर जातिप्रथा से समाज को अनेक गुण भी प्राप्त हुए हैं। विभिन्न जातियों के एक ही समाज में रहने के कारण कला, विज्ञान और सभ्यता, इन तीनों क्षेत्रों में एक साथ प्रगति होती है।

वैवाहिक संबंध को सुव्यवस्थित बनाकर रक्तशुद्धता को बनाये रखने का श्रेय भी जाति को है। साथ ही व्यक्ति अपने कुल परिवार की भी रक्षा करता है। व्यक्ति की जातीय मर्यादा भी जातिप्रथा के कारण रहती है। जातिप्रथा अपनी सीमा में होनेवाली सभी घटनाओं पर नियंत्रण रखती है जिससे संपूर्ण सामाजिक व्यवस्थाओं की सुरक्षा भी संभव हो जाती है।

वर्ण और जाति

वर्ण और जाति के संबन्ध में कभी भ्रम हो जाता है। कुछेक विद्वान इन दोनों को एक ही मानते हैं तो दूसरे विद्वान उनमें अन्तर्निहित अर्थ को प्रस्तुत करते हैं। किन्तु वर्ण को जाति मानना भ्रम है क्योंकि इन दोनों के मूल में बड़ा अन्तर है। भारतीय वर्णव्यवस्था में मात्र चार वर्ण बताए गए हैं। किन्तु जाति तो केवल चार नहीं है, उनकी संख्या अगणित है

रंग या वर्ण के आधार पर ही वर्णव्यवस्था बनी, जैसे श्वेत रंगवाले ब्राह्मण, लाल रंगवाले क्षत्रिय, पीले रंगवाले वैश्य और काले रंगवाले शूद्र कहे जाते है। किन्तु जातिव्यवस्था का मूलाधार रंग नहीं, अपि तु कर्म है।

जाति तो एक स्वतन्त्र सामाजिक संगठन है। यह तो प्रायः वर्ण से पैदा हुआ लगता है जो की वर्ण की उपेक्षा भी कर सकता है। किन्तु वर्णव्यवस्था मे इस प्रकार की स्वतन्त्रता नही रहती। क्योंकि लोगों के गुण एवं रंग पर आधृत होकर यह व्यवस्था बनी है। यही नहीं, जाति तो परिवर्तित भी जाती है, परन्तु वर्ण नहीं। उत्तर वैदिक काल से लेकर समाज मे वर्ण का ही क्रम रहा है। जातियाँ बदलते युगों के अनुसार बदलती रही है।

वस्तुतः वर्ण और जाति मे आन्तरिक रूप से अन्तर रहने पर भी कभी कभी उन्हें एक ही व्यवस्था माना जाता है। किन्तु यह तो सही नही है। वर्ण जाति से पृथक है और जाति वर्ण से भी। जे. एच. हट्टन का मत यहाँ समीचीन लगता है। उनका मत है कि आज का वर्ण किसी भी माने मे जाति नही है यद्यपि उसे जातियों का एक समूह माना जा सकता है।[1]

पारिवारिक संगठन

समाज की सबसे छोटी इकाई व्यक्ति है और व्यक्तियों के सहयोग से परिवार, जाति आदि का विकास होता है। अर्थात् व्यक्तियों के मिलन से परिवार का जन्म होता है और एक ही परिवार मे रहनेवाले समान रूप का आचरण करते है और उनको एक पृथक जाति भी बन जाती है। इस प्रकार एक ही जाति मे रहनेवालों को एक ही तरह के संस्कारों तथा जनरीतियों का प्रयोग करना पड़ता है यही जनरीति व्यावहारिक स्तर पर परम्परित रूप से प्रचलित हो जाने पर रूढ़ि बन जाती है। एक रूढ़ि का कट्टरता से पालन करनेवाले कई परिवारों को एक साथ मिला कर समाज कह सकते है। समान रूप से पारिवारिक आचार व्यवहार करनेवाले एक ही जाति के अन्तर्गत माने जाते है।

---

1. At any rate the varna of the present day is not a caste though it may be regarded as a group of castes.
--Caste in India--J.H.Hutton,p.66

समाज में परिवार का विशेष महत्व है । क्योंकि आज तक परिवार को समाज की एक प्रमुख इकाई के रूप में मान्यता प्राप्त है और समाज के सांस्कृतिक विकास के कई स्तरों पर परिवार की प्रधानता पाई जाती है । दो से अधिक व्यक्तियों के मिल कर रहने से परिवार होता है । अर्थात् व्यक्तियों के समूह को ही परिवार कहा जाता है । एक ही वंश के तथा समान आचार व्यवहार के लोग ही एक परिवार के अन्तर्गत आते हैं । अतः एक ही कुल में उत्पन्न मनुष्यों का समुदाय ही परिवार है । कहने का अर्थ यह हुआ कि परिवार तो व्यक्तियों का समूह है जो एक ही घर में रहते हैं और जिनके रक्त में एकता की भावना रहती है तथा जो समान स्वार्थ , सहयोग और परस्पर कर्तव्यों के आधार पर एक दूसरे से संबन्धित हैं । समाज की यह संगठित इकाई व्यक्ति को सुरक्षा तथा आक्रमण के अवसरों पर सहायता पहुँचाती है । परिवारसंबन्ध अध्ययन के अवसर पर यह प्रश्न उठना असंगत नहीं है कि परिवार का उद्भव कब हुआ और किस प्रकार इसका विकास होता आया ?

ऐतिहासिक इतिहास के अध्ययन से समझा जाता है कि जब से वर्ण व्यवस्था एवं जातिव्यवस्था ने समाज में स्थान पा लिया था तभी से परिवार का भी स्थान रहा है और बदलते समाज के साथ साथ पारिवारिक संगठन में भी परिवर्तन आये हैं । सभी समाजों में एक ही तरह के परिवार मौजूद हो नहीं हैं । अर्थात् बदलते सामाजिक परिवेश के साथ अपने को समेटने के लिए समय समय पर परिवार का रूप बदलता रहा है और विभिन्न समाजों में विभिन्न काल एवं स्थानों पर इसके विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं । यह देखा गया है कि मातृक , पैतृक , बहुपतिक एवं बहुपत्नीक , सीमित एवं पैतृक एक-विवाह , समूह और परीक्षणकाल आदि अनेक प्रकार के विवाह होते हैं । इन्हीं विवाहों के रूपों के आधार पर कई प्रकार के परिवार भी मौजूद हैं । क्योंकि विवाह के पश्चात् ही परिवार का जन्म होता है ।

किसी भी परिवार के प्रमुख अंग पति-पत्नी और उनकी पूर्व तथा परवर्ती पीढ़ियों के लोग ही होते हैं । परिवार में माता ,पिता , भाई , बहन , पुत्र , कन्या , बहू , सभी आपसी प्रेम से बन्धे रहते हैं । पिता ही गृहपति होता है और परिवार का संचालन पूर्णतः पिता ही करता है । पिता के पश्चात् परिवार में ज्येष्ठ भाई की प्रतिष्ठा होती है । स्त्रियों में भी पहला स्थान माता का है और उसके बाद ज्येष्ठ पुत्रवधू का । परिवार में ज्येष्ठ

संतान के रूप में प्राचीन भारतीय समाज में पुत्र के जन्म को ही सब पसन्द करते थे । क्योंकि वैदिक काल से ही यही मान्यता थी कि श्रेष्ठ पुत्र के जन्म से पिता पुत्रवान हो जाएगा और उसे अपने पितृऋण से भी मुक्ति मिलेगी । मनु ने भी इस संबन्ध में बताया है --

पितेव पालयेत् पुत्रान् ज्येष्ठो भ्रातॄन् यवीयसः ।
पुत्रवच्चापि वर्तेरन् ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ।।[1]

पारिवारिक संपत्ति के अधिकार के संबन्ध में कहा जाय तो सहभाव या एक साथ रहने के कारण परिवार के सभी सदस्यों को संपत्ति का समान अधिकार प्राप्त होता है । पारिवारिक संपत्ति के बँटवारे के संबन्ध में मनु ने बताया है कि किसी परिवार में माता पिता के मरने के उपरान्त सभी भाई मिलकर संपत्ति को समान रूप से बाँट सकते हैं । किन्तु जब आदर्श परिवार में बँटवारे के बिना ही छोटे भाइयों को बड़े भाई के आश्रय में वैसे ही रहना चाहिए जैसे वे पहले पिता पर आश्रित रहते थे ।

परिवार के कई प्रयोजन होते हैं । परिवार का मुख्य उद्देश्य तो यही है कि व्यक्तियों में आपसी सहृदयता और प्रेम बढ़ जाय । वैदिक कुटुंब में सौहार्द को ही प्रमुख स्थान दिया गया है । एक परिवार के व्यक्तियों में एक दूसरे के प्रति सहृदयता, मन में शुभ विचारों की प्रतिष्ठा, परस्पर अवैर एवं पारस्परिक प्रेम रहता है । इस प्रकार के प्रेमपूर्ण व्यवहार से परिवार में एक शान्तिपूर्ण वातावरण उत्पन्न किया जाता है । इसमें अन्तर्लीन उद्देश्य यही था कि परिवार में व्यक्ति जिस प्रकार का व्यवहार करता ठीक वैसा ही व्यवहार बाहर भी जाकर करे । इस प्रकार समाज में जीने की प्रारंभिक शिक्षा व्यक्ति को परिवार में ही मिलती है । इसी प्रकार एक दूसरे के प्रति आदर भाव का पहला पाठ भी परिवार में ही दिया जाता है । बच्चों को अपने से बड़े लोगों, विशेषतः माता पिता तथा आचार्यों का सम्मान करना है ।

परिवार में नारी को माता एवं पत्नी के रूप में बड़ा स्थान मिलता है । वह कुटुंब के सभी सदस्यों के भरण पोषण का प्रबन्ध करती है, पति के धार्मिक कार्यकलापों में सहभागिनी होती है । उसकी ईमानदारी को देखकर मनु ने यह व्यवस्था बनाई है --

---

1. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका पृ. 285

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ।।[1]

पुत्रों को भी आदर्शवान बनाना परिवार का कर्तव्य है । पुत्र को प्रायः एकपत्नीव्रत होना चाहिए । बहुपत्नीत्व के विरोध में शास्त्रों में कई विचार बताई गई है, जैसे -- 'धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत्' ।[2] इस प्रकार व्यक्तियों के संबन्ध को अटूट बनाये रखने में परिवार का बड़ा ही योगदान है । क्योंकि परिवार में पनपी अच्छी आदतों का शुभ प्रभाव समाज पर भी पड़ता है और उसके प्रभाव से समाज प्रगति की ओर अग्रसर होता है, अन्यथा समाज का पतन ही होता है ।

वस्तुतः वेदकाल से लेकर मानव जीवन में परिवार का मुख्य स्थान रहा है । रामायण तथा महाभारतकालीन परिवार भी समाज को आदर्श बनाने में सक्षम थे । किन्तु आज परिवार के स्वरूप एवं कर्तव्य में परिवर्तन आया है । प्राचीन भारतीय समाज में व्यक्ति परिवार पर ही आश्रित था और इसका कारण बताया गया है कि भारतीय कृषिव्यवस्था ने ही परिवार को प्रमुख स्थान दिया था । कृषि के कारण पारिवारिक जीवन में एक प्रकार की स्थिरता विद्यमान थी और विक्षेप तथा तनावों का अभाव था । पारिवारिक संगठन से व्यक्ति का चारित्रिक विकास होता था और सामाजिक जीवन में तरक्की होती थी । आदर्श का बड़ा महत्व रहता

संयुक्त परिवार

संयुक्त परिवार विशेष प्रकार के पारिवारिक संबन्धों का समूह है । इसमें परिवार के सदस्य या तो मातृवंशावली में होते हैं या पितृवंशावली में । प्रायः परिवार पिता और पुत्रों से बनता है । भारतीय परम्परा में संयुक्त परिवार का स्थान इसलिए रहा है कि यह ही जीवन का एक साधन है जिससे होकर मनुष्य धर्म, अर्थ और काम का सामंजस्य करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है । संयुक्त परिवार में एक ही परिवार की कई पीढ़ियाँ एक साथ रहा करती हैं । पिता, पितृभ्राता और उनकी संतानें और उनकी भी संतानें । इस प्रकार एक लंबी ही शृंखला पाई जाती है ।

---

1. बोध स्मृतियाँ - भाग - 2 - पृ 18
2. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका - पृ. 288

कहने का तात्पर्य है कि संयुक्त परिवार एक प्रकार का संबन्धी समूह है जिसमें सभी सदस्य एक ही छत के नीचे, एक ही चूल्हे पर बनाया भोजन खाकर एक सामान्य संपत्ति पर अधिकार जमाते हुए रहते हैं। वे एक ही देवता की आराधना भी करते हैं और आपस में एक विशेष प्रकार का संबन्ध रखते हैं। हिन्दू संयुक्त परिवार के संबन्ध में कर्वे ने यों कहा है -- A joint family is a group of people who generally live under one roof, who eat food cooked at one hearth, who hold property in common and who participate in common family worship and are related to each other as some particular type of kindred.

संयुक्त परिवार अनेक छोटी छोटी पारिवारिक इकाइयों से बनाया गया है और ये सदस्य एक ही छत के नीचे रहते हैं। जब पारिवारिक सदस्यों की संख्या बढ़ जाती है तो एक या दो भाइयों को मिलकर अपने परिवार के साथ एक नए परिवार की स्थापना करने का विधान है। ये नये परिवार कभी अपने पहले परिवार के नजदीक ही या उसी अहाते या पेड़ में ही रहते हैं। यदि कोई दूर जाकर रहे तो भी वे कभी कभी अपने परिवार में आया करते हैं और अपने कुलदेवता की आराधना भी करते हैं। संयुक्त परिवार में एक ही चूल्हा रहता है। अर्थात् सभी का खाना एक ही होता है। परिवार की सबसे बड़ी माता ही रसोई की रानी होती है। अपनी पारिवारिक संपत्ति पर संयुक्त परिवार के लोगों का समान अधिकार है। सभी लोग कमाते हैं और अपनी कमाई को एक साथ रखकर पारिवारिक जरूरतों की पूर्ति उसी से कर लेते हैं। संयुक्त परिवार में सबसे ऊँचा स्थान श्रेष्ठ सदस्य को है। उसी श्रेष्ठ व्यक्ति के अधिकार में ही दूसरे सदस्य पारिवारिक एवं धार्मिक कार्यों जैसे जन्म, विवाह, मृत्यु आदि का खर्च अपने संयुक्त निधि से लेते हैं और अपनी कमाई के लाभ का एक साथ मिलकर उपभोग करते हैं।[2]

---

1. The Hindu Family in its Urban selling - Aileen D. Ross P. 9.
2. Members of the joint family are under the authority of the elder in matters of family and religion, joint investment of capital, joint enjoyment of profits and of incurring birth, marriage and death expences from the joint funds.

--The Hindu Family in its Urban setting--
--Aileen D. Ross P-9

कभी कभी पिता की मृत्यु के बाद या और किसी कारण से संयुक्त परिवार में संपत्ति का बँटवारा भी हो सकता है । उस बँटवारे में सभी को समान रूप से अपना अपना हिस्सा मिल जाता है । फिर भी बँटवारा न होना ही संयुक्त परिवार के लिए श्रेयस्कर माना जाता है । संयुक्त परिवार की संयुक्तता के प्रतीक हैं चूल्हा , चक्की , झाड़ू , ओखली , मूसल , पानी भरने का घड़ा आदि । इनमें से चूल्हे का ही प्रमुख स्थान है । संयुक्त परिवार के बिगड़ जाने पर पहले पहल चूल्हा ही अलग किया जाता है , याने खाना पकाना अलग किया जाता है । अवध में इस प्रकार के पारिवारिक संबन्ध के टूट जाने पर कहा जाता है कि 'चूल्हा बँटना' ।

हिन्दुओं की यह विशेषता रही है कि वे ईश्वर के कई रूपों को उसके प्रतिनिधि के रूप में मानते हैं । इसी कारण प्रत्येक परिवार के अपने अपने देवता होते हैं और इन्हें कुलदेवता के नाम से अभिहित किया जाता है । धर्म एवं धार्मिक अनुष्ठान हिन्दुओं के जीवन का एक अभिन्न अंग है । संयुक्त परिवार में ज्येष्ठ व्यक्ति ही पारिवारिक तथा धार्मिक संस्कारों का संचालन करता है ।

संयुक्त परिवार ऐसी एक व्यवस्था है जो सामाजिक गतिशीलता तथा सामाजिक परिवर्तन को अपने में समेटकर व्यक्ति को एक दूसरे का सहायक बनाता है । एक परिवार तथा समाज का कल्याण संयुक्त परिवार का प्रयोजन है । परिवार के किसी भी व्यक्ति को संकटावस्था में उसे उपदेश देना और उसकी सहायता करना संयुक्त परिवार का धर्म है । यहाँ अनेक प्रकार के सामाजिक एवं धार्मिक संस्कार होते रहते हैं जैसे जन्म , उपनयन , विवाह , मृतकल्यादि मृत्युसंस्कार आदि । यहाँ घर सब रिश्तेदार एकत्र होते हैं । यही नहीं , संयुक्त परिवार में हमेशा हलचल और प्रतीक्षायें होती हैं , हँसी मजाक होता है , विचार विमर्श होता है और योजनायें भी बनाई जाती हैं । वस्तुतः संयुक्त परिवार एक छोटी सी दुनिया है जो व्यक्ति को नये परिवेश में जीवन व्यतीत करने में भी सहायक बनता है । व्यक्तिगत विचारधाराओं की भिन्नता के कारण संयुक्त परिवार भी कभी कभी मन मुटाव को सहता है जिससे संयुक्त - परिवार छोटे छोटे परिवारों में बँट जाता है । तथापि व्यक्तियों में यह ध्यान रहता है कि वे एक ही बड़े परिवार से उद्भूत शाखायें हैं । संयुक्त परिवार समाज का एक आदर्श सत्य है जिससे होकर समाज-मंगल होता है । व्यक्तियों के आदर्शमय जीवन के हेतु ही समाज भी आदर्श कहा जाता है । अतः सामाजिक उन्नति में संयुक्त परिवार का महत्वपूर्ण स्थान है ।

धर्म का स्वरूप

भारतीय परम्परा में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान है । धर्म के संबन्ध में 'धर्म चर', 'धर्मान्न प्रमदितव्यम्' जैसे श्रुतिवाक्य मिलते हैं । किन्तु धर्म शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है, इस ओर प्रायः कोई भी ध्यान नहीं देता । क्योंकि धर्म का बहुत ही व्यापक अर्थ है । धर्म का एक अर्थ है धारण करना । यह उसका व्युत्पत्तिक अर्थ है । अतः इसकी व्युत्पत्ति बताई बताई गई है -- ''ध्रियते इति धर्मः' । अर्थात् जिसके द्वारा धारण किया जाय वह धर्म है । 'धर्म' शब्द की और भी अनेक व्युत्पत्तियाँ हैं जैसे 'धरति धारयति वा लोकं इति धर्मः' (जो लोक को धारण करे वह धर्म है । महाभारत में धर्म के संबन्ध में बताया गया है -- 'धारणात् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयति प्रजाः'। इसका अर्थ है कि प्रजा या मनुष्य को धारण करनेवाला ही धर्म है । मनुष्य के मनुष्यत्व का रक्षक है धर्म, अतः वो कहते 'धर्मो रक्षति रक्षितः' । जो धर्म की रक्षा करता है उसकी रक्षा धर्म भी करता है । कर्म के अर्थ में भी धर्म शब्द का प्रयोग होता है । कभी कभी अंग्रेजी के 'रिलीजन' के पर्यायवाची अर्थ में भी धर्म शब्द का प्रयोग होता है । 'रिलीजन' का अर्थ है दैवी शक्तियों के प्रति मनुष्य की अनुरक्ति के कर्तव्य की मान्यता, ईश्वर के प्रति प्रेम तथा अनुरक्ति के कर्तव्यों का पालन, आस्था तथा पूज्य प्रवृत्ति की कोई भी प्रणाली और कृतज्ञता अथवा कर्तव्य का भाव । यदि इस अर्थ को लें तो सारे विश्व में कई धर्म हैं जैसे ईसाई, हिन्दू, इस्लाम आदि । भारत में इन सभी धर्मों का मेल हुआ है, तथापि हिन्दू धर्म की ही प्रधानता रही है ।

अतिप्राचीन काल से ही भारतीय समाज में धर्म की प्रधानता रही है । वेदों में भी इसको प्रमुखता प्रदान किया गया है । सभी धार्मिक आचारों का प्रतिपादक मूलतः धर्म ही होता है । ऋग्वेद में भी इसका उल्लेख हुआ है । ब्राह्मण ग्रंथों में धर्म का तात्पर्य धार्मिक कर्तव्यों से है । निरुक्त में धर्म का अर्थ वह नियम है जो व्यक्ति तथा समाज को धारण किए रहता है । किन्तु धर्म शब्द का उद्देश्य मात्र धारण करना नहीं वरन् धर्म तो लौकिक एवं अलौकिक या आध्यात्मिक सुख तथा आनन्द का मूलाधार है । वैशेषिक दर्शन के रचयिता कणाद ने भी इसी बात का समर्थन करते हुए लिखा है -- 'जिससे लौकिक सुख तथा पारलौकिक कल्याण की सिद्धि हो वह धर्म है । 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' ।[1]

---

1. भारतीय समाज का स्वरूप - पृ 123

धर्म की प्रथम कसौटी वेद, शास्त्र तथा स्मृतियों में निर्धारित आचार तत्वों का पालन है। अतः मनु ने धर्म का विवेचन करते हुए लिखा है --

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥[1]

याज्ञवल्क्य स्मृति में बताया गया है --

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥[2]

अभिप्रायः वेद, श्रुति और स्मृति में निर्धारित किये गये धार्मिक कर्म इस लोक में कीर्ति प्रदान कर देते हैं तथा मरने के पश्चात् परलोक में सुख एवं मोक्ष को प्राप्त कराते हैं। कहने का अर्थ यह है कि मनुष्य को जो तत्व आनन्द और निःश्रेयस प्रदान कर देता है उसीको धर्म नाम से अभिहित किया जाता है। वैशेषिक धर्मसूत्र में इसीके समर्थन में बताया गया है --

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः । यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः ॥[3]

पाश्चात्य समाजशास्त्रियों के अनुसार भी धर्म एक प्रकार की आध्यात्मिक शक्ति है। उनका मत है कि धर्म का अभिप्राय आध्यात्मिक शक्ति पर विश्वास करना है। ई॰ बी॰ टेलर ने भी बताया है -- 'Religion is the belief in spiritual beings.'[4]
फ्रेजर धर्म को वह शक्ति मानते हैं जो मानवीय शक्ति से परे है और मानव जीवन को नियन्त्रित करती है।[5] मैलिनोवस्की ने धर्म को व्यक्ति और सामाजिक क्रियाओं का प्रमुख रूप कहा है। वे भी लिखते हैं -- 'Religion is a mode of action as well as system of belief and a sociological phenomenon as well as personal experiences.'[6]

----

1. मनुस्मृति अ. 2 श्लो. 12 - बीस स्मृतियाँ भाग-1 पृ 68
2. याज्ञवल्क्यस्मृति - बीस स्मृतियाँ भाग- 2 पृ. 24
3. भारतीय समाज का स्वरूप - पृ 123
4. Primitive culture E.B. Taylor P. 424
5. 'By religion I understand a propitiation or conciliation of power superior to man which are believed to direct and control the course of nature and of human life.'
Golden Bough - Frazer - p.4[illegible]
6. Magic Science and Religion and other Essays -
- Malinowski p.24

सुविख्यात समाजशास्त्री दुर्खीम ने भी धर्म को आध्यात्मिकता से संबन्धित माना है ।।[1] अध्यात्म से विश्वास, पवित्रता और नैतिकता से पृथक होकर मात्र धर्म के स्वरूप को समझा नहीं जा सकता । क्योंकि धर्म और अध्यात्म में अटूट संबन्ध रहा है । किसी भी समाज में प्रचलित धार्मिक धारणाएँ उस समाज की समाजगत विशेषताओं की प्रतीक है ।[2] धर्म का प्रमुख आधार धार्मिक आचरण ही है; यद्यपि यज्ञ, अध्ययन और दान को धर्म के आधार माने जाते है । मानव जीवन भी अल्पकालीन है । मनुष्य को इसी कारण एक दूसरे से अच्छा आचरण करना चाहिए क्योंकि आचार ही सबसे बड़ा धर्म है । इस संबन्ध में एक उक्ति भी मिलती है -- 'आचारः परमो धर्मः' ।

समाज में धार्मिक जीवन की प्रमुखतः दो धाराएँ है जैसे भक्तिधारा और कर्मकाण्डीय धारा । भक्तिधारा में प्रार्थना की प्रधानता रहती है जब कि कर्मकाण्डीय धारा में व्यावहारिक कर्मकाण्डि के द्वारा मन्त्रों के अनुकूल देवता के आह्वान पर बल दिया जाता है । व्यावहारिक कृत्यों में यज्ञ ही प्रमुख आता है । यह भी लोककल्याणक व्यवहार है जिसका विधान सामाजिक सुव्यवस्था को बनाए रखने के लिए किया गया है । यज्ञ के अवसर पर देवताओं के अंश को समर्पित करने एवं यज्ञ के अवशेष को ग्रहण करने का अभिप्राय मानव जीवन को सुखी बनाना है । वेदों और शास्त्रों का अध्ययन करना भी मानव का धर्म है । दान भी एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक कृत्य है जिससे मनुष्य का जीवन पुण्यमय हो जाता है और परलोक में मुक्ति भी मिल जाती है ।

धर्म और समाज का आपसी संबन्ध बहुत ही जटिल है । समाज तो व्यक्तियों का समूह है जिसका सामंजस्यविधान धर्म ही होता है । अर्थात् सामाजिक विकास तथा सुव्यवस्था का हेतु धर्म है । क्योंकि धर्मों से ही समाज की उन्नति संभव है । धार्मिक प्रेरणा से ही समाज

---

1. The Elementary Form of Religious Life - Durkheim - pp.216-

2. 'That the sources of religion is the society itself, the religious consciences are nothing but symbols of the characteristics of the society; that the sacred too is [illegible] in the creation, reinforcement and maintenance of social solidarity.'
Primitive Culture - [illegible] Tylor - p.423

ये तीन तत्त्वों की ओर उन्मुख रहते हैं और इसीसे समाज सहज ही आदर्श समाज का रूप ग्रहण कर लेता है । धर्म किस प्रकार समाज की भलाई करता है, इस संबन्ध में मेरा यह मत है कि धार्मिक समाज की स्थापना से केन्द्रिक निर्देशन, नैतिक शक्ति और सामाजिक नियन्त्रण स्वतः हो जायगा ।[1]

मनुष्य के लिए धर्म एक सहायक ही नहीं, अपितु एक ऐसा मित्र भी है जो मरने पर भी जीव का साथ नहीं छोड़ता । यह मानव को समय समय पर अपनी कुत्सित भावनाओं को दबाकर सही रास्ते से चलने में सहायता पहुँचाता है । यह एक ऐसा अनुशासन है जो मनुष्य को सदा अपने धर्म के प्रति कर्तव्यवान् रखता है । अतः डा. राधाकृष्णन ने लिखा है -- 'धर्म वह अनुशासन है जो अन्तरात्मा को स्पर्श करता है और हमें बुराई से संघर्ष करने में सहायता देता है । यह काम क्रोध और लोभ से हमारी रक्षा करता है, नैतिक बल को उन्मुक्त करता है और संसार को बचाने के महान् कार्य के लिए साहस प्रदान करता है ।'[2] धर्म का महत्व अर्थ और काम से भी बढ़कर है । अर्थ और काम की प्राप्ति धर्म से ही होती है । धर्मानुशासन के बिना मानवीय अर्थ और काम का स्तर पशुवत् हो जायगा । वशिष्ठ स्मृति में इसका उल्लेख भी हुआ है ।

यदा धर्मश्च भार्या च परस्पर वशानुगौ ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि संगमः ।।[3]

इससे हो कहा जा चुका है कि धर्म का महत्व उचित आचरण में ही निहित है । सभी वर्णों के लिए धर्म का सच्चा पालन करना ही हितकर है । पराशर महर्षि ने बताया है कि चारों वर्णों का आधार ही अपने अपने धर्मों के पालन का सच्चा आदर्श है -- 'चतुर्णामपि वर्णाना-माचारो धर्मपालकः' ।[4] वशिष्ठ स्मृति में भी धर्म ही व्यक्ति को समाज में आदर एवं सम्मानित

---

1. भारतीय समाज का स्वरूप - डा. सीताराम झा श्याम पृ 124
2. धर्म और समाज - डा. राधाकृष्णन पृ 49
3. भारतीय समाज का स्वरूप पृ 288
4. वशिष्ठ स्मृति - बीस स्मृतियाँ भाग 1 पृ 247

स्वर्ग प्राप्त करा देता है और इसीलिए उसे धार्मिक जीवन व्यतीत करना चाहिए । कहने का मतलब है कि धर्म के महत्व को कभी भी भुलना नहीं चाहिए । क्योंकि धार्मिक महत्ता को अस्वीकार करने पर मनुष्य के आत्मिक जीवन की भी महत्ता समाप्त हो जाएगी जिसके द्वारा मनुष्य दूसरे प्राणियों के समान निम्न स्तर का हो जाएगा । मनुष्य की श्रेष्ठता एवं पवित्रता से ही समाज भी श्रेष्ठ कहलाएगा । मनुष्य की श्रेष्ठता की रक्षा धर्म से ही संभव हो जाती है । अतएव धर्म और समाज का इतना गहरा संबन्ध रहा है कि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । जिस प्रकार अग्नि में उष्णत्व रहता है और उष्णत्व न होने पर अग्नि की कोई सत्ता नहीं रहती वैसे ही धर्म के अभाव में समाज की भी कोई सत्ता नहीं । यही नहीं यदि हमें समाज के स्वरूप का अध्ययन करना है तो उस समाज विशेष के व्यक्तियों के धार्मिक आचरणों का विश्लेषण करना चाहिए । व्यक्तियों के धार्मिक आचरणों और व्यवहारों से ही समाज कितना विकसित संतुलित और मर्यादित है, इसका पता लग जाएगा ।

धार्मिक विश्वास

भारत अपने आध्यात्मिक चिन्तन और दर्शन के लिए बहुत ही प्रसिद्ध है । पुनर्जन्म सिद्धान्त पर भी भारतीय जनता का अटल विश्वास रहा है । यह भारतीय चिन्ताधारा की एक अद्वितीय उपलब्धि है । सामाजिक विधि विधानों तथा जीवन को अत्यन्त सुव्यवस्थित तथा नियमित बनाने का उपक्रम तो इसी सिद्धान्त के द्वारा होता है । संसार का कोई भी व्यक्ति एक बार जन्म लेने के बाद मृत्यु की शरण लिए बिना नहीं रह सकता । अतः जन्म और मरण का चक्र निरन्तर चलता ही रहता है । एक बार मरकर फिर जन्म लेना ही पुनर्जन्म कहा जाता है । पुनर्जन्म सिद्धान्त का समाज पर बहुत बड़ा प्रभाव है । कोई भी व्यक्ति फलेच्छा के बिना कोई भी काम नहीं करता । मनुष्य जो भी कर्म करे उसे उसका फल जरूर भोगना चाहिए चाहे वह इसी जन्म में हो या अगले जन्म में । यह तो सर्वमान्य बात है कि कर्मानुसार ही व्यक्ति को फल भी मिलता है । अर्थात् अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा भी होता है । इसी कारण समाज में अपने को सुप्रतिष्ठित रखने की इच्छा रखनेवाले सतत अपने को बुरे कर्म करने से बचाने का प्रयास करते हैं । पुनर्जन्म में विश्वास करनेवालों की मान्यता होती है कि यदि वे बुरे कर्म करें तो उन्हें भले ही उसका फल इस जन्म में न मिल जाय तो भी अगले जन्म में

बहुत मिल जायगा। अतएव पुनर्जन्म सिद्धान्त के माध्यम से समाज में अत्याचार बहुत ही कम होंगे जिससे समाज का विकास हो जायगा। यही नहीं, मनुष्य में धार्मिक विश्वास उत्पन्न कराने का श्रेय भी पुनर्जन्म सिद्धान्त को ही है। वस्तुतः समाज में दुराचार को रोकने तथा सदाचार को बढ़ाने के लिए पुनर्जन्म सिद्धान्त को अपना बहुत आवश्यक है जो समाज में धर्मपथ को प्रशस्त करने का हेतु बन जाता है। अर्थात् पुनर्जन्म सिद्धान्त एक प्रकार से दार्शनिक तत्व होने पर भी समाज के विकास में उसका ही हाथ है, याने सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य पुनर्जन्म सिद्धान्त से बहुत कुछ प्रभावित होकर कदापि बुरे कर्म करने का ख्याल नहीं रखते।

भारतीय समाज भाग्य कर्म पर भी विश्वास करनेवाला है। जैसा कर्म होता है वैसा फल भी मिलता है। गीता में कर्मफल त्याग पर जोर दिया गया है। समाज के पढ़े लिखे विद्वानों से लेकर अनपढ़ तथा असंस्कृत लोग तक इस बात से सहमत हैं। जीवन का जय तथा विजय भाग्य पर ही निर्भर रहता है और भाग्य के अनुकूल होने के लिए अच्छे कर्म करना अत्यन्त आवश्यक माना गया है। किसी का किया कर्म इस लोक तथा परलोक में साथ देता है। 'कर्मानुगो गच्छति जीव एकः'। कर्म चाहे अच्छे हो या बुरे हो, जो एक बार किए जाते हैं उनका फल अपने आप आ जाता है और उस फल को दोनों हाथों से स्वीकार करना पड़ता है। भारतीय समाज में जीनेवाला हर व्यक्ति इस सिद्धान्त पर विश्वास करनेवाला है और वही भावना उसे सदाचार के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करती है।

भारतीय समाज पाप पुण्य में भी विश्वास करता है। चूँकि इस समाज के लोग पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं और स्वर्ग नरक की कल्पना करते हैं, इसलिए पाप पुण्य में भी उनका अटल विश्वास रहा है। जो लोग यहाँ सुख वैभव से जीवन बिताते हैं उनकी यही इच्छा रहती है कि परलोक में भी वे सुखी रहें। उनके द्वारा किये जानेवाले पुण्यकर्म परलोक के मार्ग में उनकी सहायता करते हैं। समाज में प्रचलित यह विश्वास व्यक्ति व्यक्ति को पाप से हटाकर पुण्य की ओर झुकने के लिए प्रेरित करता है। यदि कहीं अनजान में कोई पापकृत्य किसी के द्वारा हो जाता है तो तुरन्त समाज उसका प्रायश्चित्त विधान तैयार करता है और इसीके अन्तर्गत भिन्न प्रकार के पुण्यकर्म, तीर्थस्नान आदि आते हैं। भारतीय समाज में इनका भी बड़ा महत्व है।

संस्कार

भारतीय समाज का व्यवहार मुख्यतः परम्परागत संस्कारों पर ही आधारित रहता है। संस्कार का अर्थ क्या है, उसका सामाजिक महत्व क्या होता है आदि पर भी हमें पहले विचार करना पड़ता है। 'संस्कार' शब्द ही शुद्धि की क्रिया का वाचक है। इसका तात्पर्य है किन्हें ऐसे तत्वों या गुणों का ग्रहण करें जो व्यक्ति के सर्वे विकास में सहायक हों। संस्कार मनुष्य का शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक विकास करा देते हैं जिससे मनुष्य का सामाजिक जीवन को उच्चस्तर पर प्रतिष्ठित किया जाता है। दूसरे शब्दों में भी कहें, संस्कार का अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक परिष्कार के लिए किए जानेवाले अनुष्ठानों से है जिससे वह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य बन सकता है। किन्तु हिन्दू संस्कारों में अनेक प्रकार के विधि विधान, नियम और अनुष्ठान भी हैं। इनका उद्देश्य तो केवल वैदिक संस्कार ही नहीं, अपितु व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार, शुद्धि और पूर्णता भी है।

संस्कारों को कई भागों में विभक्त किया गया है। संस्कारों की संख्या के संबन्ध में विद्वानों में मतभेद है। गौतम ने संस्कारों की संख्या चालीस बताई है जब कि अंगिरस ने केवल पच्चीस। बौधायन एवं पारस्कर गृह्यसूत्रों में इनकी संख्या तेरह है किन्तु आश्वलायन के अनुसार संस्कार केवल ग्यारह ही होते हैं। वस्तुतः प्रचलित लोकीय संस्कार सोलह हैं, यद्यपि विविध ग्रंथों में इनकी संख्या भिन्न होती है। इन संस्कारों को कुल मिलाकर षोडश संस्कार कहा जाता है। ये संस्कार हैं गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन आदि।

समाज को सुसंगठित रखने में धर्म, सदाचार आदि का जितना महत्व है उतना ही संस्कारों का भी है। अर्थात् धार्मिकता एवं नैतिकता से मनुष्य महान बनता है, ठीक वैसे ही संस्कार से मनुष्य पवित्र बनता है और ऐसे पवित्र व्यक्तियों से समाज भी उन्नत बना रहता है। संस्कार ही जीवन को एक सुव्यवस्थित रूप प्रदान कर देते हैं। संस्कार मनुष्य को 'उचित' और अपने कर्तव्य की धारणा से अपने जीवनपथ से विचलित नहीं होने देते। ये मनुष्य को पतन से बचाते हैं। शैशवावस्था से युवावस्था तक पहुँचने पर व्यक्ति अपने माता पिता, सगे संबन्धों, साथी, शिक्षक, आदि के द्वारा संस्कृत हो जाता है। यानी वह अपने वर्ण या धर्म के संस्कार की ओर ध्यान देने लगता है। इसी कारण वह स्वाभाविकता या अपने को सामाजिक मूल्यों तथा मान्यताओं के अनुकूल बना देने के लिए संस्कारों का पालन करता है।

इस प्रकार संस्कार मानव जीवन में परिष्कार एवं शुद्धि पहुँचा देते हैं और मनुष्य को दैहिक पवित्रता तथा महत्व प्रदान करते हैं। यही नहीं अनेक सामाजिक महत्व की समस्याओं के समाधान में भी ये मनुष्य के सहायक बनते हैं। उदाहरणार्थ जब प्राचीन काल में स्वास्थ्य विज्ञान तथा प्रजननशास्त्र का स्वतंत्र रूप में विकास नहीं हुआ था तब संस्कार ही इन विषयों में शिक्षा के माध्यम का कार्य करते थे।[1] यह मान्यता रही थी कि जन्म-संस्कार विधि से उत्पन्न सुयोग्य एवं सुसंस्कृत बच्चे ही समाज के सच्चे आभूषण होते हैं --

प्रजनश्च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च।।[2]

वैसे ही विद्यारंभ तथा उपनयन से समावर्तन तक के सभी संस्कार शिक्षा की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। विद्यारंभ या शिक्षासंस्कार में जो कठोर अनुशासन रहता था उससे बच्चों का चारित्रिक विकास हो जाता था और उपनयन संस्कार का विधान इसलिए किया गया कि उपनयन से ही बालक विनयशील तथा चरित्रवान् बन जाते थे। अतः कहा गया है -- 'उपनयनकाले ब्रह्मचारित्वम्'। विवाह संस्कार भी अत्यन्त सामाजिक महत्व रखता है। इसमें विवाहों के प्रकारों, वधू का चुनाव तथा अन्य वैवाहिक विधि विधानों के संबन्ध में निश्चित नियमों का निर्धारण है जिससे अनेक व्यक्तिगत एवं सामाजिक समस्याओं का समाधान संभव हो जाता है। इसीसे पारिवारिक जीवन भी सुखी बन जाता है। अन्त्येष्टिसंस्कार, जिसे अन्तिम संस्कार माना जाता है, पारिवारिक तथा सामाजिक स्वास्थ्य-विज्ञान का एक विस्मयजनक समन्वय है। इस प्रकार सभी सोलह संस्कार मनुष्य के सामाजिक जीवन के विकास की क्रमबद्ध योजना का कार्य करते हैं।

संस्कार और सामाजिक व्यवस्था

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। अतः सामाजिकता मनुष्य में सर्वत्र पायी जाती है और साथ ही संस्कारों का पालन भी होता है। किन्तु देश या जातिविशेष के अपने मूल्यों और प्रतिमानों के प्रति आस्था और विश्वास उत्पन्न करने के लिए प्रत्येक समाज को प्रयत्नपूर्वक संस्कारों का निर्माण करना पड़ता है। तभी भी सामाजिक नीति और मूल्यों का विकास संभव है प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था की दृढ़ता के पीछे उनके जीवन का नियोजित और अनिवार्य संस्कार ही का

---

1. हिन्दू संस्कार- डा. राजबली पाण्डेय पृ. 35
2. तैत्तिरीयोपनिषत् - अनुवाक 9 पृ 25।

कायम रहते हैं। कहने का अर्थ है कि संस्कार प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से अन्य विविध विधानों के साथ सामाजिक व्यवस्था का पोषण करके उसको दृढ़ बनाते हैं।

समाज में वर्ण या जातिभेद के अनुसार अपने अपने संस्कार होते हैं। अतः कतिपय संस्कार प्रत्येक वर्णों या जातियों के वैशिष्ट्य के व्यंजक होते हैं। किसी एक वर्ण में प्रचलित संस्कार दूसरे वर्ण में या तो नहीं होते हैं और होते भी हैं तो उनके नियम तथा उनकी धारणाएँ परिवर्तित होती हैं। वर्णभेद के अनुसार याने वर्णक्रमानुसार संस्कारों में भी उच्चत्व और नीचत्व रहता है। अर्थात् संस्कार वर्ण वैशिष्ट्य के प्रतीक होने के नाते वर्णों की महत्ता पर भी प्रकाश डालते हैं। उदाहरणतः वर्णों में चतुर्थवर्ण माने जानेवाले शूद्रवर्ण में उच्चवर्ण के षोडश संस्कारों से मात्र विवाह संस्कार का पालन ही होता है।

भारतीय समाज में संस्कारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जन्म के पूर्व से लेकर मृत्यु तक के संस्कार समाज पर अपना प्रभाव डालते हैं। प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में संस्कारों का पालन होता रहा है। भारतीय परम्परा के अनुसार व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का विकास करना था, जिससे वह अपने को मानवीय एवं अमानवीय शक्तियों से पूर्ण संसार के अनुरूप बना ले। इस प्रयास में संस्कार ही व्यक्ति की सहायता करते थे। भारतीय संस्कारों में प्रत्येक संस्कार मानव के सामाजिक जीवन के प्रतीक हैं। अतः भारतीय समाज तथा संस्कार का संबंध बहुत ही जटिल है। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि संस्कारों के बिना कोरे भारतीय समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

वस्तुतः संस्कार सामाजिक जीवन के धार्मिक तथा प्रतीकात्मक अनुष्ठान हैं जो समाजविज्ञान की दृष्टि से भी बड़ा महत्त्व रखते हैं। संस्कारों में जो प्रतीकात्मकता रहती है वह मनुष्य में प्रतिभा का उदय कराती है और साथ ही एक ऐसी अपूर्व शक्ति उत्पन्न कराती है जो किसी भी उपयोगितावादी विधि विधानों में संभव नहीं है। अतएव प्रत्येक समाज अपने परंपरागत संस्कारों का प्रयोग करता है और कालभेद एवं स्थितिभेद के अनुसार उनमें कुछ न कुछ परिवर्तन भी लाता है। संस्कारों का इतना महत्त्व रहा है कि इनके अभाव में जीवन की घटनाएँ शरीर की दैनिक आवश्यकताओं और आर्थिक व्यापार के समान अनाकर्षक चमत्कारहीन और जीवन के भावुक संगीत से रहित हो जाती हैं।

विवाह - एक प्रमुख सामाजिक व्यवस्था

संस्कारों में सबसे अधिक महत्व विवाह संस्कार को ही मिला है। क्योंकि विवाह के बिना मनुष्य का जीवन अधूरा ही समझा जाता है। अतएव वेदों में यहाँ तक कहा गया है कि अविवाहित मनुष्य अपवित्र होगा।[1] वह यज्ञों में भाग लेने का अधिकारी भी नहीं हो सकेगा। विवाह किसी एक धर्म या जातिविशेष का संस्कार नहीं, अपितु संसार की सभी जातियों में चाहे वे सभ्य या असभ्य क्यों न हों, सदा से विवाह संस्कार चला आ रहा है और आज भी प्रचलित है। कभी कभी जातिविशेष के अनुसार उसके नियमों में परिवर्तन दिखलाई देते हैं। अर्थात् विवाह मनुष्यमात्र का एक आवश्यक संस्कार है। विवाह का उद्देश्य ही गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर संतान की उत्पत्ति करना है। ऋग्वेद में इसी तथ्य का समर्थन किया गया है कि विवाह का उद्देश्य मनुष्य को गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होना, देवकार्यों को करने का अधिकार प्राप्त करना तथा वंशानुक्रम के लिए संतानोत्पत्ति करना है। ऐतरेय तथा शतपथ ब्राह्मण में भी इसी पर बल दिया गया है। मनु ने अपत्य एवं धर्मकार्यों को करने की क्षमता, उत्तम रति, पितरों एवं अपने लिए स्वर्गप्राप्ति, इन्हीं को विवाह का उद्देश्य माना है।[2] अन्यत्र विवाह का लक्षण भी बतलाया गया है -- 'भार्यात्वकारकं कर्म, सहधर्मचारिणीसंयोगः'। किन्तु एक बात उल्लेख्य है कि किसी भी स्त्री के साथ संयोग को विवाह नहीं कहा जाता। जो धर्म के कार्यों में पति का साथ दे वही स्त्री पत्नी मानी जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि सभी स्त्रियों के साथ धार्मिक कर्म संपादित नहीं किये जा सकते। इसी तथ्य पर आधृत होकर ही भारतीय समाजशास्त्र में विवाह को एक धार्मिक बन्धन तक कहा गया है।

अतिप्राचीनकाल से ही सामाजिक संस्थाओं में विवाह को ही सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। वेदकाल से लेकर ही विवाह एक सामाजिक आवश्यकता मानी गई थी। भारतीय समाज की आवश्यकताओं में से गृहस्थाश्रम मूलतः विवाह पर ही आधृत है। क्योंकि यदि मनुष्य विवाह नहीं करता तो वह गृहस्थी नहीं बना सकता और गृहस्थी न हो तो समाज की सत्ता है ही नहीं। अतएव आश्रमधर्म को सुव्यवस्थित रखने का श्रेय विवाह को ही है। भारत सदा से

---

1. अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः। --हिन्दू विवाह की उत्पत्ति और विकास - डा. कृष्णदेव उपाध्याय - पृ. 1
2. अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा। दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ।।

एक धार्मिक संस्कार रहा है। अर्थात् भारत में कोई भी ऐसा कार्य सम्पन्न नहीं होता है जो धार्मिक नहीं कहा जाय। किन्तु धार्मिक कृत्य कोई अकेला नहीं कर सकता। कहने का अर्थ यह है कि धार्मिक कार्य सम्पन्न करने के लिए स्त्री की आवश्यकता पड़ती है, यानी विवाहित व्यक्ति को ही अपनी पत्नी के सहयोग से धार्मिक कार्य करने का अधिकार प्राप्त है। इसी कारण धार्मिक दृष्टि से भी विवाह का महत्व रहा है। इससे ही कहा जा सकता है कि संस्कार व्यक्तित्व के विकास का प्रतीक है। अतः विवाह का भी जीवन की पूर्णता का प्रबल प्रतीक होना अस्वाभाविक नहीं है। संतानोत्पत्ति कर वंश देने के कारण यह भी परंपरा का अटूट स्रोत भी माना जाता है। क्योंकि संतानोत्पत्ति से ही समाज की सत्ता को प्रतिष्ठापित रखा जा सकता है।[1] यही नहीं मानव जीवन के कुछ पूर्व की स्थितियों में अलग भाव से पारिवारिक एवं सामाजिक कार्यों का निर्वाह विवाह संबंधों से ही सम्पन्न होता है जो भारतीय समाज-व्यवस्था का उत्कृष्ट दृष्टान्त भी है। वस्तुतः विवाह व्यक्ति को सामाजिक उत्तरदायित्वों से परिचित कराता है, कर्त्तव्यनिष्ठ बनाता है तथा अर्जन एवं पोषण के प्रति सचेष्ट बनाकर समाज का अविच्छिन्न अंग बनाता है।

दहेज प्रथा

विवाह के अवसर पर कन्या को दान रूप में देते समय वर को धन देने की प्रथा को ही वरशुल्क या तिलक दहेज प्रथा कहा जाता है। किन्तु प्राचीनकाल में इस प्रथा का अभाव रहा था। प्रागैतिहासिक काल में कन्याएँ भी संपत्ति मानी जाती थीं। इसी कारण कन्या का पिता कन्याशुल्क (कन्या के बदले में वर की ओर से धन देने की प्रथा) माँगने का अधिकारी होता है। क्योंकि कन्या का धर्म अपने पिता की सेवा करना है और जब वर कन्या को अपने घर ले जाकर कन्यापिता को उसकी सेवाओं से वंचित कर देता तब इसकी क्षतिपूर्ति में उसे कन्यापिता को कुछ धन देना आवश्यक समझा गया था और यह स्वाभाविक भी था। किन्तु वर स्वयं कन्या के पिता से दहेज (वरशुल्क) लेने का ख्याल भी नहीं कर सकता था। वैदिककालीन

---

1. Marriage is a basic institution in human society of of universal occurance because of mating, home making, love and personality at the human level of biological, psychologi social, ethical and spiritual evaluation.

—Marriage and Society - [illegible] p.161

साहित्य तथा स्मृतियों में भी दहेज-प्रथा का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है, यद्यपि कन्याशुल्क का वर्णन प्रचुर मिलता है। किन्तु पिता अपनी स्वेच्छा से पुत्री को अलंकार से सुशोभित करके वर को दान में दे सकता है और कभी कभी आगत नातों को कुछ वस्तुएं उपहार के रूप में दे सकता है। लेकिन विवाह के पहले इससे संबन्धित कोई शर्त नहीं रखती और वर का दहेज मांगना कन्याओं का अपमान करने के समान समझा जाता था। यही नहीं, तिलक-दहेज के लालची समाज का सबसे भ्रष्ट व्यक्ति माना जाता था।

समय के बदलते मूल्यों के कारण तथा भौतिकवादी प्रवृत्ति को प्रश्रय देने के कारण समाज में दहेज प्रथा का प्रचलन हुआ था। शास्त्रों के अनुसार इसकी उत्पत्ति तभी हुई होगी जब कन्या का विवाह दान रूप में समझा जाने लगा था। क्योंकि शास्त्रों में ऐसा विधान बताया गया है कि किसी भी वस्तु का जब दान किया जाय तो उसके साथ दक्षिणा भी देनी चाहिए। नहीं तो दक्षिणारहित दान का कुछ भी महत्व नहीं रहता है। किन्तु यह तो पहले मात्र धनी, मानी कुलों में ही इसका प्रचलन होता था। बाद में धीरे धीरे इसका प्रसार और भी बढ़ने लगा। आज तक आते आते दहेज लिए बिना किसी भी लड़के का पिता अपने पुत्र का विवाह ही नहीं करता। लड़के पढ़े लिखे होने पर उनकी मांग भी बढ़ती है और वे बाजार की चीजों के समान बिके जा रहे हैं। इस प्रकार दहेज प्रथा के प्रचलन के कारण आर्थिक प्रायश्चित एवं धार्मिक तथा सांस्कृतिक मर्यादाएं टूटने लगती हैं। अनेक उच्चकुलजात सुकन्याओं का जीवन उनकी निर्धनता के कारण व्यर्थ हो जाता है।

नैतिकता

भारतवर्ष में अतिप्राचीन काल से ही स्पष्टतः से यह माना गया है कि मानव जीवन में नीति का बड़ा महत्व है। समाज में नैतिकता का इतना अधिक महत्व इसलिए रहा है कि व्यक्ति और उसके समूह को बनानेवाले समाज को व्यवस्थित रखने में नैतिकता का ही योगदान है। नैतिक व्यक्ति का ही समाज में सम्मान होता है और इसी कारण सभी वर्णों तथा जातियों के लिए नैतिकता का पालन अनिवार्य है। समाज के दोनों वर्ग यानी स्त्री और पुरुष के लिए नैतिकता का विधान समान रूप से निर्धारित किया गया है। प्रमुख रूप से नैतिकता के दो आधार होते हैं, वैयक्तिक नैतिकता और सामूहिक नैतिकता। व्यक्तिबोध के अन्तर्गत संस्कार, शिक्षा दीक्षा एवं

आचार विचार पर वैयक्तिक नैतिकता आधारित रहती है जब कि आधुनिक नैतिकता समुदायविशेष के निर्धारित नियम एवं क्रियाकलापों पर आधारित रहती है । वस्तुतः पूर्व में नैतिक व्यक्ति अपने जीवन को व्यावहारिक मानकर दूसरों के लिए अपना सब कुछ समर्पित कर देता है । बिना पूछे ही किसी की वस्तु पर अपना अधिकार जमाना पाप समझा जाता है । इसकी मानवता की परिभाषा ही नैतिकता पर आधृत है । मानव को अपनी युवावस्था में उत्तम संस्कृति प्राप्त करके युवावस्था जीवन व्यतीत करने के साथ ही अपने आदर्श एवं कर्तव्यों की पूर्ति करनी चाहिए । यही नहीं उसे अपनी वृद्धावस्था में त्याग तपस्या आदि से अपने इस नश्वर शरीर का त्याग करते हुए अनश्वर आत्मा के साथ मोक्ष प्राप्त करना चाहिए ।[1] वैसे तो समाज के जो नैतिक नियम होते है । धर्माचरण के प्रतिकूल चलनेवाले व्यक्ति को दण्ड देने का विधान सामाजिक नैतिकता की पराकाष्ठा व्यक्त करता है । व्यक्ति की चेतना और नैतिकता में इस प्रकार का घनिष्ठ संबन्ध है वैसा ही संबन्ध समाज और नैतिकता का भी है । अर्थात् सामाजिकता से ही नैतिकता उद्भूत होती है और यह नैतिकता तो समाज के विभिन्न आचरणों और व्यवहारों के माध्यम से ही देखी जा सकती है । नैतिक समाज के कई प्रयोजन होते है । नैतिकता की धारणा ही लोगों में कर्तव्य की भावना उत्पन्न करती है । अपने को नैतिक बनाने का ध्यान रखनेवाला प्रत्येक व्यक्ति ऐसा काम करना कभी नहीं चाहता जिससे समाज में उसका अनादर हो । इस प्रकार बहुत से लोग युग अपने को नैतिक कहलाने के हेतु कुत्सित कुरीतियों से मुंह मोड़ते है । परिणामतः ऐसे व्यक्तियों का समाज अत्यन्त आदर्शपूर्ण रहता है । व्यक्ति सदा इन तत्वों का ही अनुसरण करना चाहेगा जो अपने समाज के लिए अपेक्षणीय है । सामाजिक प्राणी होने के नाते व्यक्ति को सामाजिक हित का ध्यान रखते हुए नैतिक व्यवहार करने की कोशिश करनी चाहिए ।

---

1. 'First manhood is that which is consecrated to the highest culture in youth and devoted to the loftiest duties and delights of life in manhood and as is full of the script of meditation and renunciation in old age and capable of giving up the body by Yoga.'

Kalidas - Part III - Ramaswami Sastri - p.212

सदाचार

सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन का प्रमुख आधार सदाचार ही है । सदाचार की महत्ता पुराणों में भी उल्लिखित है ।

साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः ।
तेषामाचरणं यत्तु सदाचारस्स उच्यते ।।[1]

अर्थात् जो सत्पुरुष हैं वे दोषरहित पवित्र व्यक्ति हैं, उनके आचरण को ही सदाचार कहते हैं । नैतिकता की तरह सदाचार में भी देश काल के अनुसार भिन्नता रहती है । सदाचार को मुख्यतः तीन रूपों में विभक्त किया जाता है जैसे कुल-सदाचार, जातिसदाचार और देशसदाचार । परम्परागत रूप से किसी कुलविशेष में आचरण किए जानेवाले कर्तव्यों का पालन कुल सदाचार में किया जाता है । जातिविशेष मात्र के लिए निर्धारित किए गए नियम व कर्तव्य जातिसदाचार के अन्तर्गत आते हैं जब कि किसी निश्चित समाज और उसके सीमित देश को आदर्श बनाने की जो धारणाएँ हैं वे ही देशसदाचार के नाम से अभिहित की जाती हैं । अर्थात् सदाचार, चाहे वह जाति का हो, कुल का हो या देश का हो क्यों न हो, सभी धर्मों का मूल हेतु है । इसीलिए कहा गया है --' 'आचारो परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः '।[2] क्योंकि सदाचरण ही व्यक्ति को महान बनाता है उसके विरुद्ध यदि किसी के आचरण में शिथिलता या विमुखता का अभाव है तो उसको वो महत्वहीन बन जाता है और ऐसे व्यक्ति समाज के लिए बोझ हो हैं जिसका भार वहन करना समाज नहीं चाहता । जिस प्रकार सोने में चमक, फूल में महक, न रहने के कारण उसका कोई मूल्य न रहता वैसे ही आचरणहीन व्यक्ति का समाज में कोई मूल्य नहीं रहता है ।

छोटों का बड़े लोगों की बड़ी श्रद्धा से सेवा करना, पत्नी का पतिसेवा की तरह धर्म मानना आदि तो सदाचार के ही लक्षण हैं । वस्तुतः मानव के संपूर्ण जीवन को सदाचार-समन्वित बनाना महत्व की बात है और इसका निर्देशन भारतीय दर्शन में भी मिलता है । जिस समाज में अनुशासित मनुष्य रहते हैं वह समाज आदर्शपूर्ण रहता है । अर्थात् आत्मानुशासित मनुष्यों से ही सामाजिक जीवन आदर्शपूर्ण बन जाता है । व्यक्ति का आत्मिक विकास सदाचार पालन से ही संभव है । अतः लोगों को अनाचार नहीं करना चाहिए । अनाचार पापों को जन्म देता है और व्यक्ति के विनाश का भी कारण बन जाता है । यदि कोई बड़े व्यक्ति सदाचार के विरुद्ध आदेश दे तो उसका पालन नहीं करना चाहिए यद्यपि बड़ों का सम्मान करना पड़ता है ।

---

1. विष्णुपुराण भाग-2 अ. 11 पृ 416
2. वसिष्ठ स्मृति - बीस स्मृतियाँ पृ 264

वस्तुतः धर्म, नैतिकता और सदाचार, ये तीनों धारणायें मनुष्य को अपने सामाजिक जीवन में सफलता प्रदान करने में सहायता प्रदान करती हैं और इन्हीं के पालन से समाज भी अपने आप आदर्शपूर्ण बनकर प्रगति की ओर अग्रसर होता है ।

हिन्दी तथा कोंकणी समाज

भारतीय समाज का प्रारंभ वैदिक काल से माना जाता है। वैदिक काल से लेकर आज तक यह समाज एक संस्था के रूप में चलता आया है । इसमें विभिन्न भाषाभाषियों के अपने अपने समूह होते हैं जिनके मूल में भारतीय समाज का आधार तत्व ही निहित है । बाहरी भिन्नताओं के रहते हुए भी यह आन्तरिक एकता भारतीय समाज की विशेषता है ।

वैसे तो हिन्दी तथा कोंकणी भाषा भाषियों का अपना अपना समाज होता है । दोनों समाजों में व्यक्ति को समाज का अविच्छेद्य अंग माना जाता है । व्यक्तियों के एक दूसरे के बीच के संबन्ध को लेकर ही दोनों भाषाभाषियों का सामाजिक संगठन हुआ है । किसी भी समाज में सामाजिक आदर्शों का होना जरूरी है । प्रत्येक समाज की उन्नति उस समाज के आदर्शों के मूल आधार में ही निहित है । मानव जीवन को आदर्शपूर्ण बनानेवाले कई तत्व समाज में देखने को मिलते हैं जिन्हें सामाजिक आदर्शों के अन्तर्गत रखा जा सकता है । इन सामाजिक आदर्शों के भी कई रूप होते हैं, जैसे बड़ों का आदर करना, माता पिता तथा आचार्य की सेवा करना, सत्य वचन, त्यागभावना, दानशीलता, परोपकारिता आदि । कोंकणी समाज में उम्र में बड़े तथा माता पिता आदि एवं गुरुजनों का आदर तथा उनकी सेवा करना जीवन में सफलता प्राप्त करने का माध्यम माना जाता है । माता के रूप में स्त्री को इसमें महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है । वैसे ही हिन्दी समाज में भी इस तथ्य की ओर प्रधानता दी जाती है । इसके मूल में भारतीय सामाजिक कल्पना ही काम करती है । ऋग्वेद के 'असत्य वादी अधःपतित हो जाता है' वाले कथन को हिन्दी तथा कोंकणी समाज में मान्यता देते हुए सत्यवचन एवं उसकी महत्ता को समझाते हुए लोगों को कई प्रकार से शिक्षा दी जाती है । वैसे ही अन्य आदर्श तत्वों की ओर भी दोनों समाज सतर्क रहते हैं ।

एक ही समाज में रहनेवालों के आचरण में समानता हो, यह कोई जरूरी बात नहीं । इसीलिए सामाजिक वर्गीकरण की आवश्यकता पड़ती है जिससे व्यक्तियों का वर्गीकरण भी संभव हो जाता है । यह वर्गीकरण मुख्यतः वर्ण तथा पेशे पर ही आधारित है । वर्णानुसार

वर्गीकरण में हिन्दी समाज में प्रमुख रूप से चार वर्ण मिलते हैं जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनमें ब्राह्मण वर्ण को ही समाज में सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त है। समाज के पौरोहित्य का दायित्व उन्हीं के कन्धों पर सौंपा जाता है। क्षत्रिय वर्ण के लोगों का कर्तव्य अन्य वर्णों की तथा देश की सेवा माना गया है। वर्तमान काल में क्षत्रिय वर्ण के लोग हिन्दी समाज में 'राजपूत' नाम से जाने जाते हैं। वैश्य वर्ण भी कृषिजीवी होते हैं और व्यापार धंधे के रूप में ही समाज में उनको चित्रित किया गया है। चतुर्थ वर्ण शूद्र को हिन्दी समाज में सबसे नीचा स्थान दिया गया है और अन्य तीनों वर्णों की सेवा उनका कर्तव्य भी माना गया है। वर्ण-विभाजन के साथ ही जातिसंबन्धी वर्गीकरण भी हिन्दी सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त रहा है। इसके अनुसार समाज में कई जातियाँ मिलती हैं जैसे सुनार, कुम्हार, लुहार, चमार, धोबी, नाई, बढ़ई आदि। समाज में प्रत्येक जाति को अपने पेशे से संबद्ध माना है। हिन्दी समाज के समान कोंकणी समाज में चातुर्वर्ण्य की स्थिति देखने को मिलती है। इसमें भी ब्राह्मणों को ही वर्णों में उच्च स्थान दिया गया है और शूद्र को नीच। लेकिन हिन्दी समाज की तरह क्षत्रिय वर्ण का साफ रूप से उल्लेख नहीं मिलता है यद्यपि वर्णव्यवस्था में क्षत्रिय का भी नाम आता है। पेशे के आधार पर जातियों का वर्गीकरण भी इनकी सामाजिक व्यवस्था में मिलता है।

भारतीय समाज में सामाजिक संस्था के रूप में परिवार का जो स्थान है वही स्थान हिन्दी तथा कोंकणी दोनों समाजों में भी उसे प्राप्त है। दोनों के परिवार में पिता को ही प्रमुख स्थान दिया जाता है। पिता की संपत्ति का उत्तराधिकार पुत्र को ही दिया जाता है। कोंकणी समाज में उत्तराधिकार संबन्धी यह विधान रहा है कि किसी परिवार में संपत्ति का उत्तराधिकारी न होने पर वह संपत्ति मन्दिर के अधिकारियों के हाथों में जाती है और इस संपत्ति से उनके श्राद्ध तथा मृत्यु के पश्चात् के कर्म संस्कार संपन्न किये जाते हैं।[1]

धर्म की ओर झुकाव हिन्दी और कोंकणी समाज में एक ही हद तक समान है। यहाँ भी दोनों समाज धार्मिकता को निभाते रहे हैं। धर्मानुसार आचरण करना ही दोनों समाज श्रेयस्कर मानते हैं। हिन्दी समाज में वैष्णवों की ही अधिकता रही है। कोंकणी समाज में वैष्णवों के साथ शैवों का भी उल्लेख मिलता है। फिर भी वैष्णव धर्म को अपनानेवाले ही अधिक मिलते हैं। धर्मानुसार आचरण करनेवाले इन समाजों में धार्मिक संस्कारों का बड़ा महत्व है। हिन्दू शास्त्रों में बताए गए सोलह संस्कारों का आचरण इनमें होता है यद्यपि इन संस्कारों के विधान में दोनों समाज एक दूसरे से पृथक होते हैं। [illegible] आचरण व व्यवहार में दोनों समाज भारतीय

1. Tribes and Castes of Cochin - L.K. Anantha Krishna Iyer ; P. 354

सामाजिक व्यवस्था के अंग है । क्षेत्र मे हिन्दू तथा बोक्सा समाज मे अपने धार्मिक , सांस्कृतिक पारिवारिक एवं नैतिक तत्वो मे छोटी मोटी भिन्नताओ के रहते हुए भी अपने मूल मे समानता ही देखने को मिलती है । दोनो के सामाजिक जीवन की झाँकी उनके लोकसाहित्य मे भी दिखाई पड़ती है । आगामी अध्यायो मे इसी पर विचार किया जायगा ।

निष्कर्ष

भारतीय समाज लौकिकता पर बल देते हुए भी पारलौकिक तत्वो को भी अपने मे समेटता हुआ निवृत्ति-मार्ग पर अग्रसर है । यही धार्मिक एवं आध्यात्मिक जीवन प्रबल रहा है । भारतीय समाज के पारिवारिक संगठन एवं परिवार के सदस्यो के आपसी व्यवहार मे भी यह बात स्पष्ट होती है । पापपुण्य , कर्मधर्म , पुनर्जन्म आदि मे विश्वास करनेवाला भारतीय समाज मुक्तिमार्ग को प्रमुखता देकर आगे बढ़ता है । नैतिकता एवं सदाचार का पालन इस समाज मे विशेष तौर पर होता है । हिन्दू और बोक्सा समाज इसी भारतीय समाज के प्रतिरूप माने जा सकते है ।

दूसरा अध्याय

लोकसाहित्य एवं समाज

लोकसाहित्य एवं समाज

समस्त संसार के व्यक्तिगत सत्य का मूल्य उस सामान्य धरातल पर रखकर ही निर्धारित किया जा सकता है, जहाँ व्यष्टि और समष्टि की सीमाएँ एकाकार हो जाती हैं। संसार में व्यक्ति अकेला नहीं रह सकता। वह एक समूह में रहने का आग्रह रखता है जिससे वह समूह समाज के रूप में बदल जाता है। समाज की स्थापना के पश्चात् व्यक्ति और समाज का कोई पृथक अस्तित्व नहीं रहता। व्यक्ति की जो सभ्यता, संस्कृति और विचारधाराएँ हैं उनका प्रसार समाज में होता है और वे विचार और आदर्श व्यक्तिगत मूल्य को छोड़कर सामाजिक मूल्य को ग्रहण कर लेते हैं। वे सामाजिक विचार ही जनता के साहित्य में, विशेषतः लोकसाहित्य में प्रतिफलित होते हैं।

'लोक' शब्द

'लोक' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। यह शब्द अपने में व्यष्टिगत नहीं, बल्कि समष्टिगत भाव ही लिए हुए चलता है। इस शब्द को सुनते ही एक तरह का समूहबोध उभर आता है। जब मनुष्य ने अपनी वैयक्तिकता की उपेक्षा कर सामाजिक कल्याण की ओर अपने को प्रवृत्त किया तो लोकहित की भावना भी प्रचलित होने लगी और इस लोकभावना के उद्गम पर यदि विचार किया जाय तो वह बहुत पुराने समय तक हमें ले जाती है। वेदों में तो 'लोक' शब्द आता है, लेकिन इसका उतना व्यापक अर्थ नहीं मिलता जितना कि आज प्रचलित है। वहाँ 'लोक'शब्द वेदेतर अर्थ का सूचक था। किन्तु कालान्तर में 'लोक' शब्द अपने संकुचित अर्थ की सीमा तोड़कर व्यापक अर्थ का वहन करते हुए वेद के तुल्य ही अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का अधिकारी हो गया। शब्दकल्पद्रुम के अनुसार जनसामान्य के लिए इस शब्द का प्रयोग होता है।[1] महाभारत तक आते आते 'लोक' शब्द में लौकिक नियमाचारों का भी समावेश होने लगा। बौद्ध धर्म के विकास में भी 'लोक' शब्द मानवीय उत्कृष्टताओं के बोधक के रूप में माना गया है। प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य में 'लोकजत्ता' (लोकयात्रा); 'लोकप्पवाय' (लोकप्रवाद) जैसे जो शब्द मिलते हैं उनमें लौकिक आचारों का महत्व ही प्रकट होता है।[2] 'लोक' शब्द के कई रूप हैं जो समस्त

---

1. शब्दकल्पद्रुम - भाग - 4 2. लोकगीतों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि - विद्या चौहान पृ.

संसार में परिव्याप्त है । संसार के समस्त मानवसमुदाय , मानवीय क्रियाकलाप तथा विचार-परम्परायें 'लोक' में समाहित हैं । अतः इसे देश काल की सीमाओं से सर्वथा असम्पृक्त सामाजिक विकास की एक प्रगतिशील चेतना के रूप में स्वीकार किया गया है । इस अर्थ में 'लोक' शब्द का समाज विशेष से गहरा सम्बन्ध रहा है । यह तथ्य आगे के विवेचन से और भी स्पष्ट हो जायगा ।

हिन्दी में 'लोक' शब्द अंग्रेजी के 'फोक' शब्द के पर्याय के रूप में आता है । 'फोक' के सम्बन्ध में सूसी मार्गेट का मत है --'ये लोग संस्कृति , शासक वर्ग की विचारधारा या लिखित प्रमाणवाली शक्तियों से असम्बन्धित रहते हैं ।'[1] प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी 'लोक' शब्द का अर्थ करीब इसी ओर इंगित करता है । चार्ल्स हर्मन भी एक हद तक इसी तथ्य पर जोर देते हैं । उनका कहना है --'फोक' वह समूह है जिसमें नगर की सांस्कृतिक ,आर्थिक और शिक्षामूलक विशिष्टता कम अभिव्यक्त होती है और जहाँ जीवनगत विशिष्टता , रीति नीति, धर्म , सारे समूह में समान रूप से एक जैसे प्रचलित रहते हैं ।'[2] इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में भी 'लोक' शब्द के इसी अर्थ पर बल दिया गया है ।[3] ऊपर उद्धृत सभी व्याख्याओं से स्पष्टतः विदित होता है कि 'फोक' अथवा 'लोक' शब्द मात्र किसी असभ्य , अविकृत या अविकसित समूह के लिए ही प्रयुक्त किया जाता है । किन्तु 'लोक' शब्द का अर्थ मात्र असभ्य जनसमूह में ही संकुचित नहीं रह सकता । उसका तो व्यापक अर्थ है और राष्ट्र के समूचे जनसमुदाय 'लोक' के अन्तर्गत आते हैं तथा उनसे संबन्धित विचारधारा को लोकविचार कहा जा सकता है । अतः डा. सत्यव्रत सिन्हा ने लिखा है --''लोक' शब्द का भारतीय अर्थ बहुत व्यापक है । हमारा 'लोक' पाश्चात्य देशों का 'फोक' नहीं है अपितु देश की समूची संस्कृति एवं सभ्यता ही हमारी लोकसंस्कृति एवं लोकसभ्यता है ।'[4] कहने का मतलब यह हुआ कि 'लोक' को व्यापक भावभूमि से किसी ग्रामांचल या नगरांचल की संकुचित सीमा में घेरे रखना अनुचित है ।

---

1. ग्रीक फोक वायसेज - सूसी मार्गेट पृ 16
2. दी स्टान्डर्ड डिक्शनरी आफ फोकलोर, मिथालाजी एण्ड लेजेण्ड - वालियम -2 पृ. 1033
3. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका
4. भोजपुरी लोकगाथा - डा. सत्यव्रत सिन्हा (भूमिका से)

द्वारा प्रतिफलित होकर लोकवार्ता के रूप में नई अभिव्यक्ति प्राप्त कर लेते हैं । इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लोकवार्ता को जन्म देनेवाली जो लोकप्रवृत्ति है उसका संबन्ध तो लोकमानस से ही होता है । दूसरे शब्दों में यों कहिए कि लोकमानस से ही लोकवार्ता का जन्म होता है और लोकसाहित्य के प्रसंग में इसका तो बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है । लोकसाहित्य के मूल तत्वों में लोकमानस को इसलिए अनिवार्य तत्व माना गया है कि लोकसाहित्य तो परंपरागत मौखिक साहित्य है । यह पूर्वजों के दाय के रूप में ही आज तक चला रहा है । वैसे ही लोकमानस भी हमें दाय में ही प्राप्त होता है और वह अवचेतन मानस में ही हो जाता है । लेकिन अवचेतन मानस के दो भेद होते हैं जैसे सहज अवचेतन या उत्तराधिकारीय मानस और उपार्जितावचेतन जिनमें से सहज अवचेतन या उत्तराधिकारीय मानस ही लोकमानस है । श्री हर्बर्ट रीड ने 'इन्हेरिटेड पैटर्न' याने उत्तराधिकार में मिलनेवाले मानस को ही लोकमानस माना है ।[1] यही इन्हेरिटेड पैटर्न' हमारा लोकमानस है ।

उत्तराधिकारीय मानस के निर्माण में आदिम उत्तराधिकरण और ऐतिहासिक उत्तराधिकरण जैसे दो तत्व निहित हैं । आदिम उत्तराधिकरण तो वही है जो प्राकृतिक दाय के रूप में मानवकुल को प्राप्त हुआ है । आदिम काल से होकर आज तक उसी प्राकृतिक आदिम मानसिक संस्थान के ढांचे में पुष्ट होकर ऐतिहासिक क्रम में विविध देशकाल और संस्कृतियों के विकास से उपलब्ध मानसिक संस्कार, जो आज हमारे बुद्धि और प्रकृति के मूल में अलक्षित विद्यमान मिलते हैं, वही ऐतिहासिक उत्तराधिकरण मानस है ।[2] लोकमानस के संबन्ध में यह भी प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि उसे उत्तराधिकारीय मानस कहा जाता है तो सामान्यतः वह व्यक्तिगत है या सामूहिक लोकमानस को उत्तराधिकारीय के रूप में स्वीकार करने पर वह व्यक्तिगत लगता है । लेकिन व्यक्ति की सत्ता कालक्रम में सामाजिक सत्ता में बदल जाती है । मानव सत्ता का अर्थ उसके मानस की सत्ता की स्थिति भी हो सकता है । अतः मानव मानस सामान्य मानवधर्म के रूप में विद्यमान है जिसे 'लोकमानस' नाम से अभिहित किया जाता है । अर्थात् लोकमानस मात्र व्यक्तिगत नहीं है, अपितु व्यक्तिगत रूप में भिन्न होकर भी वह सामान्य मानस है जिसके कारण प्रत्येक व्यक्ति का मानस 'मानव' कहलाता है और जिसके कारण मानव मानव के लिए [illegible]

---

1. Such lights come, of course, from the latent memory of verbal images in what Freud calls the pre conscious state of mind or from still obscurer state of the unconscious on which are hidden not only the neural traces of repressed sensations, but also those inherited patterns which determine our instin
—Form of Modern Poetry —Herbert Read p. 36,37

2. लोकसाहित्य विज्ञान - डा' सत्येन्द्र पृ.

हो जाता है । इसी अर्थ में यह सामूहिक भी है क्योंकि समस्त मानवसमूह में अपनी सामान्यता के कारण यह धर्म के रूप में विद्यमान प्रतीत होता है और आज लोकवार्ताविदों ने यह सिद्ध कर दिया है कि जनमानस समान मानसधर्म रखता है ।[1] कहने का अर्थ है कि लोकमानस का उद्घाटन किसी व्यक्ति के द्वारा नहीं होता । यह मानव व्यक्ति में उपस्थित रहते हुए भी इस मानस की सभी अभिव्यक्ति के माध्यम से ही प्रतिफलित हो जाती है । दूसरे शब्दों में लोकमानस वाक् के माध्यम से अभिव्यक्त होकर लोकसाहित्य में परिणत हो जाता है ।

लोकमानस पर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि लोकमानस और मानव प्रकृति दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं । मानव प्रकृति तो मनुष्य के स्वरूप का आवरणमात्र है जिसमें उसका मानस एक अंग मात्र है । अर्थात् प्रकृति ही मानव प्रकृति का निर्माण तत्व है और उसीके मूल स्वरूप के अनुसार मानव मानस भी अपना रूप धारण कर लेता है तथा प्राकृतिक विकास के साथ अपने आप बदलता रहता है । लेकिन अपनी मूलभूत सीमाओं या तत्वों को बिना त्यागते हुए यह युग युगान्तरों से चला आ रहा है । इस तथ्य पर जोर देते हुए कहा गया है --'यह आदिम मानस (प्रिमिटीव माइंड) नहीं है, और जनमानस भी नहीं । यह तो मात्र वह प्रकृति आदिम मूलभूत मानस है जो ऐतिहासिक या भौगोलिक स्थितियों के परिणाम को किसी भी रूप में ग्रहण नहीं करता ।'[2]

---

1. The psychological basis of cultural traits is identical among all races, and similar forms develop among all of them. The similarities of culture the world over ...justify this assumption of a fundamental sameness of the human mind regard of race. ---The mind of primitive man --Madeson Grant, p.33-

2. लोकसाहित्य विज्ञान - डा. सत्येन्द्र पृ 54

लोकमानस किसी खास जाति से संबन्धित नहीं है। इसका तो सकल मानवजाति से ही संबन्ध रहता है। मानवप्रकृति के संबन्ध में यही कहा जाता है कि मानवस्वभाव में कोई खास अन्तर नहीं रहता। मूलतः मानव प्रकृति सभी मनुष्यों में एक ही तरह व्याप्त है और इसी कारण अपने आचार विचार तथा रीति रिवाज के प्रति भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रखनेवालों का समाज के प्रति समान दृष्टिकोण होता है। उनके लोकानुभव भी एक ही होते हैं और उन्हीं के प्रतिक्रिया शक्ति उनके मानस से प्रतिफलित होकर लोक में व्याप्त रहती है।

लोकमानस किसी एक व्यक्ति तक सीमित नहीं रहता, अपितु वह सर्वव्यापी, एवं देशव्यापी होता है। अर्थात् मात्र व्यक्ति से लोकमानस संबन्धित नहीं रहता, अपितु सकल मानवसमाज से उसका अटल संबन्ध है। इसलिए लोकसाहित्य के संदर्भ में समाज का बड़ा स्थान है। लोकमानस में जो लोकतत्व निहित है वह धीरे धीरे व्यक्तिगत स्तर से सामाजिक स्तर पर पहुँचता है। व्यक्ति और समाज को एक दूसरे से पृथक करना कठिन है। इन दोनों के बीच चोली दामन का संबन्ध रहता है। समाज से अलग होकर व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं रहता और व्यक्ति से अलग होकर समाज का भी नहीं। इसलिए लोकमानस जो मूलतः व्यक्ति से संबन्धित है वह अवश्य ही समाज से भी संबन्धित रहता है। यही संबन्ध लोकसाहित्य का स्वरूप निर्धारित करता है।

लोकसाहित्य एवं जनजीवन

मानवजीवन में लोकसाहित्य का भी उतना ही महत्वपूर्ण स्थान है जितना शिष्ट साहित्य का होता है। इसका कारण है कि जनजीवन का जितना सच्चा तथा स्वाभाविक चित्रण लोकसाहित्य में होता है उतना अन्यत्र नहीं। किसी भी समाज या जाति का वास्तविक अध्ययन करना है तो उस समाज में प्रचलित लोकसाहित्य का अध्ययन ही पहले ग्रहण करना होगा। क्योंकि इतिहास के लिए भी अज्ञात तथ्यों का उद्घाटन लोकसाहित्यों में होता रहता है। मानवसमाज की सभी सामाजिक स्थितियों के असली रूप की अभिव्यक्ति ही लोकसाहित्य में होती है। सामाजिक संस्थाओं तथा संस्कारों का जो वर्णन लोकसाहित्य में उपलब्ध होता है उससे संपूर्ण समाज का चित्र लोगों के हृदय पटल पर सदा के लिए अंकित हो जाता है। स्थानीय एवं जातीय रीति रिवाज प्रथा तथा आचार विचारों का अध्ययन भी इसी साहित्य द्वारा संभव हो सकता है। धार्मिक दृ

से भी लोकसाहित्य का कम महत्व नहीं है । जनसामान्य का धार्मिक चिन्तन किस प्रकार का है , उनके बीच देवाराधना का क्या स्थान है , व्रत त्योहारों का विधान कैसा है , इन सबका वर्णन लोकसाहित्य में बिना किसी कृत्रिमता के ही हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है । लोकसाहित्यमें उपलब्ध लोककथाओं तथा लोकगीतों द्वारा पुराण शास्त्र तथा दूसरे विषयों पर भी प्रकाश पड़ता है

धार्मिक महत्व के साथ ही लोकसाहित्य का नैतिक महत्व भी है । लोकसाहित्य के विभिन्न अंगों के अध्ययन से हम इस बात का पता लगा सकते हैं कि उस विशेष समाज का नैतिक मूल्य किस स्तर का है । अर्थात् तत्कालीन लोगों का चरित्र , सदाचार , व्यवहार आदि का विवेचन उनके लोकसाहित्य से हो सकता है । समाज में व्याप्त आदर्श नारी का विशुद्ध रूप , पिता का स्नेह , पुत्र का अनुराग , भाई-बहन का पवित्र संबन्ध आदि की उत्कृष्ट झाँकी लोकसाहित्य में एक ओर मिलती है तो दूसरी ओर इन्हीं संबन्धों में आनेवाली विकृतियों पर भी प्रकाश है । कहीं कहीं नैतिक उत्कर्ष मिलता है तो कहीं कहीं नैतिक अपकर्ष । इस प्रकार लोकसाहित्य सच्चे अर्थ में मानवजीवन के सत्य को तौलता रहता है । लोकसाहित्य का आर्थिक महत्व भी है । किसी समाज में व्याप्त आर्थिक व्यवस्था का चित्रण उसके लोकसाहित्य में अवश्य ही होता है । इसीलिए कहा गया है कि जहाँ लोकसाहित्य में धनधान्यपूर्ण सम्पन्न समाज में 'सोने की थाली' में 'छप्पन प्रकार के व्यंजन' परोसने का वर्णन होता है । वहीं दरिद्रताग्रस्त परिवारों का नित्य निराहार दिन काटने की करुणापूर्ण स्थिति का भी उल्लेख मिलता है ।[1] लोकसाहित्य में संस्कृति का भी उद्घाटन होता है । मानवसंस्कृति का सच्चा स्वरूप इसमें ही झलकता है । लोकमानस के सांस्कृतिक विकास के उतार चढ़ाव का प्रामाणिक मानचित्र जैसे लोकसाहित्य में प्राप्त होता है वैसे अन्यत्र नहीं ।

भाषागत दृष्टि से लोकसाहित्य का महत्व सर्वाधिक है । भाषाशास्त्रियों के लिए यह तो अमूल्य निधि है , क्योंकि किसी भाषा के विकास में आए हुए परिवर्तन का अध्ययन लोकसाहित्य के जरिये आसानी से संभव होता है । शिष्ट या सभ्य भाषा के लिए अज्ञात कई शब्द भी लोकसाहित्य में प्रयुक्त होते हैं जिनसे अनेक शब्दों की विकासपरंपरा के संबन्ध में पता चल सकता।

---

1. लोकगीतों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि --विद्या चौहान पृ. 67

इस प्रकार कम शब्दों के प्रयोग से प्रत्येक भाषा की भाषावैज्ञानिकता अधिक हो बढ़ जायेगी और उस भाषा के साहित्य की भी अभिवृद्धि होगी , उसका भाषाशास्त्र अत्यन्त सदा समृद्ध हो रहेगा । अतः डा. सुनीतिकुमार चटर्जी ने ठीक ही लिखा है --'जो लोग लोकसाहित्य का संग्रह करते रहे हैं वे सच्चे भाषाशास्त्रियों के लिए अमूल्य सामग्री उपस्थित कर रहे हैं ।'[1] लोकसाहित्य के विभिन्न अवयवों , लोकगीतों , कथाओं , कहावतों और मुहावरों में जो विपुल शब्दसंपत्ति छिपी पड़ी है उसे शब्दविज्ञान को बड़ी सहायता होगी है जो भाषाशास्त्र के विद्वानों के लिए स-उर्वर प्रदान कर देती है । यह संचित एक ऐसा अक्षय कोश है जिसका प्रयोग कभी चुक नहीं सकता । लोकगीतों की प्रचुरता पर विचार करते हुए ग्रियर्सन ने लिखा है कि ये लोकगीत उस खान के समान है जिसके खोदने का कार्य अभी प्रारंभ नहीं हुआ है । इन गीतों की प्रत्येक पंक्ति में ऐसी विशेषता है जिससे भाषाशास्त्र संबन्धी अनेक समस्यायें हल की जा सकती है ।[2]

वस्तुतः लोकसाहित्य सभी दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इसकी महत्ता के विभिन्न पहलुओं को लेकर विद्वानों ने अपने मत प्रकट किये है । स्पेनिश मार्टिनेगो ने लोककथाओं को कहानियों का जनक माना है और लोकगीत को समस्त कविताओं की जननी ।[3] उनके अनुसार --'लोककाव्य व्यक्तिगत या सामूहिक तीव्र भावों के प्रकाशन है । लोकगाथा और कथाओं का स्रोत राष्ट्रीय जीवन के अन्तराल से निःसृत होता है । जनता का हृदय इन गीतों और गाथाओं से ओतप्रोत रहता है । ऐसा भी समय आता है जब कि जाति या राष्ट्रीयता की अतिशय भावना ने संपूर्ण राष्ट्र को लोककवि के रूप में परिणत कर दिया है ।'[4]

---

1. लोकसाहित्य की भूमिका - डा. कृष्णदेव उपाध्याय पृ. 257
2. The Bhojpuri folk songs are a mine almost entirely unworked and there is hardly aline in one of them which ,if publishe now ,will not give valuable ore,in the shape of an explanation of some philological difficulty. - लोकसाहित्य की भूमिका डा० कृष्णदेव उ
3. The folk tale is the father of all fiction and the folk song is the mother of all poetry .--Essays in the study of folksongs
4 . Populer poetry is the reflection of moments of strong collec or individual emotion.-- The sprigs of legend and poetry issu from the deepest wells of national life,the very heart of po is laid bare in its sagas and songs . There have been times when a profound feeling of race and patriotismhas sufficed t turn awhole nation into poets.--Essays in the study of folk songs -Martingo p .3

लोकसाहित्य सामान्य जनता का दर्पण है जिसमें अखिल तथा विराट मानवजाति को वह प्रतिबिम्बित कर देता है । लोकसंस्कृति की अनुभूति तथा दिव्य झलक इसे छोड़कर और किसी साहित्य में भी नहीं मिलती है । इसमें शिक्षित समाज तो स्वच्छ , सदाचारी एवं सर्वश्रेष्ठ है जिससे मानव को शिक्षा मिलती है । इसमें जिस नीति की प्रतिष्ठा की गई है वह कल्याणमार्ग की ओर ले जानेवाली है जो मंगलमय सार्वभौमिक भी है । लोकसाहित्य में शिक्षित एवं मानवजाति के जीवन में प्रेम और सदाचारपूर्ण बर्ताव का उपदेश देता है , जब कि लोकसाहित्य में जिस आर्थिक संगठन का उल्लेख मिलता है उससे समाज में व्याप्त निम्न स्तर की आर्थिक व्यवस्था के दर्शन होते हैं। लोकसाहित्य में प्रस्तुत राजनैतिक चित्रांकन समाज के दलीय संघर्ष और विषाक्त वातावरण से कोसों दूर जाने की सीख देता है । संक्षेप : लोकसाहित्य का संसार भर में शिष्टसाहित्य के समान ही महत्त्व है । इसमें यथार्थ तथा आदर्श का इतना सामंजस्य रहता है ? जब कि शिष्ट साहित्य या तो केवल यथार्थवादी रहता है या केवल आदर्शवादी । लोकसाहित्य में यहाँ किसी परिवार के सदस्यों के आदर्श चरित्र का चित्रण हुआ है , वहीं उन्हीं के बीच मौजूद यथार्थ का वर्णन , जैसे ननद-बहू , सास-बहू आदि के आपसी विरोध [illegible] के सम्यक विवेचन भी प्राप्त ही होता है । यहाँ सुखी तथा ऐश्वर्यपूर्ण समाज का चित्र उभर आता है वहीं अभावग्रस्त एवं निर्धन समाज का भी । इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि मानवजीवन के साथ लोकसाहित्य का बहुत ही निकटतम संबन्ध है । मानव का जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण है , उसकी जो मानसिक स्थिति है, इन सबका सम्यक ज्ञान: ज्ञान लोकसाहित्य से ही प्राप्त होता है । अतः लोकसाहित्य जनजीवनदर्शन का दर्पण है ।

सामाजिक जीवन एवं लोकसाहित्य

लोकमानस से ही लोकवार्ता का जन्म होता है । लोकमानस तो आदिम मानव का अवशेष है और उसी अवशेष की अभिव्यक्ति लोकवार्ता है । लोकाभिव्यक्ति[illegible] दूसरा समाज की सत्ता का पहचान ही लोकवार्ता में होती है ।[1] 'लोकवार्ता' के 'लोक' तथा 'वार्ता' दोनों शब्द भारत में अतिप्राचीन है तथापि अत्याधुनिक प्रयोग में उसे अंग्रेजी के 'फोकलोर' के पर्यायवाची शब्द के

---

1. The business of this society (folklore society) is to seek to kn the folk in and through their lore so that what is outwardly perceived as a body of custom may at the same time be inwardly apprehended as a phase of mind.--Psychology and Folklore - p .1

रूप में लिया गया है । 'फोक' शब्द की उत्पत्ति एंग्लो सैक्सन शब्द '[illegible]' से तथा जर्मनी के '[illegible]' शब्द से हुई है ।[1] अपने संकुचित अर्थ में 'फोक' शब्द असंस्कृत तथा मूढ़ समाज का द्योतक है, जब कि व्यापक अर्थ में इसका प्रयोग सुसंस्कृत राष्ट्र के सभी लोगों के लिए होता है । इसी अर्थ में हिन्दी में इसके लिए 'लोक', 'जन', 'ग्राम' आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं, जिनमें से 'लोक' शब्द ही अपेक्षाकृत व्यापक अर्थ में अधिक प्रचलित है । 'लोर' शब्द की उत्पत्ति भी एंग्लो सैक्सन के '[illegible]' शब्द से मानी जाती है जिसका अर्थ है 'पढ़ के सीखा ज्ञान' । पाश्चात्य विद्वानों ने समाज के निम्न वर्ग के व्यक्तियों से संबन्धित समस्त विचारों एवं व्यापारों को 'फोकलोर' के नाम से आबद्ध किया है, यद्यपि उनमें शिक्षा की प्रधानता रहती है । 'फोकलोर' के पर्यायवाचक 'लोकवार्ता' शब्द के अतिरिक्त हिन्दी में अन्य नवीन शब्दों का आविर्भाव हुआ । डा. कृष्णदेव उपाध्याय के मतानुसार 'लोकवार्ता' की अपेक्षा 'लोकसंस्कृति' शब्द ही अधिक उपयुक्त एवं समीचीन है । क्योंकि 'लोकवार्ता' शब्द अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोषों से ग्रस्त है ।[2] डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी 'लोकसंस्कृति' को ही अधिक उचित माना है ।[3] डा. सत्येन्द्र ने 'लोकवार्ता' के लिए 'लोकाभिव्यक्ति' एवं 'लोकायन' शब्द प्रयुक्त किये हैं, जो बहुत ही संकीर्ण अर्थ को उद्घाटित करते हैं । अर्थात् 'लोकाभिव्यक्ति' से मात्र लोककला और साहित्य का अर्थ ही ध्वनित होता है ।[4] 'लोकायन' शब्द भी लोकवार्ता के लिए पर्यायवाची हो सकता है[5] और श्री भोलानाथ तिवारी ने भी 'लोकायन' शब्द में लोकजीवन की विस्तार-शीलता का निरूपण करते हुए उसे सर्वथा 'फोकलोर' के उपयुक्त बताया है । फिर भी उन्होंने इस शब्द के सुझाव में 'लोकशास्त्र', 'लोकविज्ञान', 'लोकपरंपरा' जैसी संज्ञाओं को भी प्रयुक्त किया है ।[6] किन्तु हिन्दी में 'लोकवार्ता' शब्द ही अधिक प्रयुक्त किया जाता है और यही अधिक समीचीन भी है ।

---

1. लोकगीतों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि - विद्या चौहान पृ. 42
2. लोकसाहित्य की भूमिका - डा. कृष्णदेव उपाध्याय पृ.
3. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास -- भाग - 16, प्रस्तावना पृ. 11
4. सम्मेलन पत्रिका - लोकसंस्कृति अंक - भोलानाथ तिवारी पृ. 436
5. राजस्थानी कहावतें (भूमिका से) - डा. सुनीतिकुमार चटर्जी पृ. 11
6. सम्मेलन पत्रिका (लोकसंस्कृति अंक) - श्री भोलानाथ तिवारी पृ 437

इसका लोकवार्ता लोगों की मौखिक परम्परा मानी जाती है और पश्चिम पाश्चात्य विद्वानों ने इसकी परिभाषा देने का प्रयास किया है। अलेक्ज़ेंडर एच. क्रेप ने लोकवार्ता के लिए दो अर्थ निर्धारित करते हुए दो परिभाषा किया है[1]-- (1) लोकवार्ता लोगों की मौखिक परम्परा की सामग्री है जो लोकवाणी या अलिखित तथ्य, कहानी, रिवाज और विश्वास, जादू टोना, अनुष्ठान आदि में मिलते है। (2) लोकवार्ता वह विज्ञान है जो उपर्युक्त सामग्रियों का अध्ययन करना चाहता है। लोकवार्ता के संबन्ध में शोफिया बर्न ने लिखा है 'लोकवार्ता ने अपने को एक जातिबोधक पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रतिष्ठित कर लिया है जिसके अन्तर्गत पिछड़ी जातियों में प्रचलित या उन्नत जातियों के असभ्य वर्गों में अवशिष्ट विश्वास, रीति रिवाज, कहानियाँ, गीत और कहावतें आदि आते है।'[2] और कई विद्वानों ने भी लोकवार्ता को लोकसंस्कृति का वह अंग माना है जिसमें असंस्कृत तथा संस्कृत लोगों के विश्वास, आचार विचार, रीति रिवाज और का समावेश लोककथा, लोकगीत, लोकगाथा, कहावत, मुहावरे, पहेली आदि के रूप में प्राप्त है।[3] इससे स्पष्ट हो विदित है कि लोकवार्ता जो आदिम मानव का जीवित प्रतीक है जिसमें

---

1. स्टैंडर्ड डिक्शनरी आफ फोकलोर - वॉल्यूम -1 पृ. 403

2. It has established itself as the generic term under which the traditional beliefs, customs, stories, songs and sayings current among backward peoples or retained by the uncultured classes of more advanced peoples are comprehended and included.
---A Handbook of folklore -Sophia Burn, p. 1, 2

3. (i) Folklore comprises traditional creations of peoples, primitive and civilised. These are achieved by using sounds and words in metric form and prose and include also folk beliefs or superstitions, customs and performances, dances and plays. Moreover, folklore is not a science about a folk but the traditional folk science and folk poetry.
(ii) Folklore is that part of a people's culture which is preserved consciously or unconsciously, in beliefs and in myths, legends and tales of common acceptance and of in arts and crafts which express the temper and genius of a group rather than of an individual. Because it is a repository of popular traditions and an integral element of the popular climate folklore serves as a constant source and frame of reference for more formal literature and art, but it is distinct therefrom in that it is essentially of the people, by the people and for the people.---Theodor H. Gaster -Folklore, Myths and Legends of Britain p. 398-399

मानव के सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक अनुभव सम्मिलित रूप धारण कर लेते है ।[1] लोकवार्ता की उपर्युक्त परिभाषाओं से यह बात साबित हो जाती है कि आदिम मानव के सारे अनुभव उसके अचेतन मानस में विलीन होते हुए आज भी अभीष्ट बनकर मौखिक साहित्य के रूप में वर्तमान है और यही मौखिक या लौकिक साहित्य के रूप में प्रचलित है जिसे लोकवार्ता कहा जाता है ।

लोकसाहित्य एवं समाज के विभिन्न अंग

लोकसाहित्य का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है और समाज तथा लोकसाहित्य के बीच अभिन्न संबन्ध है । इसमें लोकमानसी विचार ही रहते हैं[2] और समाज में जो ये विचार अव्यक्त नहीं रहते क्योंकि यह लोगों की आशाओं और आस्थाओं से संबन्धित है । अर्थात् जो जनसामान्य की अभिव्यक्ति है वह समाज की भी अभिव्यक्ति है । इसी कारण लोकसाहित्य में लोकजीवन , जो सामाजिक भी है , के प्रत्येक अनुभव, जैसे सुख-दुःख , उत्थान-पतन आदि भी प्रकट होते हैं । कहने का तात्पर्य हुआ कि लोकसाहित्य में प्रतिबिंबित जो लोकाभिव्यक्ति है , वह सामाजिक भी है और सामाजिक अभिव्यक्ति लोकसाहित्य में भी विद्यमान रहती है । अतः समाज और लोकसाहित्य के बीच चोली-दामन का संबन्ध है । इसी कारण लोकसाहित्य समाज से दूर न रहकर उसके ही बीच सजीव रहता है । बॉटकिन का लोकसाहित्य के संबन्ध में जो मत है वह उपर्युक्त तथ्य पर जोर देता है --'लोकसाहित्य अत्यधिक दूर और अत्यन्त प्राचीन जैसी कोई वस्तु नहीं है । वह तो हमारे बीच सत्य और सजीव है ।'[3] लोकसाहित्य में ऐसे कुछ तत्त्व रहते हैं

---

1. (i) Folklore is a lively fossile which refuses to die . It is precipitate of the scientific and cultural lag of centuries and millenia of human experience --Charles Francis Potter — Folklore ,Myths and legends of Brit
   (ii) Folklore may be said to be true and direct expression of the mind of primitive man --Russian Folklore --Y.M.Sokolove

2. Folklore is the literature of the people,but it belongs to an order of things that is passing away ,if it has not already do so.

3. Folklore is not something far away and long ago,but real and living among us. --Introduction of American Folklore, p.15

जो अत्यन्त प्राचीन है और जिसे वर्तमान समाज के सामने प्रस्तुत करना है तथा वर्तमान समाज को उस समाज से भी कुछ कहना है जो स्वयं अपनी परंपरा एवं अपनी रूप जानना चाहता है और जिसका संबन्ध हमारे मौखिक तथा लोकतांत्रिक संस्कृति के मूल कलाओं के ऐतिहासिक रूपों में व्याप्त है ।[1]

इस प्रकार देखें तो स्पष्ट होता है कि लोकवार्ता का लोकजीवन या समाज से घनिष्ठ संबन्ध है । लोकजीवन के ऐतिहासिक स्वरूप का चित्रण लोकसाहित्य के माध्यम से ही होता है । धर्मसंबन्धी विधि-विधान एवं विश्वास, धर्मसंबन्धी विचार आदि भी लोकसाहित्य में सम्मिलित होते हुए अभिव्यक्ति पा लेते हैं ।। ऐसे लोकसाहित्य का अध्ययन करने पर उससे संबन्धित समाज का भी अध्ययन संभव हो जाता है । कहने का तात्पर्य है कि लोकसाहित्य कभी समाज से पृथक नहीं होता और न समाज लोकसाहित्य से । ये दोनों प्राचीन काल से ही एक दूसरे से जुड़कर चले आ रहे हैं । लोकसाहित्य लोकवार्ता का वह अंग है जिसमें जनसाधारण की अभिव्यक्ति झलकती है । लोकवार्ता में भी साधारण जनता के अनुकूल तथ्य की अभिव्यक्ति होती है । अतः लोकवार्ता तथा लोकसाहित्य में अंग और अंगी का संबन्ध है । यह साहित्य तो शिष्ट साहित्य से इसलिए पृथक माना जाता है कि लोकसाहित्य प्रायः मौखिक रहता है और उसमें अपने तथा प्राचीन लोगों के अनुकूल तथ्य ही अभिव्यक्त होता है जब कि शिष्ट या उच्चस्तरीय साहित्य में शब्दों, अर्थों और प्रयोगों को महत्व रहता है और तथ्य के साथ-साथ कल्पना का आधार भी लिया जाता है । यही नहीं शिष्ट साहित्य में लोकमानस का उतना उज्ज्वल चित्रण नहीं मिलता जितना लोकसाहित्य में । लोकसाहित्य की इन विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए कई विद्वानों ने इस साहित्य के लिए अपनी अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है । कहा गया है -- 'यह वह मौखिक अभिव्यक्ति है जो भले ही किसी व्यक्ति ने गढ़ी हो, पर आज जिसे सामान्य लोकसमूह अपना मानता है जिसमें लोक की युग युगीन वाणी-साधना समाहित रहती है, जिसमें लोकमानस प्रतिबिंबित रहता है ।'[2] कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने भी लोकसाहित्य की असंख्य समान

----

1. Here the past has something to say to the present and bookless world to a world that likes to read about itself ,concernig our basic oral and democratic culture as the root of arts and as a side light on history. - लोकगीतों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि विद्या चौहान पृ 44

2. हिन्दी साहित्यकोश - धीरेन्द्र वर्मा पृ. 682

या आदिम मानव की अभिव्यक्ति माना है । अतः 'लोक' शब्द का अर्थ गाँवों व अथवा वनों में रहनेवाले गँवार तथा अविकसित समाज का द्योतक है ।[1] डा. कृष्णदेव उपाध्याय ने लोकसाहित्य को लोकसंस्कृति का एक भाग माना है ।[2] पहले ही कहा जा चुका है कि लोकसाहित्य लोकवार्ता से घनिष्ठ संबन्ध रखता है । इसी कारण लोकवार्ता में उपलब्ध आदिम मानव के अवशेषों का इसमें होना असंभव नहीं है । कहने का अर्थ यह है कि इस मौखिक साहित्य में वे आदिम अवशेष अपने मौल रूप में समाविष्ट है जो आज भी सभ्य मानव जाति में प्राप्त होते है । इसी तथ्य पर जोर देते हुए पाश्चात्य विद्वान विनेक ने लिखा है -- 'आदिम मानव के हृदय की सत्य व प्रत्यक्षाभिव्यक्ति ही लोकवार्ता है ।'[3] कुछेक विद्वानों ने लोकसाहित्य पर विचार करते हुए कहा है कि इसमें मात्र विषयों का समावेश रहता है, अर्थात् इसके अन्तर्गत मौखिक परंपरा में उपलब्ध सामग्री ही रखी जाती है ।[4] संक्षेप में कहा जा सकता है कि लोकसाहित्य वह साहित्य है जिसमें सभ्यता के प्रभाव से परे सामान्य जनता के मनोवेग या मानसिक उद्गार गीत, कथा, चुटकुले वाक्य आदि के रूप में संकलित रहते है ।

---

1. भोजपुरी लोकगाथा - डा. सत्यव्रत सिन्हा - पृ. (ड)

2. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास - भाग 16 प्रस्तावना पृ. 14

3. Folklore may be said to be true and direct expression of the mind of primitive man.

4. ...ust fundamentally to the folklore, thier currency must be or have been in the memory of man bequeathed from generatin to generation by word of mouth and imitative action rather than by the primitive page.-- Rolf stale Begus. --ibid

लोकसाहित्य की परंपरा

भारत में लोकसाहित्य की परंपरा अतिप्राचीन है। भारत के सबसे प्राचीन वैदिक साहित्य में लोकसाहित्य के बीज लोकगीतों के रूप में उपलब्ध होते हैं। ब्राह्मण संहिता, गृह्यसूत्र आदि में भी गीत के अर्थ में गाथा का उल्लेख हुआ है, जिससे प्रतीत होता है कि राजसूय यज्ञ विवाह तथा लोकजीवन के शुभ अवसरों पर गाथाएँ गायी जाती थीं, जो प्राचीन काल से परंपरा के रूप में आज भी चली आ रही है। कहने का तात्पर्य है कि प्राचीन काल में किसी राजा के किसी यशस्वी सत्कृत्य के कीर्तन करने की लोकगीत समाज में प्रचलित थे तथा जनता पुकारा गाये जाते थे, वे ही 'गाथा' नाम से साहित्य के एक पृथक अंग के रूप में स्वीकृत किए गए।[1] संस्कृत साहित्य की भांति पाली भाषा के साहित्य में भी लोकगाथाओं का उल्लेख मिलता है जिनसे उस काल में विख्यात लोकप्रिय कथाओं का परिचय उपलब्ध होता है। प्राकृत भाषा भी लोकगीतों और लोकगाथाओं से वंचित नहीं है। कालान्तर में हिन्दी भाषा के विकास के साथ लोकसाहित्य भी विकसित होता चला आया है। वस्तुतः भारतीय लोकसाहित्य की परंपरा बहुत प्राचीन है। भारत की विभिन्न भाषाओं के विकास से इस मौखिक साहित्य का भी विकास हुआ। वर्तमान युग में भारत की सभी भाषाओं का अपना लोकसाहित्य है जिसमें भाषा, क्षेत्र तथा काल के अनुरूप उसके आकार प्रकार तथा वेशभूषा में अन्तर रहता है, तथापि उसके मूल में एक ही भारतीय भावधारा प्रवाहित होती है।

लोकसाहित्य के विभिन्न रूप

लोकसाहित्य का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। संसार में जो सहज और सामान्य सत्य है उनकी विवृति लोकसाहित्य के माध्यम से होती है। लोकसाहित्य में विश्वजनीनत्व रहता है। भौतिक युग की सामान्य मानसिक चेतना की प्रत्येक गति का, सुरुचि और अरुचि का, धर्म तथा नीति का सहज चित्रण उसमें रहता है। अपने विश्वजनीनत्व के कारण लोकसाहित्य के विभिन्न अवयवों का सम्यक् वर्गीकरण अनिवार्य है। यद्यपि यह समस्याकुल न रहा है तथापि मोटे तौर पर लोकसाहित्य का वर्गीकरण यों किया जाता है --

(1) लोकगीत, (2) लोककथा (3) लोकगाथा (4) लोकनाट्य और (5) प्रकीर्ण साहित्य

---

1. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास - भाग 16, पृ. 17

जिसके अन्तर्गत लोकोक्तियाँ या कहावतें , मुहावरे , पहेलियाँ आदि आते हैं । लोकसाहित्य के विभिन्न अंगों का सामान्य परिचय यहाँ पर अप्रासंगिक न होगा ।

लोकगीत

लोकगीतों की यह विशेषता रही है कि उनमें मानव-मानव में उत्पन्न होनेवाले राग-विराग का सीधा सच्चा स्वरूप किसी प्रकार की कौशलप्रियता के बिना ही संगीतात्मकता के साथ प्रकट होता है । लोकगीतों में मानव जीवन की सभ्यता , रीति रिवाज , परम्परा तथा उसके आचार विचारों का सच्चा रूप प्रतिफलित होता है । अतः जन के ही मूर्त रूप होने के कारण वे अमर कहलाते हैं । उनकी लहराती उछलती तरंगों में प्रत्येक युग के मानव की कल्पनाएँ, भावनाएँ और अनुभूतियाँ घुली रहती हैं । इनके कोलाहल में सरल सच्ची सुरुचि के धार्मिक भावों के अनुरंजन , प्रेममय गुंजन, अपरिमित प्रकम्पन , दुःखपूर्ण क्रन्दन , उत्साहयुक्त किलक और विषादमय सिसकन की व्याप्ति है ।[1] अर्थात् मानव जीवन के सुख तथा दुःखवाद का सजीव चित्रण लोकगीतों की एक बड़ी विशेषता है और इसी कारण लोकगीतों की परम्परा आज भी सजग होकर चली आ रही है । पुरानी होकर भी उसमें नवीन तत्वों का समावेश रहता है तथा नवीन होकर भी पुराने आचार विचार एवं संस्कार से वर्तमान युग को सचेत बना देते हैं ।

लोकगाथा

लोकजीवन में प्रचलित किस्सा और कहानी आदि पर आधारित कई कथाएँ होती हैं और वे लोकमानस के तत्वों से मिलकर लोककथा के रूप में जनसामान्य के बीच प्रचारित हो जाती हैं । लोकसाहित्य के अन्तर्गत इनका विशेष महत्व रहा है । इन्हें कहानियों का जनक माना जाता है । जनजीवन का वास्तविक चित्रण इन मौखिक कथाओं के माध्यम से जनसामान्य के सामने प्रस्तुत किया जाता है । लोकगाथाओं का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन होता है और प्रायः ये कथाएँ धार्मिक तत्वों पर ही आधारित रहती हैं । इनमें देवी देवताओं से संबन्धित कथाएँ जुड़ी रहती हैं । फिर भी इनमें नीति शिक्षा उपदेश , धर्म आदि की महत्ता भी रहती है । विश्वबन्धुत्व तथा लोकमंगल की भावना भी इनमें निहित रहती है । वस्तुतः लोकगाथाओं का अपनी अनन्तता एवं लोकप्रियता के कारण विशेष स्थान रहा है । वे मौखिक रूप में सुरक्षित रहने पर भी

---

1. भारतीय लोकसाहित्य -- श्याम परमार पृ. 93

जन-मन के बीच इतनी जुड़ी रहती है कि समाज में व्यक्तियों से पृथक होकर इनका कोई अस्तित्व ही न रहा हो। अर्थात् लोकगाथाओं के द्वारा लोकजीवन पूर्णतः अनुस्यूत है।

लोकगाथा

लोकगाथा ऐसा एक संगीतात्मक गीत है जिसमें कथनीय किसी आख्यान या कथावस्तु को रोचक ढंग से वर्णित किया जाता है। लोकगीतों में जहाँ गेयता की प्रधानता रहती है वहाँ लोकगाथाओं में कथानक की। कहानी के मुख्य पात्र के आधार पर ही गाथा का नामकरण होता है जैसे 'कुँवरसिंह', 'विजयमल' आदि। ऊपरी तौर पर ये गाथाएँ व्यक्तिविशेष की दिखाई पड़ने पर भी इनमें जनसमुदाय की सामान्य विशेषताएँ भी निहित रहती हैं। कहने का मतलब है कि लोकगाथा सकल जनता द्वारा गाई जानेवाली लोकगान की संपत्ति है।[1]

लोकनाट्य

लोकनाट्य लोकसाहित्य का वही रूप है जिसमें वार्तालाप, गीत, नृत्य और संगीत से युक्त होकर मनोरंजक कथावस्तु का लोकभाषा के माध्यम से प्रस्तुतीकरण होता है। लोकनाट्य ही सार्वजनिक मनोरंजन का उपयुक्त साधन माना जाता है। प्रत्येक देश के लोकजीवन की रुचि सरल, संक्षिप्त तथा प्रभावपूर्ण भाषा के द्वारा इनमें प्रतिफलित होती है। लोकनाट्य प्रायः पौराणिक कथानकों पर ही आधारित होते हैं, यद्यपि सामाजिक जीवन इनका आधार होता है। अभिनय के साथ ही इन नाटकों में गीत एवं नृत्य का भी आयोजन होता है। इनमें जो संवाद हैं वे लोकभाषा के अनुकूल गद्य तथा पद्य रूप में होते हैं। लोकनाट्य अनेक प्रकार के होते हैं जैसे रामलीला, रासलीला नौटंकी आदि। ये तो विभिन्न उत्सवों, पर्वों तथा मांगलिक कार्यों के अवसर पर अभिनीत होते हैं।

---

1. Simple narrative songs that belong to the people and are handed on by word of mouth. --Old Ballads - Frank Sidgwick, p.3

प्रकीर्ण लोकसाहित्य एवं कहावतें

लोकसाहित्य के अन्तर्गत लोकगीत , लोककथा , लोकगाथा तथा लोकनाट्य के अतिरिक्त बहुत ही संक्षिप्त रूप से लोकानुभव को अभिव्यक्ति देनेवाले कुछ रूप भी आते हैं जिन्हें कुल मिलाकर प्रकीर्ण साहित्य में समाहित किया जाता है । इन लोकप्रिय अभिव्यक्तियों में कहावतें मुहावरे , पहेलियाँ आदि आते हैं । इनमें अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम है कहावतें । कहावतें लोकसाहित्यरूपी विशाल शरीर के प्रमुख अंग हैं । ये अपने संक्षिप्त कलेवर में रहकर विस्तृत मानव-जीवनानुभूतियों को सरलता से प्रस्तुत करती हैं । लोकसाहित्य के इसी वर्ग के अन्तर्गत आनेवाली सिठनी , मुहावरा , पहेली आदि से भी कहावतों का निकटतम संबन्ध रहा है । ये सभी विधाएँ एक ही मूल से फूटी शाखा-उपशाखाओं की भाँति एक ही लोकजीवन के अनुभवों से उद्भूत उद्गार हैं । लेकिन ये अभिव्यक्ति में थोड़ी सी भिन्नता लिए हुए हैं ।

कहावतों की भाँति मुहावरे भी जीवनानुभूतियों को वाणी देने के सशक्त माध्यम हैं । मुहावरे भी संक्षिप्त उक्तियाँ हैं जो लक्षणा या व्यंजना द्वारा बोलचाल में प्रयुक्त होते हैं । ये कहावतों के समान आकार में छोटे होते हैं , कभी कभी कहावतों से भी छोटे । किन्तु जहाँ कहावतें लघु आकार में भी पूर्ण अर्थ का द्योतन करती हैं वहाँ मुहावरे वाक्य या वाक्यांश होकर किसी कही हुई बात के अर्थ को स्पष्ट करते हैं । पूर्ण होने के नाते कहावतों में निहित अर्थ काल और वातावरण के अनुसार बदलता नहीं है जबकि मुहावरेदार वाक्यांश का अर्थ बदलता रहता है । 'धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का' जैसी कहावत कहीं भी बिना किसी परिवर्तन के प्रयुक्त की जा सकती है । लेकिन 'नाक कटना' , 'आँख आना' जैसे मुहावरे किसी क्रिया के रूप में परिवर्तन के साथ प्रयुक्त होते हैं । कहावतों की अपेक्षा मुहावरे लाक्षणिक प्रयोग होते हैं । कहावतों में निहित नीति एवं उपदेश मुहावरों में अप्राप्त है । क्योंकि ये मात्र एक कार्यव्यापार हैं । कहावतें देशकालातीत हैं जबकि मुहावरे प्रत्येक देश और काल में बदलते रहते हैं । कई मुहावरे ऐसे भी होते हैं जो व्यवहार में कहावतों जैसे होते हैं । लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि कहावतें और मुहावरे एक ही हैं । लोकसाहित्य में दोनों का अलग अलग स्थान है । एक कहावत कभी भी मुहावरा बन सकती है लेकिन एक मुहावरा कहावत का रूप नहीं ले सकता ।

------ --

कहावतों और मुहावरों के समान प्रयोग लोकसाहित्य के अन्तर्गत पहेलियों को भी किया जाता है। कहावतें जहाँ गाँव की सामान्य जनता की उक्तियाँ होती हैं वहाँ पहेलियों का प्रयोग अधिकांशतः स्त्रियाँ ही करती हैं। अतः इन्हें नारी की संपत्ति कहा गया है। पहेली में कहावत की अपेक्षा बुद्धिकौशल की ही प्रधानता है। ये हमें सोचने-समझने को विवश कर देती हैं क्योंकि ये किसी वस्तुविशेष का नाम सीधे नहीं बतलातीं। पहेली किसी वस्तुविशेष के संबन्ध में कही गई वह चमत्कारपूर्ण उक्ति है जिसमें वस्तु का नाम सीधे न बतलाकर गोपनीयता के साथ बतलाया जाता है और इनमें बुद्धिकौशल और कल्पना की प्रधानता रहती है। चमत्कारिता के बावजूद भी पहेली में उतना सार्वभौमिकत्व नहीं रहता जितना कहावत में रहता है। कहावतें मार्मिक तथा प्रभावशाली हैं जब कि पहेलियाँ बुझौवलियाँ होने के कारण धीरे और ही लोकमानस को प्रभावित करती हैं। ये व्यक्ति मन में सोचने को मजबूर करती हैं जिससे इनमें निहित रहस्य खुलता है। कहावतें संक्षिप्त होने के कारण जल्दी ही कंठस्थ हो जाती हैं जब कि पहेलियाँ अधिक शब्दों में गठित होती हैं और कभी कभी चार-पाँच वाक्योंवाली भी देखने को मिलती हैं। इसीलिए पहेलियों का लोकसाहित्य के अन्तर्गत उतना महत्व नहीं है जितना कहावतों का है

मुहावरों और पहेलियों के अतिरिक्त कहावतों के प्रसंग में रोजमर्रा एवं लौकिक न्याय का भी नाम आता है। किसी रचना के लालित्य के लिए प्रायः रोजमर्रा का प्रयोग होता है। इससे भाव के प्रकटन में सुगमता आती है। कहावतों के द्वारा भी भाव की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु कहावतें पूर्ण वाक्य हैं जब कि रोजमर्रा वाक्यांश है। लौकिक न्याय भी तो कहावतों की भाँति किसी घटना या कहानी का उल्लेख रखता है। किन्तु न्याय कहावतों से भिन्न है। प्रायः न्याय एक या दो शब्दों से गठित होता है। कहावतों की ऐसी उपमाएँ न्याय में भी मिलती हैं। कभी कभी कवियों की उक्तियाँ भी न्याय के रूप में प्रयुक्त होती हैं कहने का अर्थ है कि न्याय का क्षेत्र बहुत व्यापक है और यह इतना विस्तृत है कि कभी कभी कई कहावतें भी न्याय के अन्तर्गत गिनी जाती हैं।

वस्तुतः लोकसाहित्य की अन्य विधाओं के साथ जैसे मुहावरा, पहेली आदि, कहावतों का संबन्ध उतना घनिष्ठ नहीं है। कहावतें साधारण जनता की जीवनानुभूतियों के चिरन्तन सत्य को अपनी अनूठी शैली में प्रस्तुत करती हैं। लेकिन मुहावरे, पहेली आदि में ऐसा नहीं होता। कहावतें अन्य विधाओं की अपेक्षा देशकालातीत होकर जनहृदय को सदा बहलाती रहती हैं

कहावतें

किसी कथन में रोचकता और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त वाक्यविस्तार ही कहावत के नाम से अभिहित है । कहावतें लोक के अनुभूत सत्य से उद्भूत उक्तियाँ हैं । लोकोक्ति शब्द के लिए हिन्दी में प्रयुक्त शब्द है कहावत । संस्कृत शब्द कथावार्ता से इसका संबन्ध है । कहावत के पीछे कोई न कोई कथा अदृश्य रहती है, जो बार-बार कही जाती है, जिसमें कोई न कोई सामाजिक सत्य निहित रहता है । हिन्दी की तरह भारत की दूसरी भाषाओं में कहावत के लिए अनेक शब्द प्रयुक्त होते हैं । कोंकणी भाषा का शब्द है 'म्हणी' । मराठी में भी यही शब्द प्रयुक्त होता है जिसकी व्युत्पत्ति संस्कृत के 'मन्' धातु से हुई है जिसका अर्थ है 'कथन' । यह शब्द भी एक तरह से अपने में कुछ प्रमुख तथ्यों को अभिव्यक्ति की ओर संकेत करता है जो क्रमशः सामाजिक रहते हैं । वस्तुतः कहावत वह उक्ति है जो पैतृक संपत्ति के रूप में युग युगों से चलती आ रही है । हर एक भाषा की पैतृक संपत्ति के आकार प्रकार में विभिन्नता अवश्य रहती है, तो भी सभी को पैतृक संपत्ति ही कहा जाता है । कहावत के लिए विभिन्न देशों में विभिन्न शब्दों का प्रयोग होने पर भी उनमें निहित भाव एक ही रहता है ।

कहावतों में सामाजिक तत्व

कहावत की जितनी भी परिभाषाएँ दी गई हैं उन सब में कहावतों का समाज से जो अटूट संबन्ध है, उसकी ओर संकेत मिलता है । कहावत छोटे छोटे वाक्य हैं जो जीवन के सुदीर्घ अनुभव के आधार पर अभिव्यक्त हैं ।[1] जीवन के इन अनुभवों का चित्रण विभिन्न परिस्थित से होकर आते हुए मानव-समाज के लिए एक अक्षय संपत्ति बन जाता है । ये उक्तियाँ साधारण जनता के बीच स्वीकृत होने के कारण इनमें अभिव्यक्त अनुभवों का महत्व अत्यन्त प्रधान रहता है सारगर्भिता के साथ ही कहावतों में मानव हृदय को प्रभावित करने की शक्ति भी है । उनमें स का संपूर्ण तथा वास्तविक चित्रण होता है और इसीलिए किसी भी समाज का संपूर्ण अध्ययन उनकी

---

1. Proverbs are short sentences drawn from long experiences.
—Encyclopaedia Britanica, vol. 18. p. 44

कहावतों के जरिये अच्छी तरह हो सकता है। लार्ड बेकन की कहावत संबन्धी परिभाषा इस दृष्टि से उल्लेखनीय है -- 'किसी भी राष्ट्र की प्रतिभा, विदग्धता और आत्मा के दर्शन उसकी कहावतों में ही होते हैं।'[1] कहावतों का कलेवर तो बहुत ही छोटा होता है। फिर भी उसमें निहित अर्थ बहुत ही व्यापक है। अर्थात् कहावतों में गागर में सागर या बिन्दु में सिन्धु भर देने की प्रवृत्ति है और अपनी अर्थवत्ता के कारण वे लोगों के हृदय पर अपना अमिट छाप अंकित कर देती है। इसी ओर ध्यान देते हुए कहावतों की एक परिभाषा दी गई है -- 'लोकोक्ति में गागर में सागर भरने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसमें जीवन के सत्य छोटे सूत्रों से प्रकट होते हैं। यह ग्रामीण जनता का नीतिशास्त्र है। --लोकोक्तियाँ प्रकृति के स्फुलिंगों (रेडियो आक्टीव) तत्वों की भाँति अपने प्रभाव किरणों को चारों तरफ फैलाते रहते हैं।'[2]

कहावतों की अपनी कई खास विशेषताएँ होती हैं। इनके मुख्यतः चार अनिवार्य गुण माने गए हैं। संक्षिप्तता, सारगर्भिता, सामान्यता या जनप्रचलन और प्रभावशालिता।[3] साधारणतः कहावतें आकार में छोटी होती हैं यद्यपि लंबे वाक्योंवाली कहावतें भी मिलती हैं। छोटे वाक्यों में अंकित होने पर भी इन कहावतों का व्यापक अर्थ होता है। जहाँ लंबे वाक्यों का प्रयोग रोचक नहीं लगता वहाँ छोटे वाक्योंवाली कहावतों को प्रयोग में लाया जाता है और इनका स्मरण रखना भी सुगम हो सकता है। अपनी सामान्यता के कारण कहावतों का महत्व और भी बढ़ जाता है। उदाहरण के लिए 'हाथो पर फूल नहीं, दूधों पर नाच' -- ऐसी कहावतों को सुनते ही हम उसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। यह उसकी रोचकता के कारण ही होता है। क्योंकि लोकमानस को रंजित कर अपनी प्रभावशालिता से उसे प्रेरणा भी प्रदान

---

1. The genius, wit, and spirit of nation are discovered in its proverbs.

2. ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन - डा. सत्येन्द्र पृ. 519

3. Four qualities are necessary to constitute a proverb, brevity (or as some prefer to put it, consciseness), sense, piquency, or salt and popularity. -- Encyclopaedia of Religion and Ethics Vol 10 p.42

का विशेष गुण है। ऐसी कहावतें लोकमानस में सदा के लिए प्रतिष्ठित हो जाती हैं, जैसे 'जिस न माने पितु गुरु की आज्ञा'। ये कहावतें सत्यवचन होती हैं। ये झूठ नहीं बोलतीं।[1]

मानव जीवन परस्पर विरोधी बातों को लेकर आगे चलता है और मानव के जीवनानुभवों से उद्भूत कहावतों में इस तथ्य का होना स्वाभाविक है ही। हिन्दी की एक कहावत है -- 'भाई बराबर बैरी नहीं, भाई बराबर प्यारो नहीं'। इस कहावत में एक ही समय दो विरोधी तथ्यों को प्रस्तुत किया गया है। यानी भाई को शत्रु भी माना है और साथ ही मित्र भी। वस्तुतः कहावतों में मात्र सत्य का ही प्रतिपादन होता है। वहाँ पर मात्र अनुभव का ही चित्रण रहता है। जीवन का यथार्थ चित्र इसमें प्रकट होता है।

भावगत विशेषताओं के साथ कहावतों की शिल्पगत विशेषताएँ भी होती हैं। कहावतें गद्यमय होने पर भी उनमें लय और गति का सामंजस्य रहता है, जैसे 'जाते रोवे मेल को, मन्मुख रोवे जाते को', 'तेल चिकनौटियाँ रहता माई चिकनौटियाँ रहता (कोंकणी)'। लय के साथ तुक और अनुप्रास भी मिल जाय तो कहावतों की शोभा और भी बढ़ जाती है। जैसे 'घर कोर तो बाहर भी कोर'। लाक्षणिकता और व्यंग्यात्मकता भी कहावतों की विशेषता है। सामान्य लोगों की उक्ति होने के कारण कहावतें लोकभाषा के तद्भव सरल वेश में ही अभिव्यक्त की जाती हैं। इसी कारण इनमें निहित लाक्षणिक अर्थ भी सबों के लिए ग्राह्य बन जाता है, दुःसाध्य को स्वीकार करने योग्य रहता है। कहावतें तो उनकी उपर्युक्त विशेषताओं के कारण लोकसाहित्य का सशक्त माध्यम मानी जा सकती हैं।

कहावतों की परम्परा

कहावतों की परम्परा अतिप्राचीन है, अथवा वैदिक काल से ही इनका प्रयोग होता आ रहा है। इसी कारण आज प्रयुक्त कहावतों से भी प्राचीन विचारधारा का पता चलता है। अर्थात् अनेक अर्वाचीन कहावतों में प्राचीन काल की विचारधारा का प्रभाव प्राप्त होने के साथ ही समकालीन अनुभव एवं व्यवहारसिद्ध ज्ञान भी जुड़ा रहता है। कहावतों में कल्पना की छटा नहीं

---

1. There are no proverbial sayings which are not true.
--Don Quixote

देखी जा सकती, किन्तु उनमें यथार्थ जीवन की झलक ही मिलती है। वस्तुतः लोकजीवन के यथार्थ पक्ष से संबद्ध तथा जनसामान्य में व्यवहृत उक्तियाँ ही कहावतें हैं और इनका लोकसाहित्य के अन्तर्गत अपना विशेष महत्व है। अपने इस महत्व के कारण एक बार प्रचलित हो जाने पर वे व्यापक हो जाती हैं और भाषा का अविच्छेद्य अंग बन जाती हैं।

कहा जाता है कि कहावतों की परंपरा अत्यन्त प्राचीन है और वैदिककालीन युग में भी इनका प्रयोग होता था।[1] उपनिषद्काल में भी इनका प्रयोग हुआ है।[2] कुछेक विद्वानों का मत है कि कहावतों का निर्माण कृषकों में है, अतः इनका जन्म कृषिकाल में हुआ होगा। किन्तु यह दृष्टिकोण उतना समीचीन नहीं माना जाता है क्योंकि वैदिक काल से ही कहावतें प्रयुक्त होती आयी हैं। संस्कृत साहित्य में कहावतें सुभाषित या सूक्ति के रूप में मानी जाती थीं। सुभाषित का अर्थ है - सुन्दर रीति से कहा गया कथन।[3] लोकोक्ति या कहावत भी सुन्दर रीति से कहा गया कथन है जिसमें लोकको अपनी ओर आकर्षित करनेवाली शक्ति निहित रहती है। संस्कृत कहावतों की परंपरा समस्त भारतीय भाषाओं में, विशेषकर हिन्दी और भोजपुरी में बड़े व्यापक रूप से चली आई है और संस्कृत की कई उक्तियाँ ठीक उसी प्रकार किसी भी परिवर्तन के बिना ही प्रयुक्त होती आती हैं।[4]

<u>कहावतों का विकास एवं समाज से उनका संबंध</u>

लोकसाहित्य में कहावतों की प्रमुखता पर विचार करते हुए यह प्रश्न उठना अस्वाभाविक नहीं है कि इन चुटकीले तथा प्रभावपूर्ण वाक्यों का निर्माण किसने किया था और वे किस प्रकार, कहाँ से उद्भूत हुए और किस प्रकार विकसित हो गए हैं तथा समाज से इनका क्या संबंध है। यह तो मानी हुई बात है कि कहावतें मानव को विरासत के रूप में मिली हैं। लेकिन इस तथ्य की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है कि यह संपत्ति किसने जुटाई थी। इस प्रश्न का उत्तर देने में अब तक कोई सफल नहीं हुआ है। किन्तु इतना तो निश्चित है कि मानव की अनुभूतियों, विचारों तथा कल्पनाओं के मूर्त रूप मानी जानेवाली कहावतों की निर्माणप्रक्रिया में भाषा एवं मनुष्य दोनों का समान रूप से हाथ रहा है। क्योंकि जब किसी व्यक्ति के मनोवेग अपने आप अभिव्यक्त

---

1. लोकगीतों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि - विद्या चौहान पृ. 57
2. वही
3. सुष्ठु भाषितम् सुभाषितम्

(4) यथा राजा तथा प्रजा
अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितम् आदि

नहीं हो पाते हैं। उनके प्रचार के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता है और भाषा ही एक अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। साथ ही भाषा में सुन्दरता लाने के लिए और अपनी अभिव्यक्ति में रोचकता लाने के लिए मनुष्य छोटे नुकीले वाक्यों का प्रयोग करता है जिन्हें कहावत के नाम से अभिहित किया जाता है। कहने का अर्थ है कि कहावतों का निर्माण प्रयत्नपूर्वक नहीं होता। इस संदर्भ में श्री सुशील कुमार डे के शब्द उल्लेखनीय हैं -- 'प्रयत्नपूर्वक कहावतों का प्रचार भी नहीं किया गया, कहावतें अपने आप प्रचलित हो गईं। प्रतिदिन के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर किसी के मुख से जो क्षिप्र सरस वाक्य निकल पड़ा, उसीने क्रमशः अव्यक्त समय के रूप में परिणत होकर कहावत का रूप धारण कर लिया। जो पिता की रचना थी, वही कालक्रम से पुत्र की संपत्ति बन गई।[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि कहावतें किसी अनुकूल क्षण के उद्गार मात्र हैं। लेकिन ये उद्गार किसके थे और उस अज्ञात व्यक्ति ने किस कारण इन्हें अभिव्यक्ति दी थी, यह बात तो किसी को ज्ञात नहीं है। कहावतें सभी लोगों के मन में ताजा रहते हुए समय समय पर प्रकट हो जाती हैं जबकि कहावतों का निर्माता मानव की विस्मृति रूपी सागर की अथाह में डूब जाता है। इस प्रकार कहावत के निर्माता के अवगत न होने का कारण बताते हुए लिखा गया है कि कहावतरूपी शिशु का जब जन्म होता है तो किसीको पास नहीं बैठने दिया जाता।[2] वहीं नहीं किसी के मुंह से निकली कहावत किसी जाति, समाज और प्रदेश के बन्धन में नहीं रहती, अपितु वह सकल संसार में स्वतन्त्र होकर विचरण करती है। उसमें तो देश काल के अनुसार परिवर्तन तो जरूर आता है तथापि उसमें अन्तर्निहित अनुभव या तत्व एक ही रहता है। इस कारण से भी कहावत के निर्माता का पता लगाने में कठिनाई हो जाती है।

कहावतों के उद्भव के कई आधार होते हैं। लेकिन उनके अध्ययन के संदर्भ में यह प्रश्न उठता है कि कहावतें कब से जनसामान्य के बीच प्रयुक्त होने लगीं। कहावतें तो उतनी ही पुरानी हैं जितनी ही मानव जाति की भाषा। क्योंकि जब से मानव ने अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में भाषा का प्रयोग किया तब अपने मनोभावों को उन चारतार्थित अथवा चुटीले वाक्यों में

---

1. राजस्थानी कहावतें - एक अध्ययन - डा. कन्हैयालाल सहल पृ. 38
2. Rarely indeed is one permitted to sit in at the birth of a pro-er to name its author--

--राजस्थानी कहावतें - एक अध्ययन- डा. कन्हैयालाल सहल पृ. 38

प्रकट करना भी शुरू किया , जो काल के प्रवाह में कहावतों का कलेवर धारण करते चले और आज भी बिना किसी रुकावट के चले आ रहे हैं । अतः कहा गया है -- 'बातों के वरदान के समान कहावतों का वरदान भी उसे प्राप्त हुआ जो स्वयं मन और अनुभवों का परिचायक है ।'[1]

कहावतों साहित्य की परंपरा पर विचार करते हुए उसके उद्भव के संबन्ध में यह मत भी प्रकट किया गया है कि इनकी उत्पत्ति तभी हुई होगी जब लोकगीतों का भी उद्भव हुआ था ।[2] किन्तु डा. सत्येन्द्र यह नहीं मानते कि लोककथाओं या लोकगीत जिस प्रकार सुदूर आदिम मानव के मानस से उद्भूत हुए हैं उसी प्रकार कहावतों का निर्माण भी नहीं हुआ है । इसका कारण वे यह मानते हैं कि लोकमानस के किसी भी स्तर सहज ही प्रकट हो सकती है और इन्हें वह गीत और कहानियों में प्रकट कर देता है । अर्थात् मानव जिसी से ऊपर उठकर बौद्धिक मान्यताओं के संयोजन के लिए जिस स्थिति की आवश्यकता है वह स्थिति आदिम मानव की अन्तिम विकासकोटि की सीमा म पर पहुँचती है । वहीं से जन्म लेकर ये कहावतें निरन्तर ऐतिहासिक विकास के साथ विकसित होती गई हैं और बढ़ती गई हैं । कहावतों का क्षेत्र गीतों और कहानियों से भिन्न व्यवहार और व्यवसाय का क्षेत्र है ।[3]

उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि कहावतों के उद्भव तथा उनके निर्माता के संबन्ध में कोई तर्कपूर्ण मत नहीं व्यक्त किया जा सकता और मात्र अनुमान के आधार पर ही इनकी उत्पत्ति के संबन्ध में कुछ कहा जा सकता है । फिर भी संक्षेपतः यही कहा जा सकता है कि अपने जीवनानुभवों को जब दूसरों के सामने संप्रेषित करने की इच्छा जब मानव मन में हुई तभी उसने छोटे वाक्योंवाली उक्तियाँ प्रयुक्त की जिनसे रोचकता तथा तथ्योद्घाटन संभव हो सके । वस्तुतः कहावतों की उत्पत्ति एवं उनके निर्माता का पता न लगने पर भी यह स्पष्ट ही विदित होता है कि कहावतों का निर्माण किसी न किसी घटना के आधार पर ही होता है , चाहे वह घटना किसी भी युग में घटित क्यों न हो । इन घटनाओं के अन्तर्गत मुख्यतः लोककथाएँ ऐतिहासिक घटनाएँ , पारिवारिक जीवनानुभव , प्राकृतिक आदि आते हैं ।

---

1. हिन्दी तथा तेलुगु कहावतों का तुलनात्मक अध्ययन - डा. एन. एस. दक्षिणामूर्ति पृ. 55
2. The genuine proverb takes us back to the infancy of races and civilisations in their origin they belong to the age which gave birth to the folksong and ballad.
--Encyclopaedia of Religion and Ethics--James Hastings p.412

3. लोकसाहित्यविज्ञान - डा. सत्येन्द्र पृ. 462

मनुष्य के प्रतिदिन के जीवनानुभवों के पीछे कोई न कोई घटना अवश्य निहित रहती है जो बाद में लोक कथा के रूप में प्रचलित होती है । कहावतें ऐसे ही अनुभूत सत्य के उद्भूत मार्मिक एवं छोटे वाक्य हैं और वे लोककथा को संक्षिप्त रूप में अभिव्यक्त कर देती हैं । अर्थात् घटनापूर्ण कहानी को पूर्ण रूप से दूसरों के बीच जीवित करने का सबल माध्यम तो कहावतें ही हैं क्योंकि छोटे कलेवर में समाहित सारगर्भित कहावतें सुनने में जितनी रोचकता है उतनी पूरी कहानी सुनने में नहीं । लोककथाओं के चरम वाक्य कभी कभी कहावत के रूप में प्रयुक्त होते हैं जैसे 1 आप डूबे तो जग डूबा (हिन्दी)

2. जिय न माने पितृ और गुरु को आयसु (हिन्दी)

3. जहाँ जाय भूखा तहाँ पड़े सूखा (" ")

4. अपात्याक मिलेक सीमा अन्य , मेलेलक पिण्डदान (कोंकणी)

5. चरित मेलेली कडे भेजवा जोरि (कोंकणी)

लोककथाओं के समान ही ऐतिहासिक घटनाएँ भी कहावत के रूप में व्यक्त की जाती हैं । जैसे

एक मुट्ठी चार चावल के लिए मैंने दिल्ली का राज्य खो दिया होता (हिन्दी)

मल्ली मन्नाक अर्धेर्न कण्टीर बांधि बनान मुंडी दिली (कोंकणी)

अनेक कहावतें पारिवारिक घटनाओं पर ही आधारित होती हैं । जैसे

आप मरी सासु का आए आँसु (हिन्दी)

एक आम की दो फाँकें (,,)

अहाक मोगुक यदि मैला कुमेक पुरुष आयली (कोंकणी)

कभी कभी महान लेखकों तथा कवियों की उक्तियाँ कहावतों के रूप में स्वीकार की जाती हैं । लेकिन ये उक्तियाँ लौकिक कहावतों की अपेक्षा अधिकतर साहित्यिक ही होती हैं । इसलिए इनके संबन्ध में यह संदेह बना रहता है कि इन कवियों या लेखकों के हाथों में पड़कर इन कहावतों ने काव्यात्मक रूप धारण कर लिया है अथवा कोई काव्यमयी उक्ति ही कहावत में बदल गई है ।[1]

---

1. Proverbs and other common sayings are often caught up by the composer of the [illegible] poem and woven into his verses while on the other hand, a well turned poetical expression some times gives it a permanent currency as is the case with so man of the lines of pope. whether the proverb has been made poetic by its setting, or the poetical expression has become proverb by constant quotation , it may be sometimes difficult to dete

कहावतों की उत्पत्ति से संबन्धित इन आधारों पर विचार करने पर यह विदित होता है कि सभी में घटनाएँ रहती हैं और प्रायः ये घटनाएँ मुख्यतः व्यक्ति संबन्धी हैं और ये अनुकूल घटनाएँ समाज से होकर सारे विश्व में सभी लोगों से सम्मत हो जाने पर कहावतों का रूप धारण करती हैं

इस संदर्भ में यह प्रश्न भी विचारणीय है कि कहावतें जब जन्मी थीं तथा तब से लेकर आज तक उसका रूप एक ही बदले हुए है, या उसमें नया विकास हुआ है। मानव जाति तो आज अपने आदिम मानव स्थिति से बहुत ही दूर चली आई है और अपनी इस यात्रा के दौरान उसने कई नए तत्वों को अपनाया है और साथ ही अपने पुराने विचारों में परिवर्तन लाकर उन्हें एक नया रूप प्रदान किया है। उनकी मानसिक स्थिति या भाषा के अनुकूल होकर उनकी कहावती परंपरा में विकास भी समय समय पर अवश्य हुआ है। प्रत्येक भाषा जिस प्रकार विकास की सीढ़ियाँ पार करके आगे बढ़ी है वैसे ही हर एक भाषा में प्रचलित लोकसाहित्य भी विकास की ओर अग्रसर हो रहा है। लोकसाहित्य के अन्तर्गत आनेवाला कहावती साहित्य भी विकास के हाथों से बचता नहीं है। हिन्दी में जिस प्रकार का भाषागत विकास हुआ है उसी प्रकार का विकास उसकी कहावतों में भी हुआ है। जैसे ही बोलचाल की भाषा भी आज स्वतंत्र रूप से विकसित हो चुकी है। साथ ही उस भाषा में प्रचलित कहावतें भी कुछ संस्कार पा चुकी हैं जिसके कारण उनमें कई तरह के परिवर्तन आए हैं।

भिन्न भाषाओं की कहावतों का पारस्परिक संबन्ध

कहावतों के विकास के कई कारण होते हैं। अपने विकास की यात्रा में मूल भाषा की कहावतें कभी कभी दूसरी भाषाओं में उसी रूप में रहती हैं और कभी उनमें भाव रूपान्तरित होकर रहते हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत की एक कहावत लीजिए -- 'यथा राजा तथा प्रजा' इसका हिन्दी रूप तो भी मिलता है -- 'जैसा राजा वैसी प्रजा'। संस्कृत में 'अर्धो घटो घोषमुपैति नूनम्' वाली जो कहावत है हिन्दी में 'अधजल गगरी छलकत जाय' बन गई है। लेकिन इन सबके पीछे व्यक्तियों के अनुभवपूर्ण विचार ही निहित रहता है। इससे लगता है कि इन कहावतों के बाहरी ढाँचे में थोड़ा सा परिवर्तन जरूर आता है, तथापि उनके मूल में कोई अन्तर नहीं रहता। किसी भी काल में कहीं भी प्रयुक्त किया जाय तो भी ऐसी कहावतों का मूल भाव एवं विचारों बाहरी भेदों से आवृत होकर भी एक ही रहता है। यह तो किसी

खास भाषा की बात नहीं है। संसार भर की भाषाओं में ऐसी कई कहावतें मिलती हैं जिनसे यह समझा जा सकता है कि मानव के मानस में देशगत भिन्नताओं के होते हुए भी एक ही प्रकार के तत्व मौजूद रहते हैं।

ऐसी भी कई कहावतें हैं जो किसी भाषा की निजी कहावतें मानी जा सकती हैं। इन पर दूसरी किसी भाषा का असर नहीं पड़ता, ये तो अपने आप विकसित होती हुई आई हैं। लेकिन इन कहावतों का महत्व कभी घटता नहीं है क्योंकि इनके सम्यक अध्ययन से प्रत्येक भाषा-भाषियों की संस्कृति तथा सभ्यता, उनके आचार विचार एवं रीति-रिवाज का पता लगाना संभव हो सकता है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्', 'सर्वं तु विनश्वेदाक', 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' आदि कहावतें संस्कृत के साथ ही दूसरी भाषाओं में प्रयुक्त होती रहने पर भी ये संस्कृत की अपनी कही जाती हैं। कोंकणी भाषा की भी अपनी निजी कहावतें हैं जैसे 'आनु मेलो मोनु भीव खुला पोरयो वांगुळक रडूता' (राजा मर गया, इसलिए नहीं रोता, तेरहवें दिन फिर आनेवाले रुकमानी के लिए रोता है)। किन्तु कुछेक कहावतें ऐसी भी होती हैं जो अधिकांश भाषाओं में प्रयुक्त होती हैं तथापि वे किसी भाषा की अपनी होती हैं। जैसे

अर्धो घटो घोषमुपैति नूनम् (संस्कृत)

अधजल गगरी छलकत जाय (हिन्दी)

अर्द भरलेली कोळशी हालतां चड (कोंकणी)

निण्डु कुण्ड तोणकदु (तेलुगु)

तुम्बिद कोड तुळुकोल्ला (कन्नड)

निरैकुडं नीर तुळुम्बादु (तमिल)

निरकुडं तुळुम्बुकयिल्ल (मलयालम)

(अंग्रेजी)

उपर्युक्त कहावतों के अध्ययन से यह तथ्य सामने आता है कि एक भाषा की कहावतें दूसरी भाषाओं में रूपपरिवर्तन के साथ प्रयुक्त होती हैं। संस्कृत की एक उक्ति है -- 'प्रायो गच्छति यत्र दैवहतकस्तत्रैव यान्त्यापदः'। रूपपरिवर्तन के साथ यही उक्ति हिन्दी में भी मिलती है -- 'जहाँ जाय भूखा वहाँ पड़े सूखा' या 'गरीब न रोवे रोवे तो दिन हो पड़े ही जाय' इसीतरह कोंकणी रूप हैं -- 'हरि गेलेले कडे गेलेल्या सोरि' (हरिदास जहाँ जाय वहाँ धूर्त के बीच की ओर ही रहती है) या 'पापियान गेलेले कडे पाताळ' (पापी जहाँ जाय वहाँ पाताल हो जाता

इन सभी कहावतों का मूल भी अनुभूत सत्य है। संस्कृत की मूल कहावत में भाग्यहीन व्यक्ति का जो दुर्भाग्य प्रतिफलित होता है ठीक उसी दुर्भाग्य का चित्रण दूसरी भाषाओं की कहावतों में भी हुआ है। अर्थात् इन कहावतों का आधार तो एक ही प्रकार का अनुभव है। भिन्न भिन्न देशों में रहकर, भिन्न भिन्न भाषाएँ बोलकर भी मानव के अनुभवों में समानताएँ रहती हैं।

कुछ कहावतों में रूपपरिवर्तन आता है जब उनके साथ एक भाषा की कहावतें दूसरी भाषाओं में भी प्रचलित हो जाती हैं और वे कहावतें अनूदित होकर हो जाती हैं। जैसे अंग्रेजी की एक कहावत है --'All that glitters is not to be gold' यह भी अनूदित होकर भारत की समस्त भाषाओं में प्रयुक्त की जाती है। अतः उसका दूसरी भाषाओं में भी प्रयोग किया जाता है ------ चमकनेवाला सब सोना नहीं (हिन्दी)

चकचकेंचें जण भांगार न्हंय (कोंकणी)

मिन्नुन्नतेल्लाम पोन्नल्ल (मलयालम)

कई कहावतों का भावानुवाद भी होता है जैसे --मुँह में राम राम बगल में छुरी (हिन्दी)

तोंडांतु वरो पोट्टान्तु चोरयाचो दोळो (कोंकणी)

कई कहावतों का रूपपरिवर्तन के साथ उनके अर्थ और भाव में भी परिवर्तन होता है। यह तो स्वाभाविक है ही कि एक भाषा की कहावत जब दूसरी भाषा में प्रयुक्त की जाय तो उसके मूल अर्थ में परिवर्तन आ जाये। इसका कारण है उनका भाषागत अन्तर। उदाहरण के लिए एक कहावत लीजिए --'कहाँ राजा भोज कहाँ गंगू तेली' यह जो वैषम्यमूलक अर्थ में प्रयुक्त कहावत कन्नौजी भाषा में प्रयुक्त होने पर समतासूचक बन जाती है --'जैसे राजा भोज तैसे गंगू तेली'। यही कहावत बुन्देलखंडी में भाव परिवर्तन के साथ प्रयुक्त होती है।-- यहाँ पर 'गंगू तेली' 'मुंगा तेली' हो जाता है जब कि भोजपुरी में यह 'भोजवा तेली' तथा 'लखुआ तेली' बन जाता है।

कहावतों में पाठान्तर होने पर भी उसका विकास संभव है। इनमें पाठान्तर का प्रमुख कारण यह है कि कहावतें लिखित रूप में सुरक्षित नहीं हैं। मौखिक रूप में प्रचलित होने के कारण सुननेवाला ठीक तरह उसे ग्रहण नहीं कर सकता और मूल रूप में उसको याद रखना भी असंभव हो जाता है। अतः एक दूसरे से सीखते हो जाने पर कहावतों में पाठान्तर या रूपान्तर प्रचुर होता है। हिन्दी तथा कोंकणी में ऐसी बहुत सी कहावतें भी मिलती हैं--

मूल रूप		पाठान्तर
भागते भूत की लंगोटी भली	(हिन्दी)	भागते चोर की लंगोटी भली
अंधों कुबड़ों का अल्लाह बेली	,,	~~[illegible]~~
स्नु बेवकूफ़ि तीन वेसु	(कोंकणी)	स्नु बेवकूफ़ि का वेसु
मंडे वानु कष्पारोंचि कूर वारोंचि	,,	बदुलै वान कष्पारोंचि कूर वारोंचि

कहावतों का विकास पुरानी कहावतों के लोप और नई कहावतों के विकास से भी होता है। प्राय: कहावतें विशेष समय, परिस्थिति और अनुभव से ही उद्भूत होती हैं। काल के प्रवाह में जब ये परिस्थितियाँ अभाव से होकर प्रचलित हो जाती है तो उनका प्रयोग ही समाप्त हो जाता है। क्योंकि बदले हुए जमाने में उनकी कोई सार्थकता नहीं होती। हिन्दी की एक कहावत है -- 'कमावे धोतीवाला ,, उड़ावे टोपीवाला'। यह कहावत उस विशेष परिस्थिति में प्रचलित थी जब अंग्रेज लोग भारत में शासन करते थे। इस कहावत का अर्थ है कि कमाते हैं, बेचारे भारतीय और मजे ले जाते हैं अंग्रेज। जब अंग्रेज भारत छोड़ चले गये, इस कहावत का प्रयोग भी न कम होता गया, लेकिन वे पूर्णतः नष्ट नहीं हुईं। क्योंकि इनमें परिस्थितियों के साथ साथ सामाजिक यथार्थ का भी चित्रण रहा कि प्रयत्न कोई करता है और फल और कोई भोगता रहता है। कोंकणी में भी इसी भाव की कहावत भी मिलती है -- 'घात कातूक मनु खीरि खावंक अनु' (घास कूटने के लिए मनु और खीर खाने के लिए अनु)

कहने का यही अर्थ निकलता है कि युग की माँग के अनुसार एक कहावत का प्रयोग बढ़ जाता है और एक का कम। जमींदारी प्रथा से संबन्धित कहावतें भी आज नहीं के बराबर हैं। इस बात में सन्देह नहीं कि आज के जमाने में प्रयुक्त कहावतें भविष्य में उतनी ही प्रचलित रहेंगी जितनी आज। जैसे जो सिक्के व्यवहार में नहीं आते वे अजायबघरों की शोभा बढ़ाने में ही प्रयुक्त किए जाते हैं, वैसे ही प्रत्येक जमाने में व्यवहृत न होनेवाली कहावतें लोकसाहित्य के खजाने को भर देती हैं। समाज में प्रचलित कहावतें इसलिए भी लुप्त हो गई हैं कि वे सुशिक्षित समाज के लिए अश्लील मानी जाती हैं। अर्थात् शिक्षित जनता भी अश्लील कहावतों के स्थान पर सुशिक्षित अथवा शिष्ट कहावतों का ही प्रयोग करती है और पुरानी एवं अश्लील कहावतों से मुँह मोड़ती है। इसका कारण है शिक्षा के साथ साथ ऊपर उठा हुआ जनता का जीवन-स्तर।

कहावत के उद्गम और विकास के संबन्ध में विचार करने पर यही निष्कर्षतः कह सकते हैं कि आदिम मानव-समाज के अनुभवों के क्षेत्र से उद्भूत सत्य के उद्गार सर्वमान्य हो जाने पर कहावत का रूप धारण कर लेते हैं और मानवसमाज के विकास के उठते-गिरते लहरों के साथ विकास की ओर आगे बढ़ रहे हैं। समाज का इनसे अटूट संबन्ध रहता है।

कहावत --लोकसाहित्य का सबल माध्यम

लोकगीतों, लोककथाओं और लोकगाथाओं के साथ ही लोकसाहित्य के अन्तर्गत प्रकीर्ण साहित्य में कहावतों का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। प्रकीर्ण साहित्य इसलिए महत्वपूर्ण माना जाता है कि इसके अन्तर्गत मुहावरे, पहेलियाँ आदि के साथ ही साथ लोकोक्तियाँ या कहावतें भी समाहित हैं। ये वाक्य तथा लोकसाहित्य का सबल माध्यम हैं। प्रायः लोकसाहित्य साधारण जनता का साहित्य माना जाता है, अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि लोकसाहित्य का अविच्छिन्न अंग कहावत भी सामान्य जनता की धरोहर मानी जाती है। लेकिन कहने का यह अर्थ नहीं कि मात्र पढ़े लिखे लोग ही अपने अनुभवों को व्यक्त करने के लिए कहावतों का प्रयोग करते हैं, अपितु शिक्षित हों तथा अशिक्षित सभी लोग समान रूप से इन्हें अपने रोज के जीवन में प्रयुक्त करते रहते हैं।

कहा जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण है। लोकसाहित्य के संबन्ध में भी यही कहा जा सकता है। कहावतों के माध्यम से समाज में प्रचलित आचार-विचार, रीति-रिवाज आदि तो स्पष्टतः अभिव्यक्त होते हैं। किसी को जातिविशेष, स्थानविशेष आदि का अध्ययन करना है तो सबसे पहले उस जाति एवं स्थान से संबन्धित कहावतों का अध्ययन अपेक्षित होता है। इस संदर्भ में लार्ड बेकन का यह कथन विशेष उल्लेखनीय है --'किसी भी राष्ट्र की प्रतिभा, विदग्धता और आत्मा के दर्शन उसकी कहावतों में होते हैं।'[1] कहने का तात्पर्य है कि कहावतों के अध्ययन से उनसे संबन्धित समाज के जीवन एवं संस्कृति का गहरा ज्ञान हमें प्राप्त हो जाता है।

---

1. The genius, wit and spirit of a nation are discovered in its proverbs -- Lord Baken

पहले ही कहा जा चुका है कि कहावतों का प्रयोग पढ़े-लिखे तथा अनपढ़ लोग समान रूप से करते हैं। यद्यपि अशिक्षित एवं ग्रामीण लोग ही इन्हें औपचारिक प्रयोग में लाते हैं। फिर भी कहावतें किसी व्यक्तिविशेष की संपत्ति नहीं हैं। ये समूचे समाज की ही धरोहर हैं। इसका कारण है कि किसी भी समाज के, चाहे वह सभ्य हो या असभ्य, संपूर्ण शिक्षा या विज्ञान से भी ज्ञान इसे प्राप्त नहीं होता, वह कहावतों के माध्यम से उपलब्ध होता है। व्यक्ति और समाज का संबंध तथा उनके विभिन्न पक्ष को सुन्दर ढंग से भी कहावतों में प्रतिबिंबित होते हैं। समाज के प्रायः सभी पहलुओं से इनका घनिष्ठतम संबंध रहा है। दूसरे शब्दों में, संसार भर में शायद ही ऐसा कोई समाज रहेगा जिसमें उसके धार्मिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक जैसी प्रवृत्तियाँ तथा संस्कारों, विश्वासों एवं रीति रिवाजों को अभिव्यक्ति देने में कहावतों का प्रयोग न हुआ हो और न उनके महत्व को स्वीकार किया गया हो।

समाज तो व्यक्तियों का समूह है और व्यक्ति समाज जैसी संस्था की छाया में रहकर जो कुछ कर लेता है उसका प्रभाव सीधे समाज पर पड़े बिना नहीं रहता। व्यक्ति तो सामाजिक बन्धन में इतना ग्रस्त रहता है कि जन्म से लेकर अपनी जीवनलीला समाप्त कर देने तक वह उस बन्धन को तोड़ नहीं पाता। इसलिए वैयक्तिक प्रवृत्तियाँ सामाजिक प्रवृत्तियों में बदल जाती हैं। कहावतों के संबंध में भी यही बात सत्य है। व्यक्ति अपने जीवन में जो कुछ अनुभव करता है उसे कम समय में तथा कम शब्दों में दूसरों के सामने प्रस्तुत करना चाहता है। इसीलिए कहावतों का प्रयोग होता है जो आकार में संक्षिप्त होने पर भी वाणी के क्षेत्र में तीव्रता एवं प्रभाव उत्पन्न करती है और श्रोताओं के हृदय पर अपना अमिट प्रभाव डालती है। किसी एक व्यक्ति की उक्ति कालान्तर में अनेकों की उक्ति बन जाती है और अन्त में संपूर्ण समाज उसे अपनी निजी संपत्ति के रूप में स्वीकार कर लेता है। इस सामाजिक संपत्ति का तो सामाजिक धरोहर के रूप में पीढ़ियों से उपयोग किया जा रहा है, जैसे कोई अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त संपत्ति का उपयोग करता हो। अतः कहा जाता है -- 'कहावतें मानव स्वभाव और व्यवहार कुशलता के सिक्के के रूप में प्रचलित होती हैं और वर्तमान पीढ़ी को पूर्वजों से

उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होती है ।[1] समाज से कहावत का इतना निकटतम संबन्ध रहा है कि व्यक्ति के जीवन में समाज की प्रधानता को भी कहावतों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है । ऐसी कहावतें तो प्रायः सभी भाषाओं में मिलती हैं ,जैसे --

एक हाथ से ताली नहीं बजती (हिन्दी)

एक हातान ताळ्यो वाजना (कोंकणी)

एका हाताने टाळी वाजत नाही (मराठी)

इन सभी कहावतों में ऐसे एक ही तथ्य की ओर संकेत किया गया है कि मानव तो सामाजिक प्राणी है । किसी समाज से पृथक रहकर व्यक्ति अपना वैयक्तिक विकास नहीं कर पाता । अर्थात् समाज में व्यक्ति को एक दूसरे से मिल जुलकर रहना उचित जिससे मित्रता तथा समाज की उन्नति संभव हो जाती है । कहने का मतलब यही है कि कहावतें समाज की निजी धरोहर है जिसका उपयोग सभी मानव , चाहे वह किसी भी स्तर का क्यों न हो , समान अधिकार से कर लेते हैं । दूसरे शब्दों में , कहावतें पीढ़ियों से जीवित रहनेवाले समाज की धरोहर हैं । लोकसाहित्य के अन्तर्गत इनका लोकगीतों , लोककथाओं आदि से भी बढ़कर महत्व है ।

कहावतों का कलेवर तो बहुत छोटा होता है । अपने छोटे से कलेवर में रहते हुए भी ये मानवजीवन के विभिन्न अनुभवों को अपने में समाहित रखती हैं । अतः कहावतें अनुभवों का भण्डार होती हैं । जिन सत्य तथ्यों का साक्षात्कार मानव ने अपने जीवनकाल में किया है और करता रहा है , उनका संपूर्ण सार कहावतों या लोकोक्तियों में व्यक्त होता रहता है । उनके चिरसंचित अनुभव ज्ञान राशि का मूलसूत्र तथा संक्षिप्त प्रमाण भी कहावतों में होता है । दूसरे शब्दों में यों कहिए , कहावत के लघु आकार में भी गागर में सागर के समान नीति , शिक्षा , अध्यात्म , राष्ट्र , सभी समाज एवं जाति के व्यापक नियम - सिद्धान्त तथा आचरणविधियों का समावेश रहता है ।[2]

---

1. The prodigious amount of sound wisdom and good commonsense th contain the spirit of justice and kindness they breath, their prudential rules for every stage and work, their poetry hold imagery and passion, their wit and satire , and a thousand ot qualities , have , by universal consent made of importing his counsels and warnings. --Chambers Encyclopaedia of Universal Knowledge. vol.17.p. 806

मानव जो कुछ अपने जीवन में अनुभव करता है उसीका उद्घाटन कहावतों में होता है ।[1] कहावतों के द्वारा वे अनुभव और भी जीवन्त या सजीव बनते हैं । किसी न किसी अनुभव के आधार पर ही कहावतों का निर्माण होता है और इसी कारण किसी तर्क वितर्क के स्पष्टीकरण में उनका प्रयोग किया जाता है । इससे विदित होता है कि प्रमाण तो अनुकूल सत्य है । कहावतों के संबन्ध में विचार करें तो यही तथ्य निकल आता है कि मानवजाति के जीवनानुभव ने ही कहावतों का रूप धारण कर लिया है और इसीलिए वे स्वतःसिद्ध-प्रमाण हैं । ये तो समय के प्रभाव से परे हैं । इनमें मात्र सार्वकालिक सत्य निहित रहता है ।

प्रत्येक मानव के जीवनानुभव के पृष्ठों पर जो घटनाव्यापार चर्चित करते हैं, वे ही कहावतों में प्रतिफलित होते हैं । इन घटनाओं में से कोई खास घटना या अनुभव वैयक्तिक स्तर को छोड़कर सामाजिक स्तर पर पहुँचता है तो उसका असर सबके चित्त और दिमाग पर पड़ता है । ऐसी घटनाएँ कालान्तर में कहावत का रूप लेती हैं और परंपरागत रूप में किसी बात के प्रमाणीकरण में इन कहावतों को प्रयुक्त किया जाता है जिनमें अनुकूल सत्य छिपा रहता है । कहावतों का प्रयोग इसलिए होता है कि वे सर्वविदित हैं और कभी झूठ नहीं बोलती हैं ।[2] इसलिए कहावतें चिरपुरातन होकर भी प्रत्येक काल में भी ताजा रहती हैं और उनमें वही आकर्षण है जो सैकड़ों वर्ष पहले था । जीवन में उठनेवाली समस्याओं के साथ कहावतों का घनिष्ठ संबन्ध रहता है । क्योंकि ऐसी समस्याओं को हल करने के लिए कहावतों में छिपे हुए अनुभव बहुत ही सहायक निकलते हैं । इस प्रकार की कहावतें तो सभी भाषाओं में मिलती हैं, जैसे --

सास मरे बहू बन जाये सासू (हिन्दी)

मडकीं मोडलें मांय मेलें सुनेक सुटीक जालें (कोंकणी)

(मटकी टूट गई, सास मर गई, बहू सचेत हुई)

इनमें सामाजिक संबन्धों से उद्भूत अनुभवों को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

---

1. Provorbs are short sentences drawn from long experience. --Encyclopaedia Britanica, vol.18,p. 44

2. चाहे पेड़ भी बूढ़े हो जाये पर कहावत बूढ़ी नहीं होती

कहावतों का वर्गीकरण

मानव जीवन के प्रत्यक्ष अनुभवों से संबद्ध होने के कारण कहावतों का जीवन के सभी पहलुओं से गहरा संबन्ध रहा है। जीवन का कोई ऐसा एक पक्ष नहीं है जिस पर कहावतों ने प्रकाश नहीं डाला हो। इस प्रकार कहावतों में विषय वैविध्य के रहने के कारण उनके अध्ययन में कठिनाई उपस्थित होती है। अध्ययन की सुविधा को ध्यान में रखकर कहावतों का वर्गीकरण करने के कई प्रयास हो चुके हैं। कई विद्वानों ने कहावतों का अकारादि क्रम से वर्गीकरण किया है। यह वर्गीकरण बहुत ही सरल तथा सुगम है, तथापि वैज्ञानिक नहीं है। क्योंकि सभी भाषाओं में एक ही प्रकार से प्रयुक्त होनेवाली कहावतें शायद ही मिलेंगी।
डा. स्पर्दर्शन और मि. कुन्डाल ने कहावतों के मुख्य शब्दों को आधार मानकर अकारादि क्रम से कहावतों को वर्गीकृत किया है।[1] अकारादि क्रमानुसार वर्गीकरण करने के साथ ही कुछेक विद्वानों ने पदार्थ तथा कथ्यविषय को भी आधार बनाया है। पदार्थ के अन्तर्गत पशु, पेड़ पौधे आदि से संबन्धित कहावतें आती हैं और कथ्यविषय के अन्तर्गत नीति, धर्म, अन्धविश्वास, कृषि आदि से संबन्धित कहावतें आती हैं। इनमें से कथ्यविषय पर आधृत वर्गीकरण ही अधिक उपादेय है। क्योंकि इसमें प्रत्येक विषय से संबन्धित कहावतें बहुत आसानी से ढूँढी जा सकती हैं। राम निरंजन, मानवेन्द्र जैसे विद्वानों ने कथ्य विषय के अनुसार ही कहावतों का वर्गीकरण किया है।[2] डा. सत्येन्द्र ने कथ्यविषय के आधार पर कहावतों का वर्गीकरण करते हुए उनके पाँच वर्ग माने हैं, जैसे सार्वभौम, देशकालान्य, जातिगत, स्थानीय और विशेष लोगों की कहावतें।[3]
केवल कथ्यविषय को आधार बनाकर किया गया कहावतों का वर्गीकरण अपने में अपूर्ण होता है। कहावतों के कलेवर की प्रभावात्मकता के कारण ही उनमें वर्णित विषय भी प्रभावोत्पादक रहता है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर कथ्यविषय के साथ साथ रूप को भी आधार मानकर कहावतों को वर्गीकृत करने का प्रयास कई कहावत-संग्रह-कर्ताओं ने किया है।

---

1. अनुसंधान और आलोचना - डा. कन्हैयालाल सहल
2. राजस्थानी कहावतें - एक अध्ययन - डा. कन्हैयालाल सहल पृ. 58
3. लोकसाहित्यविज्ञान - डा. सत्येन्द्र पृ. 458

ऊपर उद्धृत कहावतों के वर्गीकरण से संबन्धित विभिन्न मतों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत प्रबन्ध में कहावतों का अध्ययन कथ्यविषय पर आधृत होकर ही किया गया है। समाज से संबन्धित अध्ययन होने के कारण इसमें समाज के विभिन्न पक्षों को आधार बनाकर कहावतों के वर्गीकरण का प्रयास किया गया है। इसमें मोटे तौर पर कहावतों का वर्गीकरण सामाजिक, धार्मिक और नैतिक या आचार व्यवहार के अनुसार किया गया है। सामाजिक कहावतों के अन्तर्गत चातुर्वर्ण्य, जातिव्यवस्था और परिवार एवं पारिवारिक संबन्धों से संबद्ध कहावतों को लिया गया है। धार्मिक कहावतों के अन्तर्गत ईश्वर, पूजापाठ, व्रत-अनुष्ठान, पर्व एवं त्योहार, सामाजिक संस्कार आदि से संबन्धित कहावतें आती हैं। नीति, सद्व्यवहार, व्यक्तिगत स्वभाव एवं अन्य व्यावहारिक पक्षों से संबन्धित कहावतें और नैतिक व आचार-व्यवहारसंबन्धी कहावतों में ली गई हैं। इस प्रकार का वर्गीकरण प्रस्तुत प्रबन्ध में हिन्दी तथा कोंकणी समाज के अध्ययन में बहुत ही सहायक निकलता है। दोनों समाजों के जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण है, उसका भी पता इन कहावतों के माध्यमों से चलता है।

हिन्दी तथा कोंकणी समाज एवं कहावतें - एक सामान्य परिचय

विश्व भर के मानव कई समाजों में बँटकर रहता है। प्रत्येक देश में अनेक समाज रहते हैं और उन समाजों के आचार-विचार, उनकी सभ्यता एवं संस्कृति समूचे देश की संस्कृति बनती जाती है। भारत जैसे देश में जो समाज है, उनके अपने अपने आचार-विचार हैं। लेकिन भारतीय समाजों में जो विभिन्नता है वह तो मात्र ऊपरी तौर पर है। य उन समाजों को एक ही सूत्र में गूँथनेवाला, भारतीयता में भी एकत्व का तत्व मिलता है। हिन्दी तथा कोंकणी भाषाभाषियों के जो समाज हैं वे भी इस तथ्य के अपवाद नहीं हैं।

हिन्दी और कोंकणी दोनों एक ही परिवार की भाषाएँ हैं और इनमें कई भाषागत समानताएँ देखने को मिलती हैं। अपनी भाषागत समानता के साथ ही दोनों में एक हद तक समाजगत समानताएँ भी रही हैं। दोनों के जीवनदर्शन, धार्मिक एवं नैतिक धारणाएँ, उनके आचार विचार, रीति-रिवाज आदि कभी आकर एक दूसरे से टकराते हैं तो और कभी एक दूसरे से मिलजुलकर एक साथ चलते हैं। अर्थात् दोनों समाजों में वैविध्य तथा एकत्व एक साथ मिलता है।

यह बात तो स्पष्ट है कि किसी भी समाज का सम्यक अध्ययन उसके साहित्य , विशेषतः लोकसाहित्य से ही सकता है । हिन्दी तथा कोंकणी दोनों समाजों के लिए भी यह बात लागू है । दोनों का अपना अपना लोकसाहित्य है जिसके अध्ययन से दोनों के सामाजिक संगठन का पता लगाया जा सकता है । इनके लोकसाहित्य के अन्तर्गत जो कहावती साहित्य है उसमें दोनों समाजों का सीधा और सच्चा स्वरूप प्रतिबिंबित मिलता है । हिन्दी तथा कोंकणी दोनों भाषाभाषियों की समाजसंबन्धी धारणा प्रायः समान होती है । दोनों समाजों में समाज और व्यक्ति को अविच्छेद्य माना है और व्यक्ति को समाज के दूसरे सदस्यों से मिलजुलकर रहने का आदेश दिया जाता है । हिन्दी में एक कहावत है -- 'एक हाथ से ताली नहीं बजती' । यदि ताली बजाना है तो दोनों हाथों का प्रयोग करना चाहिए । एक हाथ से ताली भी नहीं बजती और उसकी आवाज भी न निकलेगी । ऐसा ही समाज से पृथक होकर व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता । किंतु उसकी अस्मिता समाज में रहकर ही बनी रहती है । समाज में व्यक्तियों के एक दूसरे से मिलने पर अविरत कार्य भी संभव हो जाता है जिससे समाज भी तरक्की की ओर आगे बढ़ता है । कोंकणी भाषाभाषियों के बीच भी समाजसंबन्धी यही मान्यता है । अतः यह मान्यता निम्नलिखित कहावत में व्यक्त की गई है -- 'एक्कहातान तांळयो वाजना' (एक हाथ से ताली नहीं बजती) ।

हिन्दी एवं कोंकणी समाज में जातिव्यवस्था की चातुर्वर्ण्य स्थिति पाई जाती है , जैसे ब्राह्मण , क्षत्रिय , वैश्य और शूद्र तथा कई पेशेवर जातियों के उल्लेख भी मिलते हैं । किसी भी जाति के प्रति समाज तथा व्यक्तियों का जो दृष्टिकोण है उसे दोनों भाषाओं की कहावतों में प्रतिबिंबित किया गया है । उदाहरण के लिए ब्राह्मणसंबन्धी कहावत को ही लीजिए । ब्राह्मण की महत्ता को स्वीकारते हुए भी उनके दोषों का खासा वर्णन ही दोनों भाषाओं की कहावतों में हुआ है । इनका यही उद्देश्य रहा है कि समाज में चलनेवाली कुरीतियों से लोगों को अवगत कराना । ब्राह्मण की लालच एवं लोभवृत्ति की कई जगह हंसी उड़ाई गई है । हिन्दी की एक कहावत है -- 'कानी गाय ब्राह्मण को दान' । इसी भाव को व्यक्त करनेवाली कोंकणी कहावत है -- 'अदूधीत गायि अवश्य भट्टाक' (दूध न देनेवाली गाय अवश्य ब्राह्मण पुरोहित को दी जाती है) । दोनों समाजों में दान का बहुत बड़ा महत्व है और बड़े समय

उस व्यक्ति के द्वारा किसी ब्राह्मण को गाय का दान दिया जाता है, जिसे गोदान कहा जाता है। इसी गोदान को सबसे श्रेष्ठ दान माना जाता है। ब्राह्मण इस रिवाज को जानकर दान प्राप्त करने के लिए हमेशा लालायित रहता है। प्रस्तुत कहावत में इसी बात पर उसकी निन्दा करते हुए विशेष सामाजिक पक्ष पर संकेत किया गया है।

वैसे तो पेशेदार जातियों से संबन्धित कई कहावतें हिन्दी तथा कोंकणी समाज में प्रचलित हैं, जिनका अध्ययन प्रत्येक समाज के अध्ययन में सहायक रहता है। चमार जैसी जाति को दोनों समाज निम्नजाति की मानते हैं और मन्दिर में प्रवेश करना उनके लिए निषिद्ध कर दिया है। कहा करते हैं कि चमार से दोस्ती नहीं करनी चाहिए, उसका दोस्त तो चमड़ा ही होता है और इसी चमड़े की दुनिया में ही वह रहा करता है। एक कहावत है --' 'चमार चमड़े का यार'। इसी कारण चमार चमड़े से बने जूती से ही ईश्वर की पूजा करता है। इस तथ्य को कोंकणी कहावत में भी व्यक्त किया गया है --'चम्माराले देवाक वाणे पुज्या' (चमार के भगवान को जूते की पूजा की जाती है।) (

हिन्दी एवं कोंकणी समाज में परिवार का मुख्य स्थान रहा है। अन्यथा समाज में परिवार को एक इकाई के रूप में स्वीकार कि। जाता है। परिवार में माँ व बाप, पति-पत्नी, भाई-बहन या बेटा-बेटी, सास-बहू, ननद-बहू आदि का जो आपसी संबन्ध है उसे दोनों भाषाओं ने अपनी कहावतों में प्रस्तुत किया है। समाज में पुरुष का क्या स्थान है और उसका आदर्श चरित्र किस प्रकार का होना है, इससे संबन्धित कई मान्यताएँ दोनों समाजों में समान रूप से मिलती हैं। पुरुषों को बेकाम नहीं रहना चाहिए। उसे कुछ न कुछ काम करते रहना चाहिए। कहावतों के द्वारा इसकी भी अभिव्यक्ति हुई है। स्त्रियों के संबन्ध में प्रायः कहा जाता है कि वे तो दूसरों की भलाई-बुराई सोचने में पटु होती हैं। हिन्दी तथा कोंकणी समाज के लिए भी यह तथ्य लागू है। कहा जाता है --'अपना ढेंढर देखे नहीं दूसरे की फूली निहारे'। स्त्रियाँ प्रायः अपने दोषों को सुधारने का प्रयास न करते हुए दूसरों की छोटी बड़ी कमियों में दोष निकालती हैं। प्रस्तुत कहावत में इसी ओर संकेत किया गया है। कोंकणी समाज की स्त्रियाँ भी ऐसी ही होती हैं। उनसे संबन्धित उक्ति है --'अपणाले पय्याले पोन्नाखुलि कुत्रे सोडुनु दुसऱ्याले पय्याले मुन्नखुले रास सोदिता' (अपने पैर के नीचे पड़े कुत्ते को छोड़कर दूसरों के पैरों के नीचे पड़ी राई को खोजती है)

माँ के रूप में दोनों समाज स्त्रियों का बहुत बड़ा आदर करते हैं । जैसे --'माय को अपना बोझ भारी नहीं होते ।' 'आवयक एक भुरगें भार जावंक आसता वे ?'(क्या माता को कोई बच्चा भारी होता है ?) । माता के समान प्यार करनेवाला इस दुनिया में दूसरा कोई नहीं मिलता ।

साधारणतः समाज में सास-बहू के झगड़े आने का चित्र बहुत मिलता है । हिन्दी तथा कोंकणी समाज इससे पृथक नहीं है । इससे संबन्धित कहावतें भी दोनों समाजों में खूब मिलती हैं । सास-बहू के इस आपसी मनमुटाव से उत्पन्न पारिवारिक झगड़ों का चित्रण इन कहावतों में मिलता है । बहू हमेशा चाहती है कि सास जल्दी ही मर जाये और सास की मृत्यु पर वह खुश भी हो जाती है । इस बात को सूचित करनेवाली हिन्दी कहावत है --'सास मरे बहू का बाजे ढोलू' । इसमें बहू के अपने सास के प्रति किए जानेवाले दुर्व्यवहार का स्पष्ट चित्र व्यंग्य के साथ उभर आया है । वैसे तो परिवार के दूसरे सदस्यों से संबन्धित धारणाएँ भी हिन्दी एवं कोंकणी समाज में अधिकांशतः समान रूप से चलती हैं यद्यपि कहीं कहीं इनमें अलगाव भी दिखाई पड़ता है ।

मानव जीवन में धर्म का अत्यन्त महत्व रहा है । धर्म के प्रति हिन्दी एवं कोंकणी समाज में किस प्रकार की आस्था रही है, इसका पता दोनों भाषाओं की कहावतों से लगाया जा सकता कोंकणी समाज में आचार को ही सबसे बड़ा धर्म माना है । अतः कहा जाता है 'आचारु कल्याणाक विचारु जाय '(आचारों का पालन करनेवालों के कष्ट कम आते हैं) ईश्वरनिष्ठा का भाव हिन्दी समाज में भी मिलता है --'अकेले दुकेले का अल्लाह बेली' । अर्थात् अनाथ का रक्षक ईश्वर ही होता है । यह कहावत भी ईश्वर पर विश्वास रखने का उपदेश भी देती है । कोंकणी समाज भी ईश्वर की सत्ता को परम सत्ता मानता है । हिन्दी और कोंकणी समाज भाग्य कर्म पर अटल विश्वास रखते हैं । इससे संबन्धित कहावतें भी दोनों समाजों में बड़ी संख्या में प्रचलित हैं । नैतिक व्यवहार की ओर भी दोनों समाजों में विशेष ध्यान दिया जाता है । दोनों समाज नैतिकता पर बल देते हैं और इससे संबन्धित कहावतें भी दोनों समाजों में मिलती हैं ।

निष्कर्ष

लोकसाहित्य एवं समाज का चिरकाल से अटूट संबन्ध रहा है। यह संबन्ध देशगत एवं भाषागत भेदों के रहते हुए भी मूल स्रोत के रूप में विकसित होता आया है। कहावतों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि दोनों भाषा भाषी मात्र एक ही परिवार की भाषा के अपनाने के कारण ही नहीं, अपितु अपनी प्रथा, रूढ़ि, रीति-रिवाज आदि के कारण भी एक दूसरे से संबन्धित रहे हैं। दोनों की समाजगत विशेषताएँ, जीवनदर्शन संबन्धी मान्यताएँ, धार्मिक तथा नैतिक धारणाएँ प्रायः एक हद तक समान होती हैं, यद्यपि कहीं कहीं इनमें छोटे से अन्तर भी रहते हैं। इनकी समानताओं के अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय जनजीवन की झाँकी तथा संस्कृति की अन्तर्धारा समान रूप से दोनों समाजों में बह रही है। लोकसाहित्य, विशेषतः कहावती साहित्य समाज के यथार्थ को प्रस्तुत करती रहती है। ये ही लोकसाहित्य के सशक्त माध्यम कही जा सकती हैं। हिन्दी तथा कोंकणी समाज का यथार्थ स्वरूप उनकी कहावतों में प्रतिबिंबित होता रहता है।

91

तीसरा अध्याय

हिन्दी तथा कोंकणी कहानियों में प्रतिफलित वर्णव्यवस्था एवं परिवार

हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में प्रतिबिंबित वर्णव्यवस्था एवं परिवार

भारतीय सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप

भारत एक अतिविस्तृत देश है जिसमें अनेक प्रकार के धर्म, भाषा तथा आचार व्यवहार को स्वीकृत करते हुए कई जनसमाज या जनसमुदाय रहते हैं। फिर भी भारत की अपनी एक सामाजिक व्यवस्था है। भारतीय समाज हिन्दू समाज के नाम से जाना जाता है। क्योंकि हिन्दू समाज तो जाति या वर्ण के आधार पर अनेक गुटों में विभाजित किया गया है। इ
तरह संपूर्ण भारत की सामाजिक व्यवस्था का मूलाधार भी जाति और उपजातियाँ ही है और प्रत्येक का अपना एक सामाजिक मूल्य भी है। यद्यपि वैदिक काल के भारतीय समाज
समरस माना जाता है तथापि उस समाज में वर्ण या जातिसम्बन्धी अलगाव या भेद का
रूप नहीं दिखाई पड़ता। किन्तु ऋग्वेदकालीन समाज में कहीं कहीं दो प्रमुख वर्णों क
मिलता है जैसे आर्य और दास। कालान्तर में ये दो वर्ण चार वर्णों में बँट गये जैसे
क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यह विभाजन त्वचा के वर्ण या रंग के आधार पर था।
के लोगों ने जब अलग अलग कर्म को अपनाया तो कर्मानुसार उनकी अलग अलग ज/
उपजातियाँ भी बन गई। वर्तमान भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जो वर्ण या :
व्यापक रहा और इसी कारण भारत में अनेक जातियाँ और उपजातियाँ प्राप्त होती

साहित्य समाज का दर्पण है। अतः भारतीय समाज और सामाजिक ,
भारतीय साहित्य में प्रतिबिंबित है। जब शिष्ट साहित्य में ही नहीं अपि
भी वर्ण तथा जातिव्यवस्था का स्पष्टतः चित्रण मिलता है। हिन्दू समाज '
स्थान उसकी जाति तथा दूसरे हिन्दुओं से उसके संबन्ध पर निर्भर है। इ
भारतीय शिष्ट तथा लोकसाहित्य में हुआ है। लोकसाहित्य की एक सश
या कहावत, जिनके माध्यम से सामाजिक व्यवस्था से संबन्धित भारतीयों
भाषा में व्यक्त किए जाते हैं। केवल एक ही प्रमुख जाति की नहीं ,

हिन्दी तथा भोजपुरी कहावतों में प्रतिफलित वर्णव्यवस्था एवं परिवार

भारतीय सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप

भारत एक अतिविस्तृत देश है जिसमें अनेक प्रकार के धर्म, भाषा तथा आचार व्यवहार को स्वीकृत करते हुए कई जनसमाज या जनसमुदाय रहते हैं। फिर भी भारत की अपनी एक सामाजिक व्यवस्था है। भारतीय समाज हिन्दू समाज के नाम से जाना जाता है। क्योंकि हिन्दू समाज तो जाति या वर्ण के आधार पर अनेक गुटों में विभाजित किया गया है। इसी तरह संपूर्ण भारत की सामाजिक व्यवस्था का मूलाधार भी जाति और उपजातियां ही हैं और प्रत्येक का अपना एक सामाजिक मूल्य भी है। यद्यपि वैदिक काल से भारतीय समाज का समारंभ माना जाता है तथापि उस समाज में वर्ण या जातिसम्बन्धी अलगाव या भेद का स्पष्ट रूप नहीं दिखाई पड़ता। किन्तु ऋग्वेदकालीन समाज में कहीं कहीं दो प्रमुख वर्णों का उल्लेख मिलता है जैसे आर्य और दास। कालान्तर में ये दो वर्ण चार वर्णों में बँट गये जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यह विभाजन त्वचा के वर्ण या रंग के आधार पर था। प्रत्येक वर्ण के लोगों ने जब अलग अलग कर्म को अपनाया तो कर्मानुसार उनकी अलग अलग जाति और उपजातियां भी बन गईं। वर्तमान भारतीय सामाजिक व्यवस्था में भी वर्ण या जाति का आधार कायम रहा और इसी कारण भारत में अनेक जातियां और उपजातियां प्राप्त होती हैं।

साहित्य समाज का दर्पण है। अतः भारतीय समाज और सामाजिक व्यवस्था का पूर्ण चित्र भारतीय साहित्य में प्रतिफलित है। मात्र शिष्ट साहित्य में ही नहीं अपितु लोकसाहित्य में भी वर्ण तथा जातिव्यवस्था का स्पष्टतः चित्रण मिलता है। हिन्दू समाज में एक व्यक्ति का स्थान उसकी जाति तथा दूसरे हिन्दुओं से उसके संबन्ध पर निर्भर है। इसी तथ्य का चित्रण भारतीय शिष्ट तथा लोकसाहित्य में हुआ है। लोकसाहित्य की एक सशक्त विधा है लोकोक्ति या कहावत, जिनके माध्यम से सामाजिक व्यवस्था से संबन्धित भारतीयों के विचार अपनी अपनी भाषा में व्यक्त किए जाते हैं। केवल एक ही प्रमुख जाति की नहीं, अपितु समस्त जातियों

तथा उपजातियों की भाषाओं में ऐसी कहावतें मिलती हैं जिनसे समाज में प्रत्येक जाति या उपजाति की महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है । उत्तर भारत में जाति के संबन्ध में एक कहावत भी चल पड़ी है -- 'जात का राजा जात'। अर्थात् जाति पर शासन करनेवाली जाति ही है, और कोई नहीं । इसी एक कहावत से पता चलता है कि प्रत्येक जाति का अपने अपने समाज में कितना महत्व है ।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था के प्रमुख दो तत्व हैं -- वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था । भारतीय वर्णव्यवस्था के अनुसार मूलतः चार वर्ण हैं जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र । रंगभेद के अनुसार ही यह वर्णीकरण हुआ है । इनमें श्वेत रंगवाले ब्राह्मण को ही उच्च स्थान दिया जाता है । इसका कारण है कि ब्राह्मण लोग ब्रह्मा या परम पुरुष के मुँह से उद्भूत हुए थे जब कि क्षत्रिय वैश्य और शूद्र क्रमशः ब्रह्मा के बाहुओं जाँघों तथा पावों से उद्भूत हुए थे ।[1] इसी क्रमानुसार समाज में उपर्युक्त प्रत्येक वर्ण एक दूसरे से निचले स्तर पर माना जाता है । वस्तुतः हिन्दू समाज में मात्र चार वर्ण ही मिलते हैं । किन्तु जातिव्यवस्था वर्णव्यवस्था से और भी एक कदम आगे रही है । वर्णों की संख्या बहुत ही सीमित है जबकि जातियों की संख्या असीमित है । जाति के उद्भव के संबन्ध में पहले अध्याय में विचार किया जा चुका है । भारतीय जातिव्यवस्था में कर्म की अपेक्षा रंग पर जोर दिया गया है । अतः कर्म या धन्धे के अनुसार ही मनुष्य की जाति निर्धारित की गई है । भारत के विभिन्न भागों में भिन्न तरह के समाज व जनसमुदाय रहते हैं और प्रत्येक की अपनी अपनी जातियाँ होती हैं । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र तो प्रमुख जातियाँ कहलाई जाती हैं जब कि शूद्र के ही अन्य भेद उपजातियाँ जैसे चमार, नाई, तेली आदि हैं । ये शूद्र जैसी प्रमुख जाति के अन्तर्गत आनेवाली उपजातियाँ मानी जाती हैं ।

वर्णव्यवस्था

पहले ही कहा जा चुका है कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था वर्ण तथा जातिव्यवस्था पर आधारित है । इन्हीं दोनों तत्वों के आधार पर ही हिन्दी तथा कोंकणी की सामाजिक व्यवस्थाओं के स्वरूप का भी निर्धारण किया जा सकता है । भारतीय वर्णव्यवस्था के अनुसार प्रमुखतः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जैसे चार वर्ण हैं और यही वर्णभेद हिन्दी और कोंकणी समाजों में भी पाया जाता है । वर्णविभाजन प्राचीन काल में मुख्यतः रंग के अनुसार ही किया गया था ।

लोकानां विवृद्ध्यर्थं मुखबाहु रूपादत
ब्राह्मण क्षत्रियं वैश्यं शूद्रश्च निरवर्तयत् - मनुस्मृति 1/32

जैसे कि श्वेत रंगवाले ब्राह्मण, लाल रंगवाले क्षत्रिय, पीले रंगवाले वैश्य और काले रंगवाले शूद्र कहलाये जाते थे। वर्ण के अर्थ में रंग केवल बाहरी त्वचा का रंग नहीं, अपितु प्रवृत्तियों और गुणों का प्रतीक भी था। अर्थात् ब्राह्मण का श्वेतरंग उनके सात्विक गुण, ज्ञान तथा निर्मलत्व का प्रतीक है, क्षत्रिय का लाल रंग रजोगुण, राग एवं कामना का प्रतीक है, वैश्य का पीला रंग रजोगुण एवं तमोगुण का प्रतीक है जब कि शूद्रों का काला रंग उनके तमोगुण या अज्ञान का प्रतीक है।

वर्णक्रम के अनुसार ब्राह्मण को ही प्रथम स्थान दिया जाता है और वे सभी लोगों के गुरु भी माने जाते हैं। 'गुरुर्हि सर्वभूतानां ब्राह्मणो परिकीर्तितः'।[1] इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष देवता के रूप में भी इनका आदर किया जाता है। 'देवाः परोक्षदेवाः प्रत्यक्षदेवाः ब्राह्मणाः'[2] प्राचीन काल में ब्राह्मणों के आचरण इतने महान समझे जाते थे कि सभी वर्णों के लिए वे परम पूज्य माने जाते थे और वर्णों में प्रथम होने का गर्व भी उन्हीं को प्राप्त था। अतः सभी वर्णों का प्रथम वर्ण ब्राह्मण का अनुगामी होना ही हितकर समझा जाता था। कहा गया है --

देवानामपि ये देवा यद् ब्रुवते परं हितम्।
तस्मात् वर्णाः सर्ववर्णाः संपूज्यन्ते न चान्यथा।।[3]

हिन्दू तथा बौद्धों समाजों में भी ब्राह्मण ही चातुर्वर्ण्यव्यवस्था में प्रथम आते हैं। दोनों समाज ब्राह्मणों का सम्मान तो अवश्य करते हैं फिर भी उनकी निन्दा ही कहावतों में अधिकांशतः मिलती है। क्षत्रिय लोग द्वितीय वर्ण के माने जाते हैं। ब्रह्मा के बाहों से उत्पन्न क्षत्रिय वीरता के प्रतीक हैं। अन्य तीन वर्णों की रक्षा करना उनका कर्तव्य है। तृतीय वर्ण के वैश्यलोग शूद्र से भी उच्चतर हैं। उनका प्रधान कर्तव्य धनसंचय माना गया है।[4] वाणिज्य, कृषि

---

1. महाभारत, आदिपर्व, अ. 28 श्लो 314
2. विष्णुधर्मसूत्र - अ. 19 श्लो. 20-//22
3. महाभारत - शान्तिपर्व अ. 60 श्लो. 43
4. महाभारत शान्तिपर्व अ. श्लो.

अतिरिक्त उनके जीवन निर्वाह करने के मार्ग हैं। शूद्र वर्ण का चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में बहुत ही निम्नतर स्थान है। दूसरे तीनों वर्णों की सेवा करना उनका कर्तव्य है। कहा जाता है -- 'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्'।[1]

वर्णों से ही जातियाँ एवं उपजातियाँ उत्पन्न हुई हैं। अर्थात् वर्णसंकरता ही जातियों के उद्भव का मूल कारण है। प्रत्येक वर्णसंकरता से उत्पन्न संतति के लिए पृथक् जाति का निर्माण प्राचीनकाल में हुआ था और वर्तमान भारत में इतनी जातियाँ मिलती हैं जिनके मूल स्वरूप से अवगत होना अत्यन्त कठिन है। जातियों में जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों में से प्रथम तीन जातियाँ ही श्रेष्ठ मानी जाती हैं क्योंकि वे द्विज कहलाती हैं। उपनयनसंस्कार द्वारा वे द्विजत्वेचयन्या माने जाते हैं। शूद्रों तथा चमार, कुम्हार, बढ़ई जैसे अन्य उपजातियों के लिए यह संस्कार निषिद्ध है। ऊपर बताई गई भारतीय सामाजिक व्यवस्था का ही प्रतिरूप हिन्दी तथा कोंकणी समाजों में भी मिलता है। हिन्दी समाज में चातुर्वर्ण्यव्यवस्था तथा जातिव्यवस्था रही है। कोंकणी समाज में भी इसीका अनुसरण होता है। कहीं कहीं तो दोनों समाजों में अन्तर अवश्य मिलता है। उदाहरण के लिए क्षत्रिय वर्ण का स्थान वर्तमान हिन्दी समाजों में राजपूतों का है जबकि कोंकणी समाज में क्षत्रियों का पृथक् उल्लेख नहीं मिलता। इस जातिव्यवस्था ने दोनों भाषा-भाषियों के सामाजिक जीवन को इतना अधिक प्रभावित किया है कि दोनों समाजों में जातिव्यवस्था से संबन्धित कई विचार अपने अपने लोकसाहित्य में उक्तियों के रूप में मिलते हैं। आगे इन्हीं के संबन्ध में विचार किया जायगा।

ब्राह्मण का स्वरूप

हिन्दी एवं कोंकणी दोनों समाजों में ब्राह्मणों का विशेष महत्व है। ब्राह्मणों को प्रमुखता देने का यह कारण है कि उन्हें कतिपय ऐसे विशेष अधिकार प्राप्त हैं जो अन्य तीनों वर्णों को प्राप्त नहीं हैं। इस प्रकार देखें तो शम, अन्तःकरण का निग्रह, इन्द्रियों का दमन, आत्मशुद्धि, तप की क्षमता, क्षमाभाव, मन, इन्द्रिय और शरीर की सरलता, आस्तिकता, शास्त्रविषयक ज्ञान तथा परमात्म तत्व का अनुभव करना आदि ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्तव्य हैं।[2]

---

1. भगवद्गीता - अ. 18 श्लो. 41
2. शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम्
--गीता अ. 18 श्लो. 42

ब्राह्मणों के कई विशिष्ट कर्म भी है जैसे अध्यापन करना, यज्ञ करना और संस्कारों के समय दान लेना।। वेदशास्त्रों का अध्ययन उनके लिए सर्वोपयुक्त है क्योंकि इन्हीं से उनके सभी कर्मों की पूर्ति हो जाती है।[1] ब्राह्मणों के इन विशेष गुणों और कर्तव्यों के कारण ही प्राचीन काल से ही समाज में उनका बड़ा आदर होता था और आज भी हो रहा है यद्यपि कभी कभी लोग उनके नीच गुणों को और व्यंग्य भी कसते हैं। प्राचीनकाल में लोग ब्राह्मण को प्रत्यक्ष देवता मानकर उनका सम्मान करते हुए उनकी पूजा करते थे। स्वयं श्रीरामचन्द्रजी ने भी ब्राह्मण की पूजा सभी स्थानों और कालों पर अनिवार्य मानते हुए बताया है - 'ते नर प्रान समान मम जिन्हके द्विजपदप्रेम'।[2] आगे उन्होंने बताया है कि ब्राह्मणों की श्रद्धापूर्वक सेवा करने से देवता भी प्रसन्न होते हैं जब कि ब्राह्मणों का अपमान करने से कुल का नाश भी संभव है।[3]

इस प्रकार भारतीय समाज में सभी कालों में ब्राह्मणों का आदर होता आया है। इसी कारण स्वार्थी ब्राह्मण सदा यही चाहता है कि दूसरे वर्ण के लोग उसका सदा सम्मान करें तथा सदा ही यह विश्वास करते रहें कि ब्राह्मणों का अनादर करने से पाप का बोझ अपने सिर पर गिर जायगा। ब्राह्मणों का यही स्वार्थ और लालच समाज में उन पर निन्दा को जन्म देता जाता है। साधारण से लोग भी ऐसी उक्ति कहने को मजबूर हो जाते हैं -- 'बामन के बछुआ कहते भाग जात बनयाके'। ब्राह्मण लोग उनका आदर करने से और नीच जाति के लोग पीटने से ही ठीक हो जाते हैं। ब्राह्मण का सदा सम्मान करते रहना चाहिए। तभी वह हमारी भलाई करेगा, वरन् वह शाप देने के लिए भी तैयार होगा। अतः ब्राह्मण-शाप से बचने के लिए सदा उसे सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न करना चाहिए। वैसे ही नीचवर्ण या जाति से कोई काम करवाना है तो कभी कभी उन्हें पीटना पड़ता है। ये लोग दूसरों की कही बात कभी नहीं मानते। उन्हें डाँट पीटकर ही उनके द्वारा काम कराना पड़ता है। ब्राह्मणों को ठीक रास्ते पर लाने का सरल साधन है उनका आदर सम्मान करना। किन्तु सभी लोगों के द्वारा उनका आदर किए जाने पर वे बहुत ही स्वार्थी और निकम्मे हो जाते हैं। हमेशा आदर की अपेक्षा

---

1. स्वाध्यायाध्ययन वेद मत कर्म समाप्यते -- महाभारत शान्तिपर्व

2. रामचरितमानस - तुलसीदास - सुन्दरकाण्ड

3. बिप्र बिरह पूजिय अनीति कीन्हे -- रामचरितमानस - उत्तरकाण्ड

से ही रहते है । उनकी इस प्रकार की लालच को देखकर जनसाधारण उनका आदर करने की अपेक्षा क्रोध ही करते है । फिर भी उच्चवर्ण का होने के कारण हिन्दी तथा कोंकणी समाज में ब्राह्मणों का आदर अवश्य होता है । वे समझते है कि ब्राह्मण का जीवन आदरपूर्ण होता है । प्राचीनकाल के ब्राह्मण अवश्य ही आदर्शजीवन बिताते थे । वे अपने से पृथक वर्ण और जातियों से मिलते जुलते नहीं थे ।। वे नीच जाति का पकाया भोजन नहीं खाते थे और नीच जाति के हाथ उनके चीजों भी स्वीकारते नहीं थे । लेकिन स्वार्थ का स्वभाव ब्राह्मण का सहज स्वभाव कहा जा सकता है । समाज में ब्राह्मणों की इसी स्वार्थता और दुराचार की ओर संकेत करनेवाली हिन्दी कहावत है -- 'बामन की बेटी कलमा पढ़े' । किसी बढ़िया या सुस्वादु वस्तु को पाने के लिए ब्राह्मण की लड़की अपना धर्म छोड़ने को भी तैयार होते है । स्वार्थ के कारण ब्राह्मणों के अपने धर्म के प्रति किए जानेवाले अत्याचार को देखकर ही हिन्दी समाज में ऐसी कहावतें चल पड़ी है । कोंकणी समाज में भी ऐसे अत्याचारों के प्रति क्रोध प्रकट किये जाते है ।

वेदाध्ययन के साथ पौरोहित्य भी ब्राह्मणों के कर्तव्यों में से है । ब्राह्मणों के पौरोहित्य कर्म को कहीं कहीं निन्दित भी माना गया है । उत्तरवैदिक युग में जब कर्मकाण्ड जटिल होने लगी और पुण्यकर्मतक आते आते इसने अपनी जड़ें समाज में जमाई । तब ब्राह्मण वर्ग वैदिककालीन अपनी कृतियों को छोड़कर पूजापाठ एवं पौरोहित्य की ओर झुक गया । क्योंकि प्रत्येक परिवार में धर्म को बनाये रखने लायक पूजापाठ, यज्ञ तथा अन्य संस्कारों को संपन्न कराने के लिए ब्राह्मण लोग नियोजित हुए । साथ ही मन्दिरों के पूजापाठ का भी दायित्व उन्हीं के हाथों में सौंप दिया गया । अतएव धर्म की रक्षा करते हुए प्रत्येक परिवार तथा मन्दिर में पूजा करनेवाले ब्राह्मणों को भी पुरोहित या पुजारी कहा जाता है ।[1]

हिन्दी एवं कोंकणी समाजों में ब्राह्मणों से ही पौरोहित्य कर्म कराए जाते है । अर्थात संस्कार संपन्न कराने के लिए तथा पूजापाठ के लिए ब्राह्मणों को ही बुलावा दिया जाता है ।

---

1. Alberuni says, "there isalways a brahmana in the house of the people, who them administers the affairs of religion and the work of poety. He is called Purohita."
--Social Life in Northern India--
Brajnarayan Sharma p.38

वर्तमान युग के ब्राह्मण लोग तो मात्र पुरोहित कहलाने के लिए पुरोहित है । वे केवल पौरोहित्य से मिलनेवाली दक्षिणा की ओर ही ध्यान देते है । अतः वे पूजापाठ की अपेक्षा धन की ओर अधिक झुक गये है । मन्दिर की पूजाओं की ओर भी वे ध्यान नहीं दे रहे हैं । उनकी ओर व्यंग्य करते हुए कोंकणी समाज में एक कहावत भी मिलती है -- 'देवु ना देवळान्तु पुजारि वाजूता घंटी' । (मन्दिर में देवता नहीं फिर भी पुजारी घंटी बजाता है) । अर्थात् मन्दिरों में सुबह से रात तक कोई न कोई पूजा होती ही रहती है । प्रत्येक पूजा के अन्त में आरती उतारते वक्त घंटी बजाने की प्रथा प्रचलित है । घंटी बजाने और आरती उतारने का यही उद्देश्य रहा है कि इन पूजाओं से भगवान प्रसन्न हो जावें और मन्दिर आये लोगों की प्रार्थना सुने । कभी कभी लोगों से पुजारी को दक्षिणा भी मिलती है । आज के ब्राह्मणों के मन में धन के प्रति जो मोह है उसकी हँसी उड़ाने के लिए ही समाज ऐसी कहावतों का प्रयोग करता है । क्योंकि मन्दिर में देवता न होते हुए भी घंटी बजाने से पुरोहित केवल लोगों से धन कमाना चाहता है । उसका तो ईश्वर में मन ही नहीं लगता ।

ब्राह्मणों का धन की ओर जो झुकाव है उसे व्यक्त करने के लिए कोंकणी समाज में प्रयुक्त एक कहावत है -- 'बामन बेटा लोटे पोटे मूल व्याज सांगी पोटे' । ब्राह्मण से जब कोई कर्ज में धन लेता तो वह जब तक अपना व्याज वसूल नहीं कर लेता तब तक उस व्यक्ति का पीछा नहीं छोड़ता । किन्तु यदि ब्राह्मण दूसरों से कर्ज लेता है तो वह उस व्यक्ति से भी चिकनी चुपड़ी बातें करके मूल और व्याज भी हजम कर लेता है , याने दोनों को नहीं वापस करेगा । ब्राह्मणों को यही चिन्ता रहती है कि यदि उसे मुँह खोलने का अवसर दे तो वह बहुत कर्ज देने लिए मूल्य और उसका व्याज पूछे । समाज में ब्राह्मणों के इस प्रकार के आर्थिक लोभ को व्यक्त करनेवाली दूसरी कहावतें भी मिलती है । पहले ही कहा जा चुका है कि ब्राह्मण लोग पौरोहित्य कर्म को आजकल केवल धनार्जन का माध्यम ही मानकर चलते है । संस्कारों को संपन्न कराने के लिए ही ब्राह्मण पुरोहितों को आमंत्रित किया जाता है । कभी कभी विशेष संस्कार संपन्न कराने के लिए ब्राह्मण वर्ग के सुहागिन स्त्रियों को बुलाया दिया जाता है । अर्थात् जब कभी मृत स्त्री के अन्त्येष्टिसंस्कार के बाद जो क्रियायें होती रहती है तब ब्राह्मण पण्डितों तथा विशेष परिवार की अन्य सुहागिन स्त्रियों को विशेष अवसरों पर बुलाकर उन्हें साड़ी . ब्ल. ब्ल

श्राद्ध भोजन और दक्षिणा देने की प्रथा कोंकणी समाज में अनादिकाल से ही प्रचलित है और आज भी चली आ रही है । इस प्रकार पुजाई जानेवाली स्त्रियों को 'सवासिन' कहा जाता है । इस प्रकार देखें तो ब्राह्मण एवं सवासिन दोनों घर की आमदनी बढ़ाने में हाथ बँटानेवाले हैं । इस तथ्य की ओर संकेत करनेवाली कोंकणी की कहावत है -- 'बापु ब्राह्मणु अम्मा सवाशीणि' (पिता ब्राह्मण पुरोहित और माँ सवासिन) किसी के परिवार में पिता पौरोहित्य के लिए जानेवाला ब्राह्मण और माँ सवासिन बनकर जानेवाली हो तो उस परिवार की आमदनी का अनुमान लगाया जा सकता है । ब्राह्मण तथा सवासिन को भोजन के साथ कपड़े, दक्षिणा आदि भी मिलते हैं । एक ही घर में ब्राह्मण पुरोहित और सवासिन दोनों रहते हैं तो उस घर में खाने पहनने में तकलीफ नहीं रहती ।

वैदिक काल से ही दान लेना ब्राह्मणों का कर्तव्य समझा जा रहा है । वैदिक तथा कुछ पौराणिक ग्रंथों में ब्राह्मणों का ब्रह्मचारी भिक्षुक वेश रूप में चित्रण किया गया है और केवल ब्रह्मचारी ही भिक्षावृत्ति स्वीकार कर सकते थे ।[1] किन्तु दान सभी ब्राह्मण ले सकते थे । ब्राह्मणों को दान देना साधारण लोग एक महत्वपूर्ण कार्य मानते थे जिससे उन्हें सभी पापों से मुक्ति पाकर स्वर्गप्राप्ति हो सकती थी । दान देने के संबन्ध में बताया जाता है कि दान ऐसे व्यक्तियों को ही देना चाहिए जो सच्चरित्र, आचारवान और विद्वान हो । कुपात्रों को दान देना पाप है । विशेष धार्मिक संस्कारों के अवसर पर ही प्रायः ब्राह्मणों को दान दिया जाता। जमीन, हाथी, घोड़ा, गाय, धन, कपड़ा आदि दान में देने योग्य चीजें हैं । प्राचीन काल ब्राह्मण दान के प्रति इतना आकर्षित नहीं थे जितना आज कल के ब्राह्मण । क्योंकि वे समझते थे कि दान लेने से उनका ब्रह्मतेज क्षीण हो नष्ट हो जायगा । वे नरकगामी हो जा किन्तु आज उसकी परवाह नहीं की जाती क्योंकि आज के स्वार्थी ब्राह्मण का लोभ उनको दान में आसक्ति बढ़ा देता है । इसी कारण से अपने कर्म की अपेक्षा मिलनेवाले दान की ओर अधिक ध्यान देते हैं । हिन्दी तथा कोंकणी समाज में भी ऐसे ब्राह्मणों की कमी नहीं है ।

---

1. नाब्रह्मचारी भिक्षाचरन् भिक्षुर्वा ब्रह्मचर्यवान्

हिन्दुओं में विशेषतः हिन्दी तथा भोजपुरी भाषा-भाषियों में ऐसी एक व्यवस्था कायम रही है कि किसी के मरते समय उस व्यक्ति के हाथ से किसी ब्राह्मण को बुलाकर गाय दान में दी जाती है। इस कर्म को 'गोदान' कहा जाता है। जब किसी ब्राह्मण की लोभवृत्ति से साधारण लोग ऊब जाते हैं तो लोभी ब्राह्मण को चिढ़ाने के लिए काम में न आनेवाली बोधी दान में दी जाती है। वैसे तो गोदान के अवसर पर कभी कभी अंगहीन और दूध न देनेवाली गाय दान के रूप में दी जाती है। इस ओर संकेत करनेवाली हिन्दी कहावत है--'कानी गाय ब्राह्मण को दान'। 'अलुहैति गाय बभन बहुटाक' (दूध न देनेवाली गाय बभन गाय के पुरोहित को)। प्रस्तुत भोजपुरी कहावत में भी उक्त तथ्य की ओर संकेत मिलता है। गोदान में ब्राह्मण इतने सजग रहते हैं कि वे यह कहने में भी हिचकते नहीं कि मरते समय गोदान मृत व्यक्ति के लिए वैतरणी पार कराने में सहायक होगा। अतः मरनेवाले व्यक्ति के हाथ से गोदान कराना जरूरी है। उनके इस प्रकार के कथन में उनका स्वार्थ ही झलकता है। उन्हें केवल गाय मिलने की इच्छा रहती है, न कि मृतव्यक्ति के वैतरणी पार करने की चिन्ता। ब्राह्मण लोग दान लेने में पटु होते हैं। लेकिन वे कभी कुछ दूसरों को नहीं देते। उनके पास कोई कुछ मांगने आए तो वे तुरन्त हो ना कर देते हैं। उनकी इस प्रवृत्ति की ओर संकेत करनेवाली उक्ति है--'बाभन से दान मांगते हैं'। यह तो असंभाव्य है। क्योंकि ब्राह्मण से दान लेने जाय तो खाली हाथ लौटना पड़ेगा।

सामान्यतः ब्राह्मणों के लिए श्रेष्ठ कर्तव्य निर्धारित किए गए हैं और वे उनका पालन करते हैं। यद्यपि कभी कभी सामाजिक जीवन में वे अपने कर्तव्यों का उल्लंघन करते हुए दूसरों की निन्दा के पात्र बन जाते हैं। इस विशाल संसार में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं जो अपने में पूर्ण हो। उसमें कोई न कोई कमी अवश्य रहती है। वैसे ही ब्राह्मणों में भी अपने विशिष्ट गुणों के होते हुए भी कुछेक कमियाँ भी होती हैं। जनता इन कमियों से उन्हें अवगत कराने के लिए व्यंग्य कहावतों का सहारा लेता है।[1] क्योंकि कहावतें सुनने में किसीके लिए भी दुरूह नहीं रहतीं यद्यपि गहराई में कटु सत्य को लेकर चलती हैं।

---

1. In spite of the veneration which they are held, the Brahmanas are not immune from deprication at the hands of Hindus of lower caste, who while not questioning their spiritual and caste supremacy, have many proverbs satiring their weakness, other castes, be it added are dealt with equally, faithfully and impartially.

--Indian caste customs-L.S.S.O.Malley p.18

अतः कहा जाता है - 'ब्राह्मणो भोजनप्रियः'। अर्थात् ब्राह्मण लोग बहुत ही भोजनप्रिय होते हैं। उनकी भोजनप्रियता सभी जगह प्रसिद्ध है। उनके पेटूपन को व्यक्त करने के लिए हिन्दी और भोजपुरी समाज में कई कहावतें प्रचलित हैं जैसे 'बाभन कुत्ता हाथी ई तीनों जात भुखियाती'। ब्राह्मण, कुत्ता और हाथी ये तीनों अपने पेटूपन के कारण बहुत ही बदनाम हैं। इन तीनों का पेट भर देना कोई आसान कार्य नहीं है। कुत्ता तो देखने में बहुत छोटा है, फिर भी दिन भर खाते ही रहने पर भी कहीं खाद्य चीज देखकर वह उसके पीछे दौड़ता है। वह इतनी चाव से खाता है कि उसने दिन भर कुछ खाया है ही नहीं। हाथी तो देखने में ही बड़ा है। उसे देखते ही इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि वह कितना खाएगा। ब्राह्मण भी पेटू होते हैं। देखने में वे कुत्ते जैसे छोटे हैं फिर भी उनका पेट हाथी के जैसे बड़ा होता है। उन्हें खाने में कभी भी तृप्ति नहीं होती। हिन्दी और भोजपुरी समाज में धार्मिक संस्कार संपन्न कराने के लिए जब ब्राह्मणों को बुलाया जाता है तो वे इसी भावना के साथ आते हैं कि संस्कारों की समाप्ति पर भोजन के लिए कौन कौन से पकवान और कौन सी मिठाइयाँ होंगी। कभी कभी एक ही दिन में एक ही ब्राह्मण को कई जगहों पर संस्कार संपन्न कराने होते हैं। ऐसे अवसरों पर वह संस्कारों के समयों में परिवर्तन करना चाहता है, इसलिए कि एक संस्कार के भोजन के बाद दूसरे संस्कार के भोजन के समय तक उसका पेट खाली हो जाय। किन्हीं विशेष संस्कारों में कई ब्राह्मणों को भोजन देना है तो स्वार्थी ब्राह्मण यह बहाना करता है कि वर्तमान युग में साठ ब्राह्मणों का भोजन बड़ा ही खर्चीला होगा और इसलिए केवल उस एक पेटी भोजन से तृप्ति मिल जायगी। वह अकेला खायगा, लेकिन खायगा साठों का। यहाँ नहीं भोजन की खोज में कुत्तों की तरह भौंकते हुए, किसी भी हालत में खाने को वो वे तैयार होते हैं। पेटू ब्राह्मणों के संबंध में भोजपुरी की एक कहावत है --'पेट भरले ब्राह्मणाय स्वादु स्वादु दध्ना' (पेट भरे ब्राह्मण को दही में स्वाद मिलता है)। ब्राह्मणों का यह स्वभाव रहता है कि वे खाते समय कभी 'नहीं' या 'ना' नहीं कहते। जितना ही उन्हें परोसा जाता है उतना ही वे खाते रहते हैं। पेट भर जाने पर भी वह दही नहीं छोड़ता। जब पेट गले तक भर आता है तो वे दही में दोष देते हैं। उनका कहना होता है कि दही में स्वाद है इसलिए खाया नहीं जा सकता। इससे विदित होता है कि ब्राह्मणों के लिए भोजन मुख्य होता है। भोजन के बाद ही वे किसी काम की ओर ध्यान देते हैं। अतः कहा जाता है --'बाभन जी के

हो जजमान' । ब्राह्मण भोजन के बाद ही प्रसन्न होते हैं और दूसरों की कही बात सुनते हैं प्रस्तुत कहावतें ब्राह्मणों की भोजनप्रियता पर ही व्यंग्य कसती हैं ।

ब्राह्मणों में स्वार्थ के साथ हठ भी रहा करता है । संस्कार संपन्न करने के लिए वह जो दक्षिणा माँगता है वह देनी ही पड़ती है । नहीं तो अपनी दक्षिणा लिए बिना ब्राह्मण किसी का पीछा नहीं छोड़ता । दूसरों की आर्थिक स्थिति से उसका कोई मतलब नहीं । हिन्दी की कहावत है --'जो बामन को जोग पर जो बामन की पोथी में' । ब्राह्मण जो दक्षिणा माँगता है वह एक कौड़ी भी कम न होकर उसके पैसों में पड़ेगी । जैसे ही विवाह संस्कार के लिए ब्राह्मण एक निश्चित दक्षिणा बताता है । यदि संस्कार के पूर्ण होने के पहले ही हालत बिगड़ जाय तो भी अपनी दक्षिणा लिए बिना वहाँ से एक पाँव भी आगे नहीं रखता । उसके ऐसे दुराचार की ओर संकेत करनेवाली कोंकणी कहावत है --'कोणाक मोरो कोरेलु मोरो भट्टालि च बीड भट्टालु पोडो' (दुल्हन मर जाय या दूल्हा मर जाय , ब्राह्मण की दक्षिणा उसे मिल जाय)

ब्राह्मणों का एक दुर्गुण रहा है कि वे अपनी ही जाति के लोगों से आपस में झगड़ा करते हैं । उनमें झगड़े का एक कारण यह होता है कि वे यह नहीं पसन्द करते कि जिस परिवार के पौरोहित्य का दायित्व यदि एक को है तो वहाँ दूसरे ब्राह्मण को बुलाया जाय , यदि कोई ऐसा करता है तो वे लोग कुत्तों की तरह झगड़ा करने लगते हैं । अतः ठीक ही कहा जाता है --'बामन , कुकुर भाट जाति के काट' । ब्राह्मण , कुत्ता और भाट अपनी ही जाति के दुश्मन होते हैं । लेकिन ब्राह्मणों का यह झगड़ा और क्रोध क्षणिक है । इसी कारण उनकी नाराजगी की ओर संकेत करते हुए व्यंग्य में कहा जाता है --' बामनों के लहर बस पहर' । ब्राह्मणों का क्रोध बस पहर से अधिक नहीं रहता । उनका क्रोध क्षणस्थायी है ।

कई ब्राह्मण ऐसे भी होते हैं जो ब्राह्मण के लिए निर्धारित कर्तव्यों से विचलित होकर कई अत्याचार करने को तैयार होते हैं जिससे समाज में उनकी निन्दा होती है । हिन्दी की एक कहावत है --'बामन हुए तो क्या हुआ हुए , गले लपेटा सूत' । यहाँ सूत से तात्पर्य है जनेऊ जो द्विजों को दूसरी जातियों से अलग करता है । जनेऊ उपनयन संस्कार के बाद धारण किया जानेवाला सूत है ब्राह्मण लोग उपनयन के बाद हमेशा उसे पहना करते हैं । लेकिन केवल

अनेक पढ़ने से कोई ब्राह्मण नहीं होता । उसे वेदाध्ययन, अध्यापन, पौरोहित्य जैसे ब्राह्मणोचित कर्म करने चाहिए ।

क्षत्रिय का स्वरूप

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में दूसरा स्थान क्षत्रिय वर्ण का है । क्षत्रिय वर्ण वीरता का प्रतीक है । क्योंकि कहा जाता है कि परम पुरुष की बाँहों से ही यह उत्पन्न हुआ है । अपने बाहुबल से दूसरे वर्ण या व्यक्तियों की रक्षा करना और उनके इच्छानुसार शासन करना क्षत्रियों का कर्तव्य माना गया है । 'क्षतात् किल त्रायते इति क्षत्रियः' । व्यक्त है कि दूसरों को जो नष्ट होने से बचाए वही क्षत्रिय है । याज्ञवल्क्य स्मृति में क्षत्रियों के शासनकर्म की प्रमुखता देते हुए बताया गया है 'प्रजानां क्षत्रियं कर्म प्रजानां परिपालनम्' । ब्राह्मणों के सत्वगुण की तरह क्षत्रियों में रजोगुण की प्रधानता है और इसके साथ ही अन्य स्वाभाविक गुण हैं, शौर्य, तेज, धृति, दाक्ष्य, युद्ध से अपलायन, दान और ईश्वरभाव ।[1] समाज में राजाओं की प्रमुखता इन्हीं गुणों के कारण प्राप्त हुई है । हिन्दी समाज में राजाओं का आदर होता है और इनसे संबन्धित कई मान्यताएँ भी प्रचलित हैं । किन्तु कोंकणी समाज में ऐसा कोई पृथक वर्ण नहीं । राजाओं से संबन्धित एक-दो कहावतें भी इसमें भी मिलती हैं ।

राजा के संबन्ध में प्रायः कहा जाता है कि उसका परम धर्म तो अपनी प्रजा का पालन है । अपनी प्रजा के इच्छानुसार या उनके हिताहित के अनुकूल राज करने में ही राजाओं का श्रेय है । अतः कहा जाता है -- 'राजा प्रकृतिरंजनात्' । राजा को इस बात की ओर ध्यान देना है कि उसका शासन बहुत ही न्यायपूर्ण हो । राजा की न्यायप्रियता से ही प्रजा सुख शान्ति और चैन से रह सकती है । क्योंकि प्रजा के सुख में ही राजा की सुख भावना, नहीं तो उसे अपना अधिकार छोड़ देना पड़ता है । राजा के न्यायपूर्ण शासन की महत्ता को प्रकट करनेवाली हिन्दी कहावत है -- 'राजा राम परजा चैन'। जिस राज्य में न्यायप्रिय राजा होता है वहाँ की प्रजा भी सुख चैन से रहती है । प्रजा में उच्च नीच का भाव न रखते हुए जो अपराध करनेवाले सभी के लिए एक ही प्रकार का दण्ड देना राजा का कर्तव्य है । तभी तो राजा अपनी प्रजा की प्रशंसा करेगी और राजा तथा राज्य की रक्षा के लिए अपनी जान को भी न्यौछावर कर देने को तैयार होगी । प्रजा कहीं कहीं राजा को देवता मानकर उसकी हर हुक्म स्वीकार

---

1. शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् । दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्मस्वभावजम् ।।

कर लेती है । इस बात को स्पष्ट करनेवाली एक उक्ति है -- 'राजा प्रत्यक्षदेवता'। प्रजा यह मानती है कि राजा तो प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़नेवाला देवता है जिसकी आज्ञाओं को शिरोधार्य करना उसका कर्तव्य है ।

राजा को प्रत्यक्ष देवता माननेवाली प्रजा उसीका अनुकरण करती है । प्रजा की इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करनेवाली संस्कृत की उक्ति भी मिलती है -- 'यथाराजा तथा प्रजा' । जैसा राजा वैसी प्रजा वाली हिन्दी कहावत भी इसी तथ्य को स्पष्ट करती है । कोंकणी में भी इस तथ्य को यों अभिव्यक्त किया जा सकता है -- 'राजा तसोच प्रजा' । (जैसा राजा वैसी प्रजा) राजा का व्यवहार जिस प्रकार का होता है उसी प्रकार का व्यवहार ही प्रजा भी करती है । अर्थात् यदि राजा सद्गुणसंपन्न तथा धर्म का पालन करनेवाला हो तो राज्य में प्रजा भी अपने गुणों को छोड़कर एक दूसरे के प्रति अच्छा व्यवहार करती है जिससे राज्य का विकास संभव हो जाता है । इसके उलटे किसी राजा का गुणहीन तथा निर्दयी होने पर प्रजा भी उसी प्रकार का व्यवहार करती है । अतः राज्य की उन्नति के लिए राजा की सच्चरित्रता की ओर अधिक ध्यान देना है । राजा के सद्गुणसंपन्न होने से प्रजा उसे देवता तथा अपने देश का स्वामी मानती है । प्रजा की इस मान्यता की ओर संकेत करनेवाली हिन्दी कहावत है -- 'एक ईश्वर का दूजा बादशाह का' इस संसार का पालन ईश्वर करता है तो देश का राजा करता है क्योंकि जिस प्रकार ईश्वर ही सारे संसार का अधिकारी बनकर उसका नियन्ता है वैसे ही देश का शासनकर्ता होकर राजा सारे देश का परिपालन करता है । देश पर राजा का ही अधिकार होता है । ईश्वर के समान वह भी सर्वशक्तिमान है । वह अपनी शक्ति से समुद्धार एवं प्रजापालन करता है । कोंकणी में अक्सर कहा जाता है -- 'राजा देवु रावु' । प्रस्तुत उक्ति में ऊपर कही हुई बात ही ध्वनित होती है । राजा की गलती की कोई भी सवाल नहीं उठाता । इसी लिए कहा जाता है -- 'राजा करे सो न्याय पांसा पड़े सो दाव' । राजा को जो बात न्यायपूर्ण लगती है वही न्याय है । राजा जो कुछ चाहता है वही करता है । प्रजा में उसकी ओर उंगली तक उठाने की हिम्मत नहीं रहती । अपने प्रिय लोगों के गुनों पर विचार करते समय राजा को एक तरह का न्याय अच्छा लगता है तो वही न्याय दूसरों के संबन्ध में पूर्णतः बदलना पड़ता है । राजाओं की इस प्रकार की पक्षपातपूर्ण प्रवृत्ति और उनकी पक्षपातयुक्त न्यायव्यवस्था की हँसी उड़ाते हुए कोंकणी समाज में कहा जाता है -- 'चुकां चेल्लाक राजा पावलेक मारतो' । (भूलों के गुस्से से रानी को भी पीटा)। कल्पनानुसार जब अपराध का दण्ड मिलता है तो उस पर अमी का

प्रयोग होता है जब कि राजस्थानी के सिलसिले में अन्न का प्रयोग धूली के मुंडे में परिवर्तित होता है। उपर्युक्त कहावत समाज में उन लोगों के लिए भी प्रयुक्त है जो अपने शिष्यगणों द्वारा की गई कुरीति को छिपाकर दूसरों के माथे पर सारा अपराध थोप देते हैं और उन्हें नियमानुसार दण्ड भी दिया करते हैं।

वैसे ही कई राजा लोग ऐसे भी होते हैं जो अपनी ओर से किए गए कार्यों को महत्वपूर्ण मानते हैं, यद्यपि वे कार्य उनकी मूर्खता को दिखाते हैं। जैसा कि भोजपुरी भाषा-भाषियों के बीच एक कहावत भी प्रचलित है -- 'नेवाज राजा लिहलहिं लिलारे अस लगाइ तो कस्तूरी होइ'। (राजा के माथे पर यदि गोबर का तिलक हो तो भी वह कस्तूरी का माना जाता है) राजा जो भी करेगा वह प्रशंसनीय होगा। गोबर तो बहुत ही गन्दी चीज है फिर भी राजा के माथे पर उसे कस्तूरी की सुगन्ध से युक्त माना जाता है। स्पष्ट है कि भोजपुरी में राजा के वस्तुगत वर्णन की अपेक्षा उनके प्रति किए गए व्यंग्य ही अधिक मिलते हैं। कहावतें सामान्य जनता की संचालित होती हैं। इसलिए इनमें आदर्श की अपेक्षा यथार्थ की ही प्रमुखता होती है। हिन्दी में भी यह प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। राजाओं के अधिकार के दुरुपयोग से त्रस्त जनता उनकी बराबर आलोचना करती रहती है। निम्नलिखित कहावत इसी ओर संकेत करती है। 'पीठ पीछे बादशाह को भी बुरा कहते हैं'। एक ओर देवता मानकर जिस राजा की पूजा होती है उसीकी परोक्ष आलोचना भी की जाती है। प्रस्तुत कहावत में सामान्य लोगों की आलोचनात्मक कटु प्रवृत्ति की ओर संकेत है। अपने अधिकार में मस्त राजा लोग प्रायः बहुत ही हठी होते हैं। वे यही चाहते हैं कि प्रजा लोग उनकी आज्ञा का पालन करें। यही नहीं वे कभी भी दूसरों के सामने सिर झुकाकर अपनी पराजय नहीं स्वीकार करते। ऐसे राजाओं की ओर संकेत करनेवाली कहावत हिन्दी में भी चलती है। 'बालहठ, तिरियाहठ, राजहठ' राजालोग भी बालकों सा हठ करते हैं। जिस प्रकार बालक हठ करके अपनी इच्छा की पूर्ति कर लेता है, चाहे उसका हठ बड़ों के लिए अस्वीकार्य ही क्यों न हो, वैसे ही राजा भी हठ करके अपनी सभी कामनाओं को पूर्ण कर लेते हैं। राजपूत अपने हठ तथा कट्टरता के लिए प्रसिद्ध हैं ही। उनके हठ को भी व्यक्त किया जाता है -- 'राजपूत जाट मुगल के धनुही टूट जात [illegible] नवे नहीं कब हीं'। राजपूत और जाट दोनों मुगल के उस धनुष के समान है जो झुकाने से झुकता नहीं, भले ही क्यों न टूट जाय। राजपूत और जाट लोग तो कभी भी

अपना हठ नहीं छोड़ते यद्यपि उससे उन्हें हानि ही क्यों न पहुँचे । यहाँ पर राजपूतों की युद्धवीरता एवं स्वभावजन्य कट्टरता की अभिव्यक्ति हुई है । वे क्रोध के मूर्तिमान रूप मालूम होते हैं और किसी का कहना नहीं मानते । इसी कारण राजाओं से सोच समझकर बातें करनी चाहिए । राजा के आगे खड़ा रहना घोड़े के पीछे खड़े रहने के समान है । इस तथ्य की ओर संकेत करनेवाली हिन्दी कहावत है 'हाकिम की अगाड़ी और घोड़े के पिछाड़ी खड़ा न हो' । क्योंकि जिस प्रकार घोड़े के पीछे खड़े रहने पर घोड़े की दुलत्ती मिलती है वैसे ही राजा के आगे खड़े होने से राजा की नाराजगी से बचना कोई आसान कार्य नहीं है । अपनी नाराजगी में राजा यह नहीं देखता कि उसके आगे अपना मित्र या शत्रु खड़ा रहता है और जो भी हो उसी पर अपना सारा क्रोध उतार देता है । इस वक्त राजा पीछे मुड़कर देखता ही नहीं कि अपनी नाराजगी का हेतु पीछे है या नहीं । वैसे ही घोड़ा अपना क्रोध पीछे खड़े व्यक्ति पर ही उतारता है , न कि आगे खड़े व्यक्ति पर । क्योंकि घोड़े का जन्मजात स्वभाव है , पीछे के पैरों से लात मारना । इसलिए चाहे कोई भी उसके पीछे खड़े हो अब वह क्रोध में केवल उसी को लात ही मार देता है न कि आगे खड़े व्यक्ति को , यद्यपि वही उसे खिलानेवाला हो । कोंकणी समाज के लोग भी इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं है -- 'घोड्या मागो राबूनये आनीक राया मुखार राबूनये' । (घोड़े के पीछे और राजा के आगे खड़ा नहीं रहना चाहिए) । कहने का अर्थ है कि साधारण जनता को राजा की आँखों से दूर ही रहना चाहिए । यह नहीं कहा जा सकता कि राजा का स्वभाव कब बदल जाएगा और क्रोध दण्ड के रूप में परिणत हो जाएगा । घोड़ों के समान राजाओं का स्वभाव भी पल पल में बदलता है । घोड़ा अपने पालक को भी नाराज होकर पीछेवाले पैरों से लात मार देता है ।

प्रायः राजाओं या स्वामियों की विशेषता है उनकी वीरता - क्रूरता । लेकिन कभी कभी ऐसे राजा भी शासन के अधिकारी बन जाते हैं जो अत्यन्त मूर्ख तथा कायर हों । ऐसे धैर्यहीन और विवेकहीन राजाओं के हाथों में पड़कर देश भी अवनति की गहराइयों में फिसल जाता है । इन राजाओं की मूर्खता की ओर संकेत करते हुए हिन्दी समाज में ऐसी कहावतें भी प्रयुक्त होती हैं -- 'अंधेर नगरी अबूझ राजा , टके सेर तरकारी टके सेर खाजा' और 'अंधा राजा चौपट नगरी' । किसी अविकसित देश में यदि विवेकहीन राजा राज करता है तो वहाँ चीजें बहुत ही सस्ती मिलती हैं जिससे अन्त में उस नगर की अवनति हो जाती है । दूसरे शब्दों में यदि राजा अंधा है ,

यदि राज्य में चलनेवाले अन्यायों पर ध्यान नहीं देता है तो उस देश की बड़ी ही दुःखात्मक स्थिति हो जाती है । किन्तु ये राजा लोग अपने को परम विवेकी मानकर चलते हैं तब उनकी इच्छा निरी मूर्खता दिखाती रहती है ।

वैश्य का स्वरूप

सामाजिक जातिव्यवस्था या वर्णाश्रम व्यवस्था में वैश्यों का स्थान ब्राह्मण और क्षत्रिय के पश्चात् आता है । वैश्यों का और एक नाम है वणिक जिससे ज्ञात होता है कि इन लोगों का प्रमुख कर्तव्य व्यापार करना होता है । व्यापार के अतिरिक्त वैश्यों के अन्य कर्म ये हैं खेती, पशुपालन आदि ।[1] धन धान्य उत्पन्न करके तथा उनका क्रय विक्रय करके संपत्ति जुटाना ही वैश्यों का लक्ष्य रहा है जिससे इन्हें समाज का धनाढ्य वर्ग समझा जाता है । हिन्दी तथा कोंकणी समाजों में भी वैश्यों का उल्लेख मिलता है और व्यापारी लोगों से संबन्धित कहावतें भी दोनों समाजों में प्रचलित हैं । इससे विदित होता है कि दोनों समाजों में भारतीय वर्ण एवं जातिव्यवस्था कायम रही थी जिसकी मात्र एक रूपरेखा ही आज मिलती है ।

हिन्दी समाज में वैश्यों को बनिया तथा साहूकार नाम से अभिहित किया जाता है । कोंकणी समाज में इन्हें 'शेटिव' नाम से संबोधित किया जाता है । पहले ही कहा जा चुका है कि वैश्यों का प्रमुख कर्तव्य व्यापार करना है और इस विषय में वे बड़े कुशल भी होते हैं । इस तथ्य की ओर संकेत करनेवाली कहावत है -- ' बनज करेंगे बनिये और करेंगे रीस

बनज करा था भाट ने सौ के रह गए तीस ।।'

प्रस्तुत कहावत से यही अर्थ निकलता है कि व्यापार तो बनिया लोग ही कर सकते हैं और वे अपनी चतुरता से अधिक लाभ भी उठा सकते हैं । बनिये को इस प्रकार लाभ उठाते देखकर यदि कोई भाट भी व्यापार करने लगे तो वह उसमें सफल नहीं होगा और लाभ की अपेक्षा उसको हानि ही ही हो जायगी । कोई बनिया दस रुपये मूल से सौ रुपये का लाभ उठाता है जब कि एक भाट सौ रुपये से लाभ उठा ही नहीं सकता, अपितु मूल सौ रुपये से तीस रुपये में घट जाता है । इससे यह बात स्पष्ट होती है कि बनिये ही व्यापार करने का मर्म जानते हैं और

---

1. गीता. अ. 18 श्लो. 44

इसीलिए व्यापार करने का अधिकार समाज में प्राचीनकाल से ही उन्हींके हाथों में सौंप दिया गया है। प्रस्तुत कहावत में सामान्य रूप से व्यक्तिस्वभाव की ओर भी संकेत मिलता है कि व्यक्ति अपने वर्ग के अनुसार ही काम कर सकता है।

बनिया बड़ी चतुरता से समाज की मांग को समझकर अपनी चीज़ों के मोल में उतार-चढ़ाव लाकर लाभ उठाता है। वह एक कौड़ी भी छोटे काम के लिए खर्च नहीं करता है। यदि उसे एक पैसा भी यहीं मिलने का रास्ता है तो उस रास्ते से जाने में वह हिचकता नहीं है, चाहे मिलने को कष्ट उसे क्यों न झेलने पड़ें। इसलिए कहा जाता है 'बनिये का बेटा कुछ देख ही के गिरता है'। प्रस्तुत कहावत में बनिये की धन कमाने की चतुरता को व्यक्त करनेवाली एक छोटी सी घटना निहित है जो इस प्रकार है -- किसी बनिये का लड़का सिर पर तेल का घड़ा लिया जा रहा था। रास्ते में एक जगह फिसलकर वह गिर पड़ा। साथ ही सिर से घड़ा भी गिर पड़ा। यह देखकर किसी ने जब उसके बाप को खबर दी तो उस बाप ने उत्तर दिया -- 'मेरा बेटा बेमतलब नहीं गिरा होगा, सड़क पर कोई चीज़ पड़ी दिखाई पड़ी होगी।' उस पिता ने जो कहा था वह ठीक ही था क्योंकि लड़के को फिसलकर गिरने पर एक अशर्फी पड़ी मिली थी। लड़के के गिर जाने पर तेल भी थोड़ा कुछ नष्ट हो गया। लेकिन बनिया उसकी परवाह नहीं करता, उसे तो अशर्फी ही पड़ी है। वह यही सोचा करता है कि अपनी अशर्फियों में और एक भी मिल जाय तो अच्छी बात है। ऐसे बनिये बड़े कंजूस भी होते हैं। [illegible] अपने धन का अधिक खर्च करना उनके लिए दुःख की बात है। अपने स्वास्थ्य की परवाह किये बिना वे धन जुटाने में ही लगे रहते हैं। इस ओर संकेत करनेवाली उक्ति है -- 'चमड़ी जाय पर दमड़ी न जाय'। अपने प्राणों को न्योछावर करने वाला बनिया धन के खर्च में पीछे रहता है।

व्यापार करने के साथ ही बनिये ब्याज में धन दूसरों को दिया करते हैं। सूद का औपचारिक हिसाब देने में ये लोग बड़े चतुर हैं। उनका सूद दिन दुगुना, रातोंने चौगुना बढ़ जाता है और कर्ज लिया हुआ व्यक्ति कष्ट भोगता रहता है। 'बनियेकी उधार और घोड़े की दौड़ बराबर'। प्रस्तुत कहावत में बनिये के बढ़ते रहनेवाले सूद की ओर संकेत मिलता है। घोड़ा तो पहले बहुत धीरे दौड़ने लगता है और बाद में तेजी से जिससे देखनेवाले को लगता है कि वह कभी रुकनेवाला नहीं है। वैसे ही बनिये का हिसाब दिन दोगुन बढ़ता ही रहता है; उसमें कोई

कभी नहीं जाती । उनके सूद के साथ ही उनके कर्ज को चुकाने के लिए साधारण लोगों को अपने माल-असबाब बेचने पड़ते हैं । इस प्रकार साधारण लोगों के असबाबों का चुरानेवाले बनिये के लिए समाज की चेतावनी है -- 'वड्डी पुरुडु उदन्तु चेलोलो' (ब्याज के धन पर पानी फिरेगा)

बनिये से संबद्ध उपर्युक्त हिन्दी तथा तेलुगु कहावतों के अध्ययन से लगता है कि दोनों समाजों में वणिज या व्यापार करनेवाले सब प्रकार की जाति के थे । समाज में वे ही धनी माने जाते थे । किन्तु उनके लालच और कंजूसी को देखकर समाज उन पर व्यंग्य भी क्या करता है और इसीलिए समाज में उनसे संबन्धित कहावतें भी प्रचलित हुई हैं ।

शूद्र का स्वरूप

जो भी शूद्र से संबन्धित साधारण कहावतें अनुपलब्ध हैं फिर भी पेशेवर जातियों में चमार नाई, धोबी आदि शूद्रों के ही अन्तर्गत गिने जाते हैं । इसलिए इनसे संबन्धित कहावतों में शूद्र का विशेष स्वरूप प्राप्त होता है जिसका विश्लेषण आगे 'पेशेवर जातियों का स्वरूप' के अन्तर्गत किया जायगा ।

पेशेवर जातियों का स्वरूप

सुनार

समाज में लोगों के लिए गहने बनाकर देना ही सुनार का पेशा है । वह लोगों के मनचाहे अनुरूप बनाकर अपनी कुशलता को भी प्रकट कर देता है । गहने बनाते रहने के कारण सुनार के पास सदा सोना रहता है । अतः कहा जाता है -- 'सोना सुनार का आभूषण संसार का ' सोना तब तक सुनार के पास रहता है जब तक वह गहने बन जावे । गहने बन जाने पर सोना सुनार को छोड़कर दूसरों के पास जाता है जो उसे कई प्रकार से पहनते हैं । सुनार के संबन्ध में यह एक सर्वमान्य सत्य है कि उसमें चोरी करने की प्रवृत्ति अवश्य रहती है । निम्न-लिखित कहावत इस बात पर प्रकाश डालती है -- 'सुनार अपनी माँ की नथ में से भी चुराता है' सुनार अपनी माँ को भी ठगा लेता है तो औरों की बात क्या ? जब सुनार गहने बनाता है तो सोने में से छोटे-छोटे परिमाण में सोना चुराता है । कलात्मक ढंग से गहने बनाते वक्त सुनार को थोड़ा सा सोना स्वाभाविक रूप से ही मिलता है । लेकिन कभी इससे तृप्त न होकर वह

थोड़ा सा और भी चुरा लेता है । चोरी करने की प्रवृत्ति मात्र दूसरों के ही नहीं, और तु अपनी ही माँ के आभूषण बनाते समय भी सुनार के मन में प्रबल रहती है । नाक में पहननेवाला एक छोटा सा आभूषण है जो कम तोले के सोने से बनाया जाता है । लेकिन सुनार इसमें भी चुराता है । सोना चुराना उसका तो जन्मजात स्वभाव है और इस संबन्ध में वह यह नहीं सोचा करता है कि सोना अपनी ही माँ का है । इस बात को व्यक्त करनेवाली एक कहावत कोंकणी में भी यों मिलती है -- '[illegible]' (सुनार अपनी माँ के मंगलसूत्र में से भी चुराता है) ।

सुनार के संबन्ध में यह भी एक सामान्य धारणा रही है कि वह कभी गहने पूरा करके नहीं देता । कहा जाता है -- ' सुनार की कड़ाई और दर्जी के बीज' । सुनार दर्जी आदि कभी वादे पर काम नहीं करते । इनसे जब कोई अपनी चीज माँगने आता है, तब सुनार 'सब तैयार है केवल स कड़ाई डालना है ' और दर्जी 'केवल बंद लगाना है', ऐसा कह कर ग्राहक को टाल देता है । सुनार गहने बनाकर उनको चमकीले बनाने के लिए कड़ाई में डाल देता है । उसके बाद उन गहनों का कुछ नहीं करना पड़ता । केवल कड़ाई से लेकर ही डालना होता है, जो गहने बनानेकी अन्तिम क्रिया है । लेकिन कभी कभी आलसी होकर सुनार अपना काम पूरा नहीं करता और इसलिए निश्चित समय ग्राहक को गहने नहीं देता ।

चमार

समाज में जूते सीनेवाले लोग ही चमार कहे जाते हैं । दूसरे लोगों के जूते सीकर वे अपना जीवन गुजारते हैं । दूसरों की सेवा करनेवाले वे नीच जाति में गिने जाते हैं और इसीलिए दूसरे वर्णों के साथ समाज में उनका कोई स्थान नहीं रहता । उन्हें नीच मानने का यह भी कारण है कि वे चमड़े से ही काम करते हैं और जानवरों की चमड़ी उनके कर्म के लिए कार्य चीज है । किन्तु चमार का व्यापार तो सिर्फ चमड़ा ही है । हिन्दी की कहावत है -- 'चमार चमड़े का यार' । चमार और चमड़ा दोनों एक दूसरे के दोस्त होते हैं । उनकी दोस्ती तबतक बनी रहती है जब तक इन दोनों में से कोई एक न रह जाय । यह चमड़े से इतना

संबद्ध रहता है कि बिना चमड़े के उसका पेशा ही नहीं , उसका जीवन भी संभव नहीं है । चमड़े के संसार में रहनेवाले चमार का मन्दिर में जाना निषिद्ध है । वह उच्च जाति के लोगों के साथ मन्दिर नहीं जा सकता । क्यों नहीं , ईश्वर की पूजा से भी वह वंचित है । लेकिन उसके मन में ईश्वर के प्रति जो भक्तिभावना है उसे वह प्रकट किए बिना नहीं रह सकता । इस ओर संकेत करनेवाली भोजपुरी कहावत है -- 'चमारतो देवता जूती पूजा' । (चमार के भगवान की जूतों से पूजा की जाती है) । उच्चवर्ण के लिए जो चमड़ा निकृष्ट चीज है उसी चमड़े में तथा उससे बनाये बरतन में चमार पूजाद्रव्य रखकर अपने ईश्वर की पूजा करता है । चमार की भक्ति को समझकर देवता भी उससे प्रसन्न हो चमड़े से तृप्त होता है । प्रस्तुत कहावत प्रत्यक्षतः चमार संबन्धी है तथापि इसमें निहित आन्तरिक अर्थ उन लोगों पर व्यंग्य करता है जो झूठी भक्तिभावना लेकर फिरते है ।

हिन्दी समाज में भी चमार के संबन्ध में कहा जाता है कि उसे सदा अगाध कष्ट ही झेलने पड़ते है । इसीलिए वह कहते है -- 'चमार को अर्श पर भी बेगार' । अर्थात् चमार इस दुनिया की मुसीबतों से ऊबकर यदि स्वर्ग में जाय तो वहाँ भी उसे सुख की जगह और अधिक कष्ट भोगने पड़ेंगे । चमारसंबन्धी इस कहावत से यही तथ्य विदित होता है कि भाग्य में जो लिखा है वह कभी नहीं मिटता । किसी की मनोकामना स्वर्ग जाने से भी पूरी नहीं होती । चमार तो रात दिन चमड़े से जूते बनाता रहता है । यदि उसे चमड़ा नहीं मिल जाय तो वह जूते नहीं बना सकता और इसी कारण उसे मालगुजारी के लिए पैसे भी नहीं मिलते । इसीलिए वह चाहता है कि ढोरा मर जाये जिससे वह उसकी खाल उतारकर जूते बना सके । लेकिन मात्र उसके चाहने से ढोरा नहीं मर जाता । चमार की चाह पर व्यंग्य करते हुए समाज में कहा जाता है --' ' चमारों के कोसे ढोर नहीं मरते' । अपनी मनोकामना को पूरा करने के लिए चमार ढोर का मरना पसन्द करता है जिसमें उसका स्वार्थ भी निहित रहता है । प्रस्तुत कहावत इस सामाजिक तथ्य को भी व्यक्त करती है कि किसी के चाहने मात्र से किसी का नुकसान नहीं होता ।

नाई

चमार की तरह नाई लोग भी समाज के नीच जाति के लोगों के अन्तर्गत आते हैं। दूसरों के सिर के बाल समय पर उनकी इच्छानुसार काट कर पैसा कमाना इनका काम है। हिन्दी तथा कोंकणी दोनों समाजों में यह जाति मिलती है। हिन्दी में एक कहावत यों मिलती है - 'नाई के आगे सब सिर झुकाते हैं'। नाई तो अभिव्यक्ति में सबसे नीच जाति का है। उसे अपने से उत्कृष्ट जाति का आदर सम्मान करना चाहिए। लेकिन जब बाल काटने की नौबत आती है तो सबको नाई के सामने सिर झुकाना पड़ता है। इसमें व्यंग्य की बात नहीं उठती। अपने पेशे से मिलनेवाली छोटी सी आय से ही नाई अपना जीवन बिताता है। इसलिए वह अधिक धन कमा नहीं सकता और उसके घर में विलासिता की चीजें भी देखने को नहीं मिलतीं। निम्नलिखित हिन्दी कहावत में यह बात व्यक्त हुई है -- 'नउआ क के घर चोरी भेल तीन चोंगवा केस'। नाई के घर चोरी हुई भी तो तीन चोंगा बाल ही गए। उसके यहाँ बाल के सिवा और क्या रखा है। कहने का अर्थ है कि नाई के घर कोई कीमती चीज नहीं रहती। काम करते हुए छोटे छोटे बाल ही पड़े रहते हैं।

नाईसंबन्धी कोंकणी समाज की कहावत है -- 'सुण्या रोम असून् म्हाल्याक हांव गुणु ?' (कुत्ते के बाल बढ़ने से नाई को क्या लाभ ?) कुत्ते के सारे शरीर में बाल रहने पर भी नाई को कोई फायदा नहीं। क्यों कि कुत्ता कभी अपने बाल कटवाने के लिए नाई के पास नहीं जाता और इससे नाई को पैसा नहीं मिलता। पर मनुष्य के सिर पर बाल हों तो नाई को जरूर कुछ लाभ मिलता है। मनुष्य अपने सिर के बाल बढ़ने नहीं देता। वह ठीक समय पर उसे कटवाकर सँभालकर रखना चाहता है। इसलिए नाई को पैसा देकर बाल कटवाता है। लेकिन कुत्ते के बाल बढ़ने से नाई को कोई प्रयोजन नहीं। प्रस्तुत कहावत में नाई के पेशे की ओर संकेत किया गया है। नाई के सामान्य स्वभाव को प्रकट करनेवाली व नाई संबन्धी जो सामान्य धारणा समाज में प्रचलित है उसे अभिव्यक्ति देने वाली कई कहावतें भी मिलती हैं। यह माना जाता है कि नाई का अशौच कभी दूर नहीं होता क्योंकि वह दूसरे का बाल सदा काटता ही रहता है और बाल काटना एक अशौच कर्म है। इस ओर संकेत करनेवाली कहावत है - 'नाई धाई वैद कसाई इनका सूतक कभी न जाई'। नाई, धाई, वैद, कसाई, इन लोगों का अशौच कभी नहीं जाता क्योंकि नाई का सूतक से हमेशा काम पड़ता है, धाई बच्चा

कमाते है, वैद्य का कोई न कोई रोगी मरता रहता है और कसाई ढोरों का वध करता ही रहता है। इस प्रकार सदा अशौच कर्म करनेवाला क्या अशौच से अलग रह सकेगा? नाई भी पाप ही ले ले। हिन्दू जाति में विशेषतः हिन्दी और कोंकणी समाज में अन्त्येष्टि संस्कार में लाश को आग लगानेवाले व्यक्ति के सिर का मुण्डन करना पड़ता है। उस समय नाई को बुलाया जाता है। यही नहीं सिर के बालों का काटना अपने में अशौच माना जाता है। अशौच काम करनेवाला होने के कारण नाई सहज ही अशौच माना जाता है।

नाई नीच जाति का होने के कारण उसके घर के किसी कार्य में उच्च जाति के लोग भाग नहीं लेते। इस बात की ओर संकेत करनेवाली कहावत है --'नाई की बारात में सब ही ठाकुर' नाई सबकी बारात में सेवा टहल करते है पर उनकी बारात में वह कौन करे? वह तो सभी उच्च जातियों की तन तोड़कर सेवा करता है। लेकिन जब उसका कोई कार्य आए तो वही लोग उसकी सहायता करने नहीं आते।

नाई में जन्मजात अवगुण भी रहते है। वह कभी कभी अभिमान करने लगता है जिससे अपना काम खुद करने में शर्माता है। इस पर हिन्दी समाज व्यंग्य कसता है --'नाई सबके पाँव धोवे अपने धोवे लजाए'। नाई दूसरों की सेवा करने में हिचकता नहीं है, लेकिन जब अपना कार्य करना है तो लज्जित होता है।

<u>धोबी</u>

समाज में कपड़े धोकर उच्चवर्ग की सेवा करनेवाले है धोबी। धोबी तो शहरवालों या गाँववालों के कपड़े लेकर उन्हें साफ करके वापस कर देता है तभी उसे पैसे मिलते है जिससे उसका जीवन गुजरता है। इस प्रकार कपड़े लेकर उन्हें नदी के किनारे तक ले जाने के लिए धोबी अपने पास गधे को रख लेता है। उसी पर वह कपड़े लाद देता है। हर दिन इस प्रकार बोझ उठाने से वह जानवर थक जाता है। उसे तो कभी छुट्टी ही नहीं मिलती। इस पर
'धोबी के घर ब्याह, गधे को छुट्टी मेला।'
कहा जाता है --'धोबी के घर ब्याह होता है तभी गधा छुट्टी मनाता है'। क्योंकि उस दिन उसकी पीठ पर कपड़े नहीं लादे जाते और उसे बोझ उठाकर नदी के किनारे जाना नहीं पड़ता। प्रस्तुत कहावत यह बात भी व्यक्त करती है कि धोबी रोज कपड़े धोता ही रहता है। विवाह या उसी प्रकार के किसी अवसर पर ही वह अपने पेशे से अलग रहता है।

प्रायः धोबी लोग बेवकूफ होते हैं। उनकी बेवकूफी की ओर संकेत करनेवाली कहावत है - 'धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का'। यह तो धोबी पर व्यंग्य है जिसके पीछे एक कहानी भी चलती है। कोई धोबी नदी में कपड़े धो रहा था, तब नदी में पानी अधिक नहीं था। इसलिए धोबी ने नदी के दोनों किनारों पर कपड़े सुखाने को डाले। इतने में बादल घोर था। पानी बरसा। धोबी सोचने लगा - 'कपड़े भीग तो जायेंगे, चलो उन्हें उठा लूँ'। नदी के एक किनारे को देखकर उसने कहा -- 'इस ओर अधिक कपड़े हैं तो पहले इन्हें उठा लूँ'। यह कहते हुए वह कपड़े उठाने लगा। एकदम उसकी दृष्टि दूसरे किनारे पर डाले हुए कपड़ों पर पहुँची। तत्क्षण में सोचने लगा -- यहाँ से तो अधिक कपड़े उस ओर हैं, उन्हें पहले उठाना चाहिए। नहीं तो वे भीग जायेंगे। इस प्रकार सोचते हुए वह इस ओर के कपड़े छोड़कर दूसरी ओर जाने लगा। घोर की वर्षा के कारण नदी में प्रवाह बढ़ा और धोबी चलते चलते उस धारा में बह गया। प्रस्तुत कहावत और उससे विदित कथा से पता चलता है कि धोबी का मन तो अस्थिर है और वह एक ही जगह नहीं रुकता। यदि वह एक ही किनारे के कपड़े उठा लेता तो उसे कपड़े भी मिलते और वह प्रवाह में बहता भी नहीं होता। यहाँ उसकी बेवकूफी के साथ उसकी लालच भी व्यक्त किया गया है। समाज में इसी स्वभाव के दूसरे लोग भी बहुत मिलते हैं जो अपने लालच में अपने पास जो कुछ है उसे भी खो बैठते हैं।

धोबी प्रायः शहरवालों के कपड़ों को ही धोने के लिए ले जाता है। इसलिए उसके पास अच्छे एवं कीमती कपड़े भी रहते हैं, जो उसके अपने नहीं होते। धुलाई करने के बाद उन्हें लौटाना पड़ता है। गरीब होने के नाते वह अपने बच्चों को कीमती वस्त्र पहना नहीं सकता, लेकिन उसके मन में यह इच्छा रहती है कि अपने बच्चों को अच्छे कपड़े पहनाना है और इसीसे प्रेरित होकर वह धुलाने को लाये गये कपड़े अपने बच्चों को पहनाता है। कहा जाता है -- 'गाँव में धोबी का छैला'। गाँव में धोबी का लड़का ही शौकीन बना फिरता है, क्योंकि उसका बाप शहरवालों के जो कपड़े धोने को ले आता है वह उन्हें पहनाता है, जो गाँववालों को देखने को भी नहीं मिलते। अच्छे कपड़े पहनकर गरीब लड़का गर्व करने लगता है। लेकिन वह यह नहीं सोचता कि उसने जो कपड़े पहने हैं वे पराये हैं और धुलाई के बाद उन्हें लौटाना है। यह कहावत इस बात को भी स्पष्ट कर देती है कि जहाँ बेवकूफ हैं उनके बीच थोड़ा अकलवाला अपने को बड़ा मानता है जैसे अन्धों में काना राजा। इसी तथ्य की ओर संकेत करनेवाली और

एक कहावत है --'धोबी बेटा चाँद सा दीठी और पटाक'। कभी कभी धोबियों को अपने ग्राहकों से मुफ्त में पुराने कपड़े मिलते हैं। जब ये कपड़े मिलते हैं तो धोबी के बच्चे सन्तुष्ट होकर उन्हें पहनते हैं। वे इस ओर ध्यान देते ही नहीं कि ये कपड़े मैले हैं या नहीं। किन्हीं की कहावत है --'धोबी का छैला एक उसका एक पैला'। कपड़े मैले हैं तो उन्हें साफ करके पहनना है। लेकिन अच्छे कपड़े पहनने को न मिलनेवाले धोबी के बच्चे मुफ्त में मिले किसी कपड़े को मिलते ही झट पहनना चाहते हैं और इसी कारण कपड़े के मैल पर विचार नहीं करते। जब अपने पास ज्यादा कपड़े हो और समय पर ग्राहकों को कपड़े वापस करना हो तो धोबी अपने परिचित किसी धोबी से भी कपड़े धुलवाता है। लेकिन दूसरा धोबी सफाई पर इतना ध्यान नहीं देता जितना पहला देता है। उससे किया गया काम व्यर्थ होजाता है। निम्नलिखित कहावत में यह बात भी व्यक्त की गई है --'धोबी पर धोबी बसे गुदड़ी में साबुन'। कोई धोबी अगर दूसरे धोबी से अपने कपड़े धुलवाये तो वह वैसा ही होगा जैसे गुदड़ी में साबुन लगाना। गुदड़ी में साबुन लगाए तो वह साफ भी नहीं होगी और साबुन भी व्यर्थ ही खतम हो जाती है। धोबी की ऐसी ही स्थिति को बतानेवाली और एक कहावत है --'धोबी रोये धुलाई को मियाँ रोये कपड़े को'। जब धोबी अपना मेहनताना माँगता है तो ग्राहक अपने कपड़े की सफाई पर दोष निकालकर पैसे देने में देरी लगाता है। यही नहीं कभी कभी पूरा मेहनताना भी नहीं दिया करता।

कुम्हार

कुम्हार भी समाज में पेशेवर जातियों के अन्तर्गत आते हैं जो मिट्टी से हाँडी तथा दूसरे कई तरह के बरतन बनाते हैं। जिस तरह चमार चमड़े के व्यापार में लगा रहता है वैसे ही कुम्हार सदा मिट्टी से संबद्ध रहता है। इस तथ्य की ओर संकेत करनेवाली कहावत है - 'कुम्हार का गधा जिन्हों के धूल मिट्टी ढोवे उन्हीं के पीछे पीछे'; कुम्हार अपना माल बाजार ले जाकर बेचने के लिए गधे पर ही लाद देता है। यह तो मानी हुई बात है कि गधा तो बेवकूफ जानवर है। वह ऐसा समझता है कि उसका मालिक वही है जिसके शरीर पर मिट्टी लगी है। इसका कारण यही है कि मिट्टी में बैठकर ही कुम्हार बरतनों का काम करता है

और उसके मुख पर मिट्टी का लग जाना स्वाभाविक ही है । इसलिए गधा जिस किसी के शरीर पर मिट्टी देखता है उसे अपना मालिक समझकर उसके पीछे दौड़ता है ।

कुम्हार मिट्टी से कई तरह के बरतन बनाता है । लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि उसे कुल्हड़ की कमी महसूस होती है । इस पर यह कहावत भी होता है । कहा जाता है - 'कुम्हार के घर कूंडे का दुःख '। कुम्हार के घर में कूंडे या कुल्हड़ बनाये जाते हैं । उसके यहाँ उनकी क्या कमी ? लेकिन सत्य बात लेकर है कि कुम्हार के घर एक भी कुल्हड़ नहीं रहता । भोजपुरी की निम्नलिखित कहावत में कुम्हार का उल्लेख यों हुआ है -- 'कुम्हार कुम्हारिनो से कहिन मारवाने कहिन ' (कुम्हार कुम्हारिन का झगड़ा गधे की पीठ पर बैठा) । कुम्हार और कुम्हारिन अपने गुस्से में बेचारे गधे को ही पीटते हैं । प्रस्तुत कहावत में यह बात भी व्यक्त की गई है कि बड़ों के झगड़े में छोटों का विनाश होता है ।

इस प्रकार हिन्दी तथा भोजपुरी समाज में शूद्र वर्ग के अन्तर्गत पेशेवर जातियों की जो कल्पना की जा सकती है और दोनों भाषाओं में उपलब्ध कहावतों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों समाजों में परंपरागत भारतीय सामाजिक व्यवस्था की झलक मिलती है ।

हिन्दी तथा भोजपुरी कहावतों में परिवार का स्वरूप

समाज में परिवार का महत्व इसलिए रहा है कि दूसरी सामाजिक संस्थाओं की अपेक्षा केवल इसी संस्था की जड़ें धरती की गहराइयों में पहुँच चुकी हैं । समाज में वर्ग एवं जातिव्यवस्था के उद्भूत होने के साथ ही परिवार का भी जन्म हुआ । जिस प्रकार किसी एक जाति के अन्तर्गत एक ही प्रकार का आचरण करनेवाले लोग रहते हैं वैसे ही एक ही जाति के, एक ही प्रकार के आदर्श रखनेवाले, एक दूसरे के बीच समझौता करनेवाले मनुष्यों का समूह ही परिवार है । परिवार ही समाज का प्राथमिक घटक है जो कम से कम लोगों के मिल जुलकर रहने से, प्रजनन द्वारा बच्चों के पालन पोषण में कष्टों को झेलते हुए सुनिश्चित रूप से एक समूह का रूप धारण करता है ।[1] भारतीय परिवार में माता पिता, भाई बहन, पुत्र कन्या आदि लोग एक ही

---

1. The family is by far the most important primary group in society ... The family is a group defined by a sex relationsh. sufficiently precise and enduring to provide for the procreati. and upbringing of children .--Society -- An Introductory Analysis. --R.M.Maciver &Charles ..Page 238.

घर में एक साथ एकता की भावना को लेकर रहते हैं और वे व्यक्ति अपने अपने कर्तव्यों को निभाते हुए एक दूसरे के बीच अटूट संबन्ध स्थापित करते हैं । हिन्दी तथा कोंकणी समाज में परिवार का एक ही स्वरूप है और वह है शुद्ध भारतीय परिवार का । दोनों भाषाभाषियों के परिवार एक ही घर में रहनेवाले उन व्यक्तियों का समूह है जिनमें सहृदयता, कुछ बड़ों की प्रतिष्ठा, परस्पर सहयोग तथा पारस्परिक प्रेम रहता है । यही आदर्श परिवार का स्वरूप है यद्यपि कभी कभी किसी परिवार में मनमुटाव का रहना भी स्वाभाविक है । हिन्दी एवं कोंकणी समाज में आदर्श परिवार भी है तथा झगडालु परिवार भी । हिन्दी तथा कोंकणी भाषाभाषियों के परिवार प्राचीनकाल के संयुक्त परिवार के ही रूपान्तर हैं ।

परिवार में पुरुषों का स्थान

पहले ही कहा जा चुका है कि परिवार में कई सदस्य होते हैं जैसे माता पिता, भाई बहन बहू आदि । हिन्दी तथा कोंकणी परिवारों में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को ही अधिक प्रमुखता दी जाती है । इसी कारण किसी भी परिवार में पुत्री की अपेक्षा पुत्रजन्म का ही अधिक स्वागत किया जाता है । अतः कहा जाता है 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' । अर्थात किसी व्यक्ति को कितनी ही पुत्रियाँ हों, फिर भी उसका एक भी पुत्र न हो तो उसे इस संसार से मुक्ति नहीं मिलती, अर्थात् पुत्रहीन की गति नहीं है । यही नहीं, पुत्र ही एक ऐसा माध्यम है जो अपने पिता को पितृऋण से मुक्त करे और पूर्वजों को भी सद्गति प्रदान करदे । अतएव पुत्रजन्म के लिए ही भगवान से प्रार्थना की जाती है । पुत्रहीनता शाप समझा जाता है और पुत्री का जन्म दुःखदायक । कोंकणी की निम्नलिखित कहावत में यह तथ्य व्यंजित होता है

परिवार में सभी तरह से पुरुषों का ही सम्मान किया जाता है । किन्तु कोई भी मनुष्य अपने में पूर्ण नहीं है । वैसे ही पुरुषों में सभी प्रकार के गुणों के रहने पर भी उनमें कुछ कमियाँ अवश्य रहती हैं । अपनी कमियों की ओर ध्यान देकर अपने चरित्र को सुधारने के लिए प्राचीन काल से ही समाज में पुरुषों के प्रति कई लोकोक्तियाँ कहावतों के रूप में प्रचलित हैं ।

---- --

किसी न किसी काम में लगा रहना पुरुष का लक्षण है। यदि वह बेकार है तो परिवार के दूसरे लोग तथा समाज उसका सम्मान नहीं करेंगे। अतः आदर्श पुरुषों के लक्षणों को बताते हुए कहा जाता है --'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी' , 'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी' आदि। नौकरी ही पुरुष के लिए शोभनीय है। उसके अभाव में वह शोभित नहीं होता। आदर्श पुरुष का कर्तव्य है कि कोई न कोई नौकरी करके अपने परिवार की खुशहाली करे, तभी वह आदर्श गृहस्थ कहलाने योग्य है। क्योंकि आदर्श गृहस्थ का धर्म ही अपने परिवार को संभालना है। पुरुष को इसलिए भी बेकार नहीं रहना चाहिए कि बेकार रहने से वह अपने अमूल्य जीवन को व्यर्थ कर देता है जिससे उसे गौरव की जगह निन्दा को कड़वा घूंट पीना पड़ेगा। यही नहीं, बेकार व्यक्ति तो कोई फालतू काम करके अपना समय भी व्यर्थ कर देगा। ऐसे व्यक्तियों की ओर इंगित करनेवाली हिन्दी की एक कहावत है --'ठाली बनिया क्या करे, इस कोठी का धान उस कोठी में धरे'। प्रायः बनिया लोग कुछ काम धन्धा करते रहते। दूकान में दिन भर बैठकर सिर्फ़ मालों या सामानों का मूल्य ग्राहकों से लेते और सामान देते हैं। क्योंकि सामान तौलने और ग्राहकों को देने का काम तो दूकान के मजदूर लोग ही करते हैं। किन्तु बेकाम बैठा बनिया कुछ न कुछ करना चाहता है और वह एक जगह रखा धान दूसरी जगह कर देता है और वहाँ धर रखा और एक जगह। इस प्रकार करने से उसे कोई फायदा ही का नहीं मिलता, उलटे समय भी व्यर्थ हो जाता है। इसी तथ्य की ओर इंगित करनेवाली तेलुगु कहावत यों है--

'पेट्टी वेकलो मंगलिवाडु पिल्लल गुंडु गोरिगाडु' (खाली बैठा हुआ नाई बच्चों का मुण्डन करता है) नाई का काम लोगों को मुंडकर उससे घर को चलानेवाली चीजें कमाना है। लेकिन जब उसे करने के लिए कोई काम नहीं रहता है तो वह कुछ न कुछ करना चाहता है और बच्चों के मुण्डन करने के लिए तैयार हो जाता है।

उपर्युक्त हिन्दी तथा तेलुगु की कहावतों से यह बात स्पष्ट होती है कि दोनों भाषाभाषियों के परिवार के पुरुषों को बिना काम धंधे के रहना गौरव की बात नहीं। नौकरी ही पुरुष का गौरव है और यह तथ्य दोनों समाजों के लोगों के विचारों में समानता दर्शाता है।

पुरुष यानी गृहस्थ के नौकरी करने का यही उद्देश्य होना चाहिए कि वह अपनी आमदनी से पूरे परिवार का खर्च संभाल ले और घरवालों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करे । किन्तु कुछ ऐसे पुरुष भी हैं जो अपनी आमदनी से भी अधिक व्यय करते हुए अन्त में कर्ज लेकर सारा जीवन ऋण चुकाने में ही खो देते हैं । हिन्दी तथा कोंकणी समाजों में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं ऐसे लोगों को देखकर हँसते तथा उन पर व्यंग्य करते हुए दोनों भाषाओं में कई कहावतें मिलती हैं । हिन्दी की एक कहावत है --'अस्सी की आमदनी चौरासी का खर्च' । इसी तथ्य की ओर इंगित करनेवाली कहावत कोंकणी समाज में भी प्रयुक्त होती है --'एकु मेळ्ळारि दा वेचु' ।[1] एक रुपया मिल जाय तो दस रुपये का खर्च करता है । इस प्रकार आय से भी अधिक खर्च करने से इन लोगों में मान सम्मान की भावना निहित रहती है । वे यही चाहते हैं कि समाज में वे बड़े धनिक कहलायें । आगे कैसे जीवन बितायें, इस ओर वे ध्यान ही नहीं देते । कहीं कहीं पुरुषों को इसके लिए प्रेरणा देनेवाली स्त्रियाँ भी मिलती हैं जिसकी ओर निम्नलिखित कोंकणी कहावत में लक्ष्य किया गया है --'बार्हूवे मण्याक तेर्हूवि बायल'(यहाँ पति दस की आय में बारह व्यय करता है तो उसकी पत्नी तेरह का व्यय करना चाहती है) समाज के स्वार्थी के ऐसे मित्र कहावतों को छोड़कर और कहीं नहीं मिल सकते । इस प्रकार अधिक मात्रा में खर्च करके समाज की भलाई में हाथ देने में ऐसे व्यक्ति हिचकते नहीं हैं । किन्तु घर की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए अपने पास एक कौड़ी भी नहीं रखते । इस प्रकार घर की भलाई की ओर ध्यान न देकर समाज सेवा में तन मन और धन लगाकर रह रहनेवाले पुरुष या गृहस्थ समाज में निन्दा के पात्र हो जाते हैं । इस बात को स्पष्ट करनेवाली हिन्दी कहावत है --' आपका पी पातल पवि घर के टट्टी खुली' । आपका रुप पातल ओढ़नेवाला व्यक्ति घर का दुवार खुला रखता है । अर्थात् समाज के लिए अपना धन भी न्योछावर कर देनेवाले अपने घरवालों के लिए कुछ भी नहीं करते । कोंकणी की निम्नलिखित कहावत में भी यही बात अभिव्यक्त की गई है । 'घर चोन्नतिल्लो गांवु सोद्ता' (घर को देखता हो नहीं, गाँव की सेवा है) ।

---

1. एकु मेळ्ळारि दोनि वेचु

पिता का स्वरूप

परिवार के पुरुषों में पिता का बहुत बड़ा स्थान है । परिवार के सभी लोग उसका आदर करते हैं और पिता पर सारा परिवार निर्भर रहता है । पिता की सेवा करना पुत्र का परम धर्म है । अतः वाल्मीकि ने लिखा है --

देवगन्धर्वगोलोकान्ब्रह्मलोकांस्तथा नराः ।
प्राप्नुवन्ति महात्मानो मातापितृपरायणाः ॥

अपनी पत्नी एवं अपने बच्चों के अतिरिक्त परिवार के दूसरे सदस्यों की देखभाल करना एक आदर्श पिता का कर्तव्य है । पिता ही अपने बच्चों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है, वही कोई न कोई काम करके बच्चों का पेट भरने की चीजें लाता है, यद्यपि माता पर ही बच्चों के पालन का अधिकार रहता है । पिता के अभाव में माता द्वारा उनका पालन कठिन हो जाता है । पिता की प्रमुखता समाज में उसे उच्च स्थान प्राप्त करने में सहायक होती है । भोजपुरी समाज में पिता की यह स्थिति निम्नलिखित कहावत में भी व्यक्त की गई है - 'बाप जाने बजरिया अम्मा भितरी' (बाप बाजार में तो माँ भीतर में) । पिता सदा बच्चों के सुख के लिए प्रयत्न करता रहता है । वही उनका एकमात्र रक्षक रहता है । लेकिन उनका ठीक तरह से माता ही पालन करती है । बच्चों के चरित्रनिर्माण तथा भविष्य की चिन्ता माता को ही रहती है । पिता को नहीं । वह केवल उनके पेट का ध्यान ही रखता है । उपर्युक्त कहावत में तो एक परिवार में माँ और बाप की स्थिति चुने हुए शब्दों में कुशलता के साथ अभिव्यक्त की गई है ।

पिता-पुत्र-संबन्ध

वस्तुतः समाज में पितापुत्रसंबन्ध अटूट रहना चाहिए । बच्चों द्वारा सर्वदा उनका आदर किया जाना चाहिए । किन्तु कभी कभी ऐसे पुत्र भी देखने को मिलते हैं जो अपने पिता तथा घर के दूसरे बड़े लोगों का सम्मान नहीं करते । ऐसे पुत्रों को अन्त में पछताना पड़ता है । इन पुत्रों को चेतावनी देने के लिए समाज में अनेक कहावतों का प्रयोग होता है । भोजपुरी में प्रयुक्त एक कहावत है --'बपवा बच मकुनेना अपारि बिहरिया बच मनोतो' (अपने पिता

को भी पिण्ड नहीं चढ़ाता तो भाई भी पिण्ड चढ़ेगा)। जो अपने पिता को समुचित आदर नहीं देता वह बाद में पछताता है। बच्चों को अपने पिता का आदर सम्मान करना चाहिए। इसके विपरीत व्यवहार करने से उनकी भलाई नहीं, वरन् नाश ही जाता है। इसका कारण भी यह है कि पिता ही अपने बच्चों का भूलों के बावजूद उनसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करते हैं जबकि बाहर का कोई व्यक्ति उन भूलों के लिए माफ नहीं देते, उल्टे उन्हें दण्ड देने की सोच में रहते हैं, चाहे वह व्यक्ति कितना ही उसका सम्मान क्यों न करे। उपर्युक्त कहावत में इसकी ओर संकेत किया गया है कि बच्चों को अपने परजनों के प्रति विशेषकर पिता के प्रति आदरभाव रखना चाहिए। क्योंकि पिता सदा अपने बच्चों की भलाई ही चाहता है। अर्थात् पिता के जैसा प्यार और किसी भी व्यक्ति, चाहे वह उच्च वर्ग का हो या नीच वर्ग का, में नहीं रहता। पिता के प्रति आदर न दिखानेवाले ही नहीं, अपितु उनके स्वास्थ्य एवं भलाई की ओर भी ध्यान न देनेवाले बेटे वर्तमान समाज में मिलते हैं। ऐसे बेटे अपने स्वार्थ में ही संलग्न रहते हैं। पिता की ओर ध्यान देने तक का समय उन्हें नहीं मिलता। हिन्दी समाज में एक कहावत भी मिलती है -- 'बेटा बाप बाप लखाय कलयुग अपना का सिखाय'। बेटा भला ही रहे, पिता उसे देखते ही रहे, यही कलियुग की चलन है। अर्थात् पुत्र अपने पिता के स्वास्थ्य पर विचार नहीं करता। उसे तो मात्र अपने स्वास्थ्य की चिन्ता है। वह कभी यह नहीं सोचा करता कि अपने पिता ने ही बहुत कष्ट झेलकर उसे पाल पोस कर इतना बड़ा किया है। बड़ा होने पर जब वह अपने पैरों पर खड़ा होता है तो वह अपने वृद्ध पिता को एकदम भुला देता है। ऐसे बेटे तो परिवार तथा समाज के लिए भारस्वरूप हैं, समाज की अवनति के कारण हैं और समाज उन्हें घृणा की दृष्टि से देखता है। उपर्युक्त कहावत में समाज में बीते युगों की निन्दा न करके कलियुग का माध्यम ले लिया है। उसमें कलियुग को ही दोषी बताया गया है, क्योंकि कलियुग के फेर के कारण ही पुत्र पिताओं के साथ ऐसे दुर्व्यवहार करते रहते हैं, नहीं तो वे बड़े भले मानुष हैं। इसी बात को व्यक्त करनेवाली भोजपुरी कहावत है -- 'जीअतबाप विवेक दोगा अन्न मैलीबाद पिंड दान' (जीवित पिता को खाने को भी नहीं देता और मृत पिता के लिए पिण्डदान करता रहता है)। हिन्दी की

निम्नलिखित कहावत में भी इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए पिता का अनादर करनेवाले पुत्रों पर भी व्यंग्य कसा गया है -- ' जिय न माने पितु और मुए करे श्राद्ध' । कहावतों में ग्राम्य समाज के इन मनोवृत्तियों में जैसा यथार्थ वैसी ही कुशलता के साथ उभर आता है । इसमें पुत्रों के दुश्चरित्र की ओर संकेत मिलता है जो अपने जीवित पिता को खाने तक नहीं देता, लेकिन पिता के मर जाने पर श्राद्ध कर्म ऐसी लगन से करता है जिससे दूसरे लोग अपने पिता के उसके प्यार तथा आदर की प्रशंसा करें । यदि वह पुत्र श्राद्धकर्म में खर्च होनेवाले रुपये अपने पिता के जीवित रहते तथा उसके स्वास्थ्य के लिए खर्च कर लेता तो उसका पिता भूखों नहीं मर जाता । तभी उस पुत्र का अपने पिता के प्रति पितृऋण भी पूरा होता । लेकिन पिता के मर जाने के बाद अपनी उदारता तथा पिता के प्रति आदर एवं प्यार दिखाने के लिए श्राद्ध संस्कार संपन्न करते हुए ब्राह्मणों को भोजन और दान देने से पिता की आत्मा सन्तुष्ट नहीं हो सकती । इस तथ्य से वह पुत्र अवगत नहीं रहता । यहाँ पर श्राद्धविधि का दुरुपयोग भी होता रहता है जिसका पापपुण्य की दृष्टि से नहीं, बल्कि नाम कमाने की चिन्ता से पालन किया जाता है । उपर्युक्त कहावतों में समाज में दिखाई पड़नेवाली इसी दुष्टता पर संकेत मिलता है ।

पुत्रजन्म का उद्देश्य

परिवार में पुत्रजन्म का उद्देश्य यही रहता है कि पुत्र ही अपने पिता एवं पूर्वजों को जीवन के तीन ऋणों से मुक्त कर देता है । इसके साथ ही पुत्रजन्म से यह भी अनुमान लगाया जाता है कि पुत्र अपने माता पिता के लिए बुढ़ापे में आश्रयदाता रहेगा । पुत्र शब्द का अर्थ ही इसका द्योतक है । 'पुन्नाम नरकात् त्रायते इति पुत्रः' । संस्कृत की यह उक्ति पुत्रजन्म के महत्व को सर्वोत्तम व्यक्त करती है । लेकिन सभी पुत्र विवेकी नहीं होते । वे अक्सर अपने माता पिता के लिए दुःख का कारण बन जाते हैं । अपने बेवकूफ बेटे से पिता को यही कहना पड़ता है -- ' ऊँट सा कद तो बढ़ा लिया पर शऊर रत्ती भी नहीं ।' देखने में ऊँट बड़ा है लेकिन चतुरता या सुबुद्धि नाममात्र के लिए भी नहीं । ऊँट ऐसा एक जानवर है जो बहुत अधिक खाता है और मोटा भी बनता है । लेकिन वह बेवकूफ है । वैसे ही देखने में बड़ा और दृढ़ पुत्र किसी भी काम के लिए लायक नहीं है । अपने आप कुछ करने की बुद्धि से वंचित पुत्र अपने पिता के लिए भारस्वरूप है और इसी कारण पिता अपने पुत्र को

चिन्ता करने लगता है । कोंकणी समाज में भी ऐसे बुद्धिहीन बेटे और उनसे तंग आनेवाले पिताओं की कमी नहीं है । वे भी अपने बेकार पुत्रों के प्रति अपना विचार कहावतों के माध्यम से प्रकट करते हैं -- ' इसको घरो आड बसताय बेटा सगली बुद्धि बापाय बीर ' । (हाथ तक शादी कराने से भी पत्नी की सेवा की तरह बुद्धि का विकास कल्पना हो सकता है) ।
पिता यही चाहता है कि बच्चे बुद्धिमान और चतुर हो जायें । मात्र उनका साहस पुत्र से विकसित होने से कोई सफलता नहीं । दोनों भाषाओं की इन कहावतों के अध्ययन से लगता है कि दोनों समाजों के परिवार में विवेकी कर्मनिष्ठ तथा परिश्रमशील पुत्रों की इच्छा हो की जाती है । बेशर्म तथा बेकार पुत्रों का परिवार में कोई स्थान नहीं रहता ।

पुत्रों के चरित्रनिर्माण में पिता का योग

पुत्रों के चरित्रनिर्माण में पिताजी का भी हाथ रहता है । अपने पिता में जो गुण रहते हैं, चाहे वे सद्गुण या दुर्गुण क्यों न हों, वे ही एक साथ आगे चलकर पुत्रों में वर्तमान रहते हैं । अतः बच्चों के स्वभाव पर पिता के चरित्र का प्रभाव जरूर पड़ता है और पिता के गुण पुत्र में थोड़े ही बहुत दिखाई पड़ते हैं । इस तथ्य की ओर इंगित करती हुई कई कहावतें हिन्दी तथा कोंकणी दोनों समाजों में प्रयुक्त होती हैं । हिन्दी की यह कहावत है -- 'बापे पूत पिता पर घोड़ा बहुत नहीं थोड़ा ही थोड़ा ' । जिस प्रकार घोड़े के जन्मजात गुण उसकी दूसरी पीढ़ी में भी रहते हैं वैसे ही पिता के गुण थोड़ी ही मात्रा में सही पुत्र में विद्यमान रहते हैं । क्यों क्यों पुत्र बाप से भी चतुर होते हैं । हिन्दी की निम्नलिखित कहावत इस तथ्य को भी व्यक्त करती है -- 'बापसे सवाया पड़ते बाप से दीपोता बढ़ते' । वैसे तो पिता के गुण का थोड़ा प्रभाव पुत्र पर पड़ता है । यदि कोई पिता बुरे मार्ग पर चलता है तो बेटा भी उसी मार्ग से चलने की कोशिश करने लगता है । पुत्र की इस प्रवृत्ति की ओर इशारा करते हुए तथा पितापुत्र के मानसिक संबन्ध को भी व्यक्त करनेवाली कोंकणी की एक कहावत है -- 'चोराचो पूतु चोरु'(चोर का बेटा चोर ही होता है) । किसी बेटे का बाप चोरी करता है तो वह बेटा भी चोर बनता है । क्योंकि बचपन से ही चोरी करनेवाले अपने पिता के संग में रहते हुए पुत्र के मन में भी चोरी से संबन्धित सभी बातें उसके चरित्र की नींव डाल देते हैं । अपने पिता को चोरी करते हुए देखकर पुत्र भी चोरी करने लगता है ।

परिवार में दामाद का स्थान

जिस प्रकार पुत्री का पिता, पुत्र के रूप में भी आदर होता ही है वैसे ही ससुराल में दामादों का भी आदर होता है। हिन्दी और भोजपुरी समाजों में दामाद को प्रायः पुत्र के समान माना जाता है। ससुराल के सभी लोग उसका आदर सम्मान करते हैं। दामाद के सामने सभी अपने मन की बातें छिपाते हैं और बाहर से दामाद से अच्छा व्यवहार करते हैं। दामाद के प्रति ससुराल में इसी कारण सम्मान रहता है कि अपनी बेटियों को कहीं बुराई न हो। इस तथ्य की ओर इंगित करनेवाली हिन्दी की कहावत है -- 'डायन को भी दामाद प्यारा'। डायन जो किसी से भी प्रेमपूर्ण व्यवहार नहीं करती, वह भी जब उसकी बेटी ब्याह में दी जाती है तो अपनी बेटी के लिए अपने दामाद से अच्छा व्यवहार करती रहती है। वह इसलिए दामाद को प्यार करती है कि यदि वह दामाद का सम्मान न करे तो उसका बुरा फल उसकी बेटी को ही भुगतना पड़ेगा। बेटी की भलाई के लिए ही सभी अपने दामाद का आदर करते हैं। भोजपुरी भाषाभाषियों की भी यही भावना है जो निम्नलिखित कहावत में व्यक्त हुई है :- 'जावैय आयला खसि मायरि लोढ़नु भरि' (दामाद के आगे सास के मुँह में मिट्टी) दामाद का आदर करनेवाले ससुर लोग दामाद की उपस्थिति में बहुत सावधानी बरतते हैं। उन्हें जो कहना है वह चुपके से ही कहते हैं। सास कितनी ही बदजबानी क्यों न हो, तो भी वह उस दिन, जब दामाद आता है अपनी जबान मुँह में रखकर मुँह खोलती ही नहीं। वह दामाद का इसलिए अनादर नहीं करती है कि उसे अपनी बेटी की भलाई की चिन्ता है। कोई भी माँ अपनी बेटी से प्यार किए बिना नहीं रह सकती। वह हमेशा उसकी उन्नति चाहती है और इसी कारण अपने दामाद के प्रति उसके मन में घृणा रहने पर भी उसे बाहर न दिखाते हुए दामाद को सन्तुष्ट रखने का प्रयास करती है। इस बात का समर्थन भोजपुरी की एक कहावत में यों हुआ है -- 'धुकेल कानु जावैयाल उरपनु' (बेटी को भोजन देकर दामाद की सहायता की जाती है) अपने घर में कुछ न रहने पर भी माँ कर्ज लेकर ही सही अपनी ब्याही बेटी को भोजन कराती है। उसका विचार यही रहता है कि यदि बेटी को न खिलाके भूखे पेट ही पति के यहाँ भेज दे तो दामाद अपनी पत्नी के घरवालों का अपमान करते हुए पत्नी को डाँटेगा या उससे बुरा व्यवहार करेगा। इसी डर से माँ अपनी बेटी के लिए भोजन देने को तैयार हो जाती है। उपर्युक्त कहावत में भोजन से तात्पर्य खाद्य पदार्थ से नहीं,

और न दूसरी जगह भेजते हैं । ब्याही लड़की मात्र भोजन के लिए अपने मायके नहीं जाती उसके जाने का यह भी उद्देश्य रहता है कि कई मूल्यवान चीजें भी उसे मिल जाएँ । उसका पति भी इसी उद्देश्य से उसे भेजता है । अपनी बेटी के जीवन सुख के लिए माँ के यहाँ से उसे चीजें दी हुई भेजी जाती हैं, चाहे उससे माता के साथ दूसरे भी व्यक्तियों को कितना भी कष्ट क्यों न झेलने पड़ें । हिन्दू समाज के मूल में इसी भावना के लिए हुए हैं । माँ तो अपनी बेटी से भी बढ़कर दामाद से ही प्रेम करती है । हिन्दी की एक कहावत है -- 'धी छोड़ दामाद प्यारा' । माँ लड़की से प्यार करे या न करे, दामाद से अवश्य प्यार करती है, उसका आदर भी करती है । माँ सोचती है कि लड़की तो अपनी है, उससे प्यार न दिखाने पर भी उसकी हानि नहीं होगी । लेकिन दामाद तो बाहर का आया हुआ है और यदि उसका समुचित आदर न हो तो अपनी बेटी का भविष्य डाँवाडोल हो जाएगा । उपर्युक्त कहावत में दामाद के प्रति आदरभाव दिखाया गया । खैर! कहीं कहीं आदर के भूखे बने इन्हीं दामादों की कुछ हँसी भी उड़ाई जाती है । हँसी तो केवल उन्हीं दामादों की ही उड़ाई जाती है जो ससुराल में सम्मान पाने की इच्छा रखते हैं और सम्मान करनेवाले ससुराल के लोगों का शोषण करने लगते हैं । वे सोचते हैं कि ससुराल रहना ही अच्छा है क्योंकि वहाँ के सभी लोग उनका सम्मान करेंगे और मनचाही वस्तुएँ भी देंगे । लेकिन अपने दामाद के इस प्रकार के व्यवहार को कोई पसन्द नहीं करता और उन पर कभी कभी कहावत रूपी व्यंग्यबाण भी छोड़े जाते हैं - 'ससुराल सुख की सार जो रहे दिना दो चार'। ससुराल में सुख ही सुख है, लेकिन वहाँ पर अधिक नहीं रहना चाहिए । इस कहावत के पीछे एक कहानी भी जुड़ी हुई है -- कोई व्यक्ति अपनी ससुराल गया । वहाँ अपना विशेष आदर सत्कार देखकर उसने कहा -- ससुराल तो सुख की सार है जो उपर्युक्त कहावत का पहला वाक्य बन गया । इसी कारण वह सोचने लगा कि हमेशा के लिए यहीं रहा जाय । जब उसके साले ने समझ लिया कि यह यहाँ अधिक रहना चाहता है तो उसने बताया कि दो चार दिन ही ऐसे सुख में बीत सकेंगे । उसका यही जवाब कहावत के दूसरे वाक्य में परिणत हो गया । पूरी कहावत इस प्रकार है --

ससुराल सुख की सार जो रहे दिना दो चार
रहे मास पखवारा हाथ में खुर्पा कमर में झारा

अर्थात् दो चार दिन के लिए ससुराल सुख की सार है । लेकिन दो हफ्ते या महीना भर वहाँ

रहेंगे तो ससुराल के लोग हाथ में कुर्सी लेकर स्वागत करने आयेंगे। इससे इस तथ्य का उद्घाटन होता है कि समाज में प्रत्येक परिवार या ससुराल में दामाद का एक हद तक रहने तो आदर सत्कार होता है किन्तु बाद में दामाद अपने और अपना सत्कार के लालच से वहीं रहना उचित समझता है तो ससुराल के लोग उसका सम्मान नहीं करते, यही नहीं, उससे इस प्रकार का व्यवहार करने लगते हैं कि वह फिर एक क्षण भी वहाँ नहीं रहे।

ऐसे दामाद भी कम नहीं हैं जो अपनी ससुराल से आदर पाना चाहते हैं। उनके इस व्यवहार में मनुष्यता का लेशमात्र भी अंश नहीं रहता। वह केवल अपने स्वार्थ को मुख्य मानकर अपनी सुख-सुविधा की चिन्ता में लगा रहता है और ससुरालवालों से उनके आदर सम्मान एवं स्वार्थपूर्ति का साधन बना लेता है। ऐसे व्यक्तियों पर समाज में व्यंग्यपूर्ण प्रहार किया जाता है। भोजपुरी की निम्नलिखित कहावत देखने योग्य है -- 'कुलीय कुलीय मनन कुलीय होय कुलोलो कोहूँबी चाहीय' । (मेरा जितना आदर सम्मान किया जाय उतना कर लो। मैं कुलासंयोग दामाद हूँ) अक्सर ऐसा होता है कि किसी भी परिवार में श्रेष्ठ पुरुषों के प्रति का स्वाभाविक आदर हुआ करता है। श्रेष्ठ दामाद इसका खूब प्रयोजन भी उठाता रहता है। प्रस्तुत कहावत इसी ओर संकेत करती है। स्पष्ट है कि कहावतें समाज के सच्चे स्वरूप को प्रकट करती हैं और उनमें यथार्थ की ही अभिव्यक्ति रहती है।

परिवार में नारी का स्वरूप

भारतीय समाज के आज तक के इतिहास में समाज में नारी की स्थिति कैसी थी, इस पर निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना व्यर्थ है, क्योंकि आदिम युग से लेकर वैदिक, स्मृति, उपनिषद्, सूत्र आदि कालों तक समाज में स्त्रियों की स्थिति के विवेचन से पता चलता है कि नारियों को पूर्ण रूप से प्रतिष्ठा नहीं मिली है, साथ ही उनको पूर्णरूपेण उपेक्षा भी नहीं मिली है। लेकिन कहावतों का अध्ययन समाज में नारी के यथार्थ स्वरूप को अवश्य ही प्रस्तुत करेगा। समाज में मुख्य रूप से स्त्रियों के तीन पक्ष उभर आते हैं -- कन्या, वधू और माता।

कन्याजन्म

किसी भी समाज में नारी की स्थिति को समझने के लिए इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि कन्याजन्म का समाज किस भाव से स्वागत करता है । किन्तु यह तो सर्वविदित सत्य है कि प्रत्येक समाज में पुत्रजन्म को जितना महत्व दिया जाता है उतना कन्याजन्म को नहीं । बहुत ही प्राचीन काल से ही भारत में कन्याजन्म का स्वागत नहीं होता था । इसका प्रमुख कारण तो 'अनुत्पादक गतिशीलता' वाली उक्ति है । वैदिककाल में स्त्रियों की उतनी उपेक्षा नहीं हुई जितनी अथर्ववेद काल में । अथर्ववेद के समय कन्याजन्म को हेय समझकर ऐसी प्रार्थनाएँ की जाती थीं' -- 'यह लड़की को अन्यत्र रखे , यहाँ वह पुत्र दे ' । स्मृतियों में भी कन्याजन्म को महत्व नहीं दिया गया , यद्यपि नारी का सम्मान उस समय अवश्य ही होता था । कन्याजन्म पर उत्सव न मनाने का और एक कारण है कि कन्या उस समय अपने माता पिता के लिए दुःख का कारण मानी जाती थी । क्योंकि उसके जन्म से लेकर उसके विवाह तक माता पिता बेचैन रहते थे । निम्नलिखित उक्ति तो प्रसिद्ध ही है -- ' अर्थो हि कन्या परकीय एव' । जब तक लड़की विवाह में न दी जाय तब तक वह अपने माँ बाप के लिए एक बोझ बनी रहती है । उसके भविष्य पर विचार करते हुए माता पिता सोचने लगते हैं कि बेटी तो प्रत्येक व्यक्ति के लिए मृत्यु का कारण है और किसी को भी बेटी न हो । हिन्दी की निम्नलिखित कहावत में यह धारणा भी स्पष्ट होती है -- 'बेटी भली न एक' । एक बेटी का भी न होना ही अच्छा है ।

विवाह से संबन्धित दहेज का डरावना रूप समाज में कन्याजन्म की ओर भी अभिशाप बना देता है । लेकिन शिक्षा के प्रचार प्रसार से इस धारणा में धीरे धीरे परिवर्तन आने लगा है और आज कन्याजन्म को उतना हेय नहीं समझा जाता । कहीं कहीं अब भी पुरानी विचारधारा चलती आई है फिर भी नारी की सामाजिक स्थिति तो काफी ऊँची रही है । अब कन्याजन्म पर कोई भी दुःखी नहीं होता । कोंकणी समाज में भी ऐसी एक स्थिति कायम थी जिसमें कन्याजन्म को अभिशाप माना जाता था । किन्तु आज कल कन्याजन्म को पुत्रजन्म के समान श्रेष्ठ समझा जाता है और कभी कभी उससे भी बढ़कर । कन्या की महत्ता यहाँ कहावत के रूप में भी समझा दी जाती है -- 'धैंव जैत भोनु बोंकुच्या मसोनु घट्टूनु पिकवेत तो पुत्र
धुवेत काजोंभोनु दपुच्या लखुनु मधुनु धालोतो तो पुत्र '

(अपनी बेटी हुई है उसके मत डरो, वह तुम्हारे लिए नारियल कुचकर पिलेगी
अपना बेटा हुआ है, वह खेलकर मत हँसो, वह तुम्हें भुलकर चल देगा)
पुत्र बड़ा होकर जब अपने पैरों पर खड़ा रहता है तो वह अपने माता पिता की ओर ध्यान नहीं देता। जब वह नौकरी करके परिवार की देखरेख करने लगता है तो परिवार के सदस्यों विशेषकर अपने बूढ़े माँ बाप को उसके आज्ञावर्ती बनना पड़ता है। और उसके माँ बाप उसका कहना नहीं मानते तो वह पुत्र उन्हें डाँटकर तथा कोसकर उनके मन को दुःखाता है और इसी दुःख से वे माता पिता पुत्रजन्म को अभिशाप समझकर अपना अपमान करते हैं। लेकिन यदि किसी की बेटी हो तो वह अपने माता पिता के काबू में रहती है और घर में अपनी माता के लिए सहायक भी रहती है। प्राचीन काल की तरह उसे विवाह में देना कोई जरूरी बात नहीं। लड़कियाँ तो अविवाहित भी रह सकती हैं और माता पिता के लिए बोझ नहीं होतीं। वे अपने तन मन से परिवार की सेवा में तत्पर रहती हैं। इस दृष्टि से पुत्रजन्म की अपेक्षा कन्याजन्म का ही स्वागत होता है। इसी तथ्य की ओर संकेत करनेवाली कोंकणी की एक कहावत है -- 'स मास पुतालीं अम्मा बापुयेरि पोय मास धुवांत अम्मा खट्टलीं'
(छह पुत्रों की माँ बूढ़े बरगद में पड़ी रहती है और पाँच बेटियों की माँ खाट पर बैठती है)
प्रस्तुत कहावत में भी कन्याजन्म से संबंधित महत्व को व्यक्त किया गया है। संख्या में अधिक होने पर भी बेटे अपनी माँ का ख्याल नहीं रखते जबकि बेटियाँ कम होने पर भी अपनी माँ का आदर सम्मान करती हैं। यह तथ्य देश और कालभेद के बिना संसार के सभी समाजों द्वारा स्पष्ट रूप से माना गया है।[1]

इन कहावतों से यह तथ्य विदित होता है कि कोंकणी समाज के प्रारंभ में पुत्रजन्म को महत्व दिया करता था आजकल शिक्षा के प्रचार प्रसार तथा सभ्यता के प्रभाव में अन्य अनुशासन परिवर्तनों का भी साक्षी बन गया है। इस समाज में भी आज पुत्रजन्म तथा कन्याजन्म को एक ही महत्व प्रदान किया जाता है।

---

1. A Son is a son till he gets marreed, A daughter is a daughter for ever

स्त्री-स्वातन्त्र्य

प्राचीन काल में स्त्रियाँ पराधीन थीं । वैदिक काल में स्त्री स्वतन्त्र थी । वह उपनयन तथा वेदाध्ययन की अधिकारिणी थी । उपनिषद्काल में भी उसकी मान्यता रही थी । किन्तु स्मृति-युग के आते ही इस व्यवस्था में परिवर्तन दृष्टिगत होने लगा जिससे समाज में नारी को स्वतन्त्रता से वंचित किया गया । 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' का नारा इस समय प्रबल रहा । नारी अपनी बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक स्वतन्त्रतापूर्वक कुछ नहीं कर सकती थी । अपने घर में उसका कोई निजी अधिकार नहीं रहता था । मनुस्मृति में नारी-स्वतन्त्रता पर भी लिखा गया है -- 'बालया वा युवत्या वा वृद्धया वाऽपि योषिता ।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किंचित्कार्यं गृहेष्वपि ।।'[1]

स्त्री बाला हो चाहे युवती या वृद्धा, उसे घर में कभी स्वतन्त्रतापूर्वक कुछ नहीं करना चाहिए । यही नहीं, कौमारावस्था में जब तक विवाह नहीं होता स्त्री की रक्षा सब प्रकार से पिता किया करता है । यौवन में स्त्री की पूर्ण सुरक्षा पति के हाथों में रहती है और जब उसका पति मृत्युगत हो जाता है और वह वृद्धा हो जाती है, उस समय भी उसकी रक्षा पुत्रों के द्वारा की जाती है ।। स्त्री को जीवन में कभी भी स्वच्छन्दता के साथ रहने का अधिकार नहीं होता ।[2]

हिन्दी समाज में तो नारी की परतन्त्रता के सम्बन्ध में कई कहावतें प्रचलित हैं जैसे -- 'दुनिया में दो गरीब, के बेटी के बैल' । दुनिया में दो ही गरीब हैं -- एक बेटी और दूसरा बैल । ये गरीब इसलिए हैं कि ये दोनों परतन्त्र हैं । अपनी इच्छा के अनुसार कुछ भी नहीं कर सकते । बेटी को तो अपने माता पिता के ही अनुशासन मानना है और बैल को भी चाहे वह जोतनेवाला या गाड़ी हाँकनेवाला हो, अपने मालिक की आज्ञा पर ही चलना पड़ता है । निर्धन व्यक्ति भी अपने को गरीब नहीं मानता जब कि धनी परिवार की स्त्रियाँ भी अपने अधिकार से वंचित रहकर अपने को गरीब समझती हैं । धनी होकर भी वे अपनी चाह की पूर्ति नहीं कर पातीं । प्रस्तुत कहावत से स्पष्ट है कि हिन्दी समाज में स्त्रियों की स्वतन्त्रता को कहाँ तक मान्यता है और उनके अधिकार पर प्रायः प्रश्नचिह्न लगाया जाता है ।

---

1. मनुस्मृति - अ. 5 श्लो. 147 षोडश स्मृतियाँ पृ 144
2. वही पृ. 148

स्त्रियों का महत्व

स्त्री पराधीन होते हुई भी परिवार एवं समाज में प्रायः पूज्य मानी जाती है । परिवार में गृहिणी का सबसे अधिक आदर होता है । परिवार का पूरा संचालन कुशल तथा समर्थ गृहिणी ही पुरुषों की अपेक्षा चतुरता से कर सकती है । अतः स्त्री ही घर का दीपक मानी जाती है और स्मृतिकारों ने बताया है कि स्त्री को सर्वदा प्रसन्न और घर के सभी कामों में चतुर होना चाहिए और सभी वस्तुएँ घर में उचित स्थान पर सुव्यवस्थित रखना चाहिए । ऐसी स्त्रियाँ ही गृहिणी कहने योग्य है ।[1] संस्कृत की यह उक्ति बहुप्रचलित है -- 'गृहिणी गृहमुच्यते' स्त्री का समाज में पुत्री, पत्नी, माता, सास, बहू आदि कई रूपों में महत्व रहा है । आज जो कन्या रूप में बहू है और कालान्तर में माता एवं सास । इस तथ्य की ओर संकेत करनेवाली भोजपुरी कहावत है -- 'अबहिं पुत कपूरि अम्मा परहि सासि' ।(आज की बेटी कल की माँ और सास बने सास) । समाज में स्त्री के अभिव्यक्ति जिन विभिन्न रूपों में होती है उनमें उसका पारिवारिक संबन्ध, उसकी विवेकबुद्धि, कार्यकुशलता और अनेकों के बीच शान्ति के साथ सफलतापूर्वक रहने चलने की एक कसौटी है । चतुर स्त्री तो विवाहिता होकर किसी नये परिवार में जब आती है तब वहाँ के एक दूसरे की भावनाओं और कठिनाइयों को समझकर उसके अनुसार चलने लगती है और इसी कारण परिवार की सुख-शान्ति निश्चित रहती है अन्यथा विपरीत कारणों से वह उजड़ जाती है । दूसरे शब्दों में भी कहिए कि किसी परिवार की उन्नति तथा अवनति गृहिणी पर ही निर्भर रहती है । यही धारणा हिन्दी समाज की निम्नलिखित कहावत में भी व्यक्त की गई है -- 'एक जोरू सारे कुनबे की जड़ है' । एक होशियार औरत पूरे घर को संभाल सकती है और ऐसी एक स्त्री पूरे परिवार के लिए काफी । चतुर गृहिणी अपने घर के काम संयोग ही करके घर को साफ सुथरा रख देती है । किसी घर को बाहर से देखते ही समझा जा सकता है कि उस घर की स्त्री कैसी है । क्योंकि घर सफाई और परिवार के सदस्यों की देखरेख वहाँ की गृहिणी पर निर्भर है । भोजपुरी परिवार की सबसे पूजनीय गृहिणी ही है । बिना स्त्री के घर को घर नहीं कहा जा सकता । घ की आर्थिक व्यवस्था पर उसका हस्तक्षेप न होने पर भी दूसरी सभी व्यवस्थाएँ उसके करो स हो जाती है । रसोई घर पर स्त्रियों का पूरा अधिकार है । किसी घर के आँगन को दे ही वहाँ की गृहिणी का अनुमान लगाया जा सकता है । यह बात भोजपुरी की निम्नलिखित कहावत में यों व्यक्त हुई है -- 'अङ्गना देखतहि घरा लखन ' (आँगन देखते ही घर के

समझा जाता है)। उक्त कहावत में गृहिणी की बात अस्पष्ट रूप से बताई गई है। घर की सफाई एवं स्वच्छता का पता तो उस घर के आँगन को देखने से चल सकता है। यदि घर अच्छा होना है तो यहाँ की स्त्री भी अच्छी रहनी चाहिए। आदर्श गृहिणी तो सभी काम अपने आप करती हुई अपने पति, अपने बच्चे और घर के अन्य सदस्यों की सेवा करती है, उनसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करती है तथा ठीक समय पर खाना बनाकर उन्हें खिलाती है। बाद में ही अपना भोजन किया करती है।[1] ऐसी आदर्श गृहिणी की प्रशंसा हिन्दी समाज में कहावत के जरिये की गई है -- 'कूटे पीसे सब हो काम सके'। इससे स्पष्ट होता है कि हिन्दी समाज में चतुर गृहिणी का परिवार में क्या स्थान रहता है। कूटना, पीसना, चक्की में आटा पीसना, ये सब काम स्त्रियों के हैं और गृहिणी को इन सबमें प्रवीण रहना चाहिए। तभी वह अपने घर को संभालने में समर्थ रहेगी, नहीं तो उसे हर काम करने के लिए किसी नौकर को रखना पड़ेगा जिससे घर की आर्थिक स्थिति में व्याघात उपस्थित हो जायगा। अपने घर की भलाई चाहनेवाली स्त्री घर का सभी काम अपने आप करती है और ऐसी चतुर एवं होशियार गृहिणी को देखकर कोई भी उक्त कहावत कहे बिना नहीं रह सकता। किन्तु अपने घर का ख्याल न रखनेवाली गृहिणियों के संबंध में तो कुछ कहे बिना समाज नहीं रह सकता। अतः कहावत चलती है -- 'कूटे को न पीसे को'। अर्थात् गृहिणी का कोई काम भी नहीं जानती है। उपर्युक्त कहावतों से यह समझाया जा सकता है कि हिन्दी तथा तेलुगु दोनों परिवारों में गृहिणियों का सामान्यतः उच्च स्थान है और चतुर गृहिणियों को समाज में प्रशंसा भी की जाती है।

गृहिणी के रूप में ही नहीं, अपितु पत्नी के रूप में भी समाज में स्त्री का आदर होता रहा है। परिवार में गृहस्थ के समान पत्नी का भी अपना अधिकार है। पत्नी तो कुटुंब की स्वामिनी मानी जाती है क्योंकि कुटुंब के सभी सदस्यों और अतिथियों के भरण पोषण

---

1. The duty of a good housewife was to satisfy first her guest children and after they finish their meals, she would take her meals. --Religion and society in the Brahmapurana - Surabhi Seth. p. 75.

(2) ......The typical pattern was for women to first serve the men of the household and later to eat by themselves. --The Hindu Family in its urban setting -Aileen Ross. p. 10.

का प्रबन्ध नहीं कर सकती है । स्मृतिकारों ने उसके उत्तरदायित्वपूर्ण पद की व्याख्या भी की है -

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ।।[1]

पत्नी को पति के साथ धार्मिक कार्यों में भी भाग लेने का अधिकार है । वह पुरुष की आधी शक्ति है और इसलिए वह अर्द्धांगिनी मानी जाती है । पुरुष के सभी कार्यों में स्त्रियों का हाथ रहे तभी वे कार्य सफल निकलेंगे । इस तथ्य की पुष्टि करनेवाली हिन्दी कहावत है -- 'तिरिया बिन तो नर है ऐसा राह बटाऊ होवे जैसा '। स्त्री के बिना पुरुष वैसा ही है जैसा राह चलता राहगीर। पत्नी के बिना ही पति अपने जीवनपथ में यों ही चलता रहता है, जाने वह भटकने होता है । अपनी स्वच्छन्द यात्रा में लगाम डालने के लिए उसका कोई नहीं रहता । पत्नी तो अपने पति को बुरे मार्ग पर चलने से ये रोकती है, उसे देखभाल देकर कुछ भलाई सफल देती है । दूसरे शब्दों में ऐसा भी कहा जा सकता है कि पत्नी पति के लिए उपदेष्टा भी है । वह हमेशा अपने पति का कल्याण चाहती है और उसके सुख दुःखों में भाग लेती हुई पति को सान्त्वना देती रहती है । उपर्युक्त कहावत में प्रतिफलित तथ्य प्राचीन भारतीय आदर्शों में भी निहित है ।[2] कोंकणी समाज में भी इस प्रकार का विचार जो चलता है । लेकिन वह नियमों तक सीमित है ।

---

1. मनुस्मृति - अ. 9 श्लो. 7

2. According to the ancient Indian ideals ,the wife is one half of man , hence as long as he incomplete. Awife is a symbol of auspiciousness , an enhancer of happiness, a generatorof dharma , the owner of her husband's body , a helpmate in securing dharma , artha , kama, and moksha, a source of happiness in a contented condition , a relief in pain , afriend in solving the problems ....Religion and Society in the Brahma Purana - Surabhi seth p . 94.

पतिव्रता का स्वरूप

समाज में पतिव्रत्य का पालन करनेवाली पत्नी का ही सब कुछ में सम्मान होता है । स्त्रियों के लिए पतिव्रताधर्म का पालन करना ही श्रेयस्कर है । वैवाहिक जीवन के आमृत्यु अपने पति की सेवा करते रहना पतिव्रता स्त्री का परम धर्म है । पतिव्रता कभी भी अपने पति की उपेक्षा नहीं करती ।[1] उसके लिए पति सब कुछ है और अपने पति के संबन्ध में दूसरों के मुँह से बुरी बातें सुनना उसे अच्छा नहीं लगता । कोंकणी समाज में पतिव्रताओं की बहुत बड़ी मान्यता रही है । पतिसेवातत्पर पत्नियों की प्रशंसा निम्नलिखित कहावत में की गई है - 'चक्रपाणिथि सर्वस्व बस्स कालाक बव्वापैथि अस्सप भोड मा' ।(पति के घर का सब कुछ नष्ट होते समय पिता का दिया हुआ शेष कुछ है) । विवाह के बाद स्त्री के लिए अपने पति और उनके घर की संपत्ति ही सब कुछ है और मायके में उसका कोई अधिकार नहीं रहता । पतिव्रताओं को तो उसे पाने की इच्छा भी नहीं होती । अपने पति के सुख तथा दुःख के दिनों में उसका साथ देना ही पतिव्रता स्त्री के लिए शोभनीय है । सुख के अवसर पर पति के साथ रहकर जब पति आर्थिक विपन्नता में पड़ते हैं तब पति को छोड़कर मायके जाकर सुख से रहनेवाली पत्नी कोंकणी समाज में अत्यन्त निन्दनीय मानी जाती है । उसका कोई भी आदर नहीं करता और ऐसी स्त्रियों को चेतावनी देने के लिए ही उक्त कहावत का प्रयोग होता है । इसके उलटे पतिसेवा में ही अपने जीवन को लगा देनेवाली स्त्रियों का अत्यन्त महत्व रहता है । पतिसेवा में निरत पत्नी तो मोक्ष प्राप्त करती है[2] और इसी कारण कोंकणी समाज में स्त्रियों को पतिव्रता होने की सीख दी जाती है । कोंकणी कहावत है --'पतिव्रता बायल घरा दीपो की' । (पतिव्रता स्त्री घर के दीपक जैसी है) । इससे पतिव्रता स्त्री को कोंकणी समाज में दी जानेवाली मान्यता की ओर संकेत मिलता है । जिस घर में पतिव्रता रहती है तो उस घर में प्रकाश

---

1. ......She is the only friend who never forsakes him in adversity.--Religion and Society in the Brahma Purana- Surabhi Seth p. 96.

2. नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम् । पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ।।
   -- मनुस्मृति - अ. 9 श्लो 9 बीस स्मृतियाँ पृ. 146

रहता है। दिये से घर में एक अजीब तरह की पवित्रता महसूस होती है। इसी प्रकार की पवित्रता घर में पतिव्रता नारी के होने से भी रहती है। इसीलिए उपर्युक्त कहावत में उसकी तुलना घर के दीपक से की गई है। कोंकणी समाज में पातिव्रत्य के संबन्ध में यह भी धारणा रही है कि बड़ी पत्नी ही पतिव्रता होती है। इस तथ्य का उल्लेख निम्नलिखित कोंकणी कहावत में भी हुआ है--'व्होड्लि बायल पतिव्रतायि' (बड़ी पत्नी पतिव्रता होती है)

हिन्दी समाज में भी पतिव्रता स्त्री पूजनीय होती है। स्त्री के पातिव्रत्य की महत्ता को प्रतिपादित करनेवाली हिन्दी की उक्ति है--'सतीकुच भुजंगमणि केहरिकेश नखदन्त

सूर कटारि कृपण धन हाथ लगे मर अन्त।।'

पतिव्रता स्त्री के कुच, सर्प की मणि; सिंह के बाल, हाथी के दांत, शूरवीर की तलवार और कृपण का धन, ये उनके मरने के बाद ही हाथ लगते हैं। पतिव्रता सदा अपने सतीत्व का रक्षण करने में ध्यान देती है। वह कभी भी अपने पति के सिवाय परपुरुष की ओर ध्यान ही नहीं देती। यदि अन्य पुरुष उसे चाहता है तो भी वह उसके हाथों से अपने को बचाने का प्रयत्न करती है। अपने सतीत्व की रक्षा के लिए वह प्राणों का बलिदान करने को भी तैयार होती है। उसकी मृत्यु के बाद ही कोई परपुरुष उस पर हाथ लगा सकता है। पतिव्रता को महत्व देनेवाले हिन्दी समाज में पतिव्रता का लक्षण कहावत के रूप में भी बताया गया है--'सतवंती का लाज बड़ छिनाली के गाल न पड़'। पतिव्रता स्त्री का लक्षण है कि वह बहुत ही लज्जाशील होती है जब कि एक दुश्चरित्रा बहुत ही बातूनी होती है। पतिव्रता किसी परपुरुष से बेधड़क बातें नहीं करती और अपने पति और बच्चों की सोच में ही मग्न रहती है जब कि एक कुलटा किसी भी पुरुष के सामने बोलने में हिचकती नहीं है। ऐसी स्त्रियाँ समाज में निन्दनीय मानी जाती हैं और अपने पति को धोखा देनेवाली स्त्रियाँ पति के लिए दुःखदायी बन जाती हैं। कोई भी पति अपनी पत्नी का दुर्व्यवहार सहन नहीं कर सकता। पत्नी के दुर्व्यवहार से ऊब जाने पर वह उसे त्यागने को भी तैयार हो जाता है। अपने पति के द्वारा उपेक्षित नारी समाज में भी उपेक्षित होती है। यह तथ्य कोंकणी की निम्नलिखित कहावत में भी प्रतिफलित हुआ है। 'घवाक नका जालीलि बायल लोकाकयि नका' (जिस पत्नी को पति नहीं चाहता है उसे दूसरे लोग भी नहीं चाहते हैं।) जिन पति-पत्नी के बीच ऐक्यपूर्ण

संबन्ध रहता है उन्होंने समाज को रक्षा करता है और मानता है कि पत्नी के सद्व्यवहार से ही यह संबन्ध बना रहता है। यदि उस संबन्ध में कोई उलझन आये तो उसका मूल कारण पत्नी ही मानी जाती है। अपने पतिव्रतापूर्ण व्यवहार से परिवार में शान्ति बनाये रखने का दायित्व वधू की स्त्री पर ही निर्भर है। यदि वही बुरे मार्ग से चलने लगे तो पहले मनमुटाव होने लगता है और पति पत्नी को तिरस्कारी दृष्टि से देखता है। इसी के फलस्वरूप वह स्त्री परिवार और समाज में निन्दनीय हो जाती है। उपर्युक्त कहावत में इसी तथ्य का विवेचन हुआ है ।

पति-पत्नी-संबन्ध

पत्नी का यही कर्तव्य है कि अपने पति के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करती रहे। पति-पत्नी के बीच कभी झगड़ा नहीं होना चाहिए। पत्नी को समस्याओं का हल निकालते हुए घर की शान्ति का ख्याल रखना चाहिए। तभी उस घर में शान्ति और सन्तोष कायम रहेगा। उसे विषम स्थिति में भी सहनशील और पतिसेवापरायण होना चाहिए। स्मृतियों में भी इस तथ्य पर जोर दिया गया है।[1] एक दूसरे की मनोभावनाओं में समझौता लाकर जीवन बिताना आदर्श पति पत्नी का धर्म है। उनकी पारस्परिक सद्भावना के कारण ही उन दोनों के बीच मनमुटाव या झगड़ा बहुत कम हो सकता है। और उनमें मनमुटाव हो जाय तो भी वह थोड़े समय के लिए ही रहता है। हिन्दी समाज में पति पत्नी के आपसी संबन्ध की चर्चा कहावत के रूप में यों होती है -- 'जोरू खसम की लड़ाई दूध की मलाई' पति पत्नी का झगड़ा तो एक घड़ी की चीज है। उसमें कोई विशेष बात नहीं। अगर उनमें झगड़ा हो जाय तो भी वे खुद ही उसका निपटारा कर लेंगे। उनके झगड़े में किसी तीसरे व्यक्ति का हस्तक्षेप उचित नहीं है। कोई भी उन दोनों में किसी एक का पक्ष नहीं ले सकता। क्योंकि अन्त में पति पत्नी तो अपने झगड़े को भूलकर एक हो जायेंगे और तीसरा व्यक्ति अलग हो रहेगा। तेलुगु समाज में भी दम्पती के संबन्ध में यही भाव प्रतिफलित होता है। तेलुगु की कहावत है -- 'पीवा चले दहे मद्दो पट्टुते दिल्ले' (पति पत्नी के झगड़े के बीच रहनेवाला पागल है।)

---

1. विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः ।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ।। --मनुस्मृति अ. 5 श्लो. 54

उपर्युक्त हिन्दी तथा कोंकणी दोनों भाषाओं की कहावतों में पति पत्नी का जो आपसी संबन्ध व्यक्त किया गया है उससे विदित होता है कि दोनों समाजों में पति पत्नी के संबन्ध को पवित्र माना जाता है । इसी के अनुसार जीवन बिताने की सीख भी दी जाती है । पति-पत्नी के दृढ़ संबन्ध को व्यक्त करनेवाली कोंकणी कहावत है --'घोवाले छातयेरि पिट्टि वाटयेत पुताले मांडयेरि वाट्टुक नज्ज' (पति की छाती पर आटा पीसा जा सकता है, लेकिन बेटे की जांघ पर नहीं पीसना चाहिए ।) पति पत्नी के बीच जितना घनिष्ट संबन्ध रहता है उतना माता और पुत्र के बीच नहीं रहता । बचपन से बच्चों को माँ अपने स्वास्थ्य का ख्याल भी न करते हुए पालती है । लेकिन जब पुत्र बड़ा होकर स्वावलंबी होता है तो वह अपनी माँ की कभी किसी भी बात पर ध्यान नहीं देता है । विवाह के बाद तो वह अपने माता पिता को किसी अन्य व्यक्ति के समान समझने लगता है और उनके किए गए सब काम उसकी दृष्टि में अपराध बन जाते हैं ।

परिवार की सार्थकता तथा शान्ति में ही नहीं, अपितु आर्थिक मामले में भी पत्नी का हाथ रहता है । अर्थात् परिवार की अर्थनीति को निर्धारित, नियमित और संचालित करने में उसका सहयोग अनिवार्यतः आवश्यक रहता है । पत्नी को अपने पति की आर्थिक कठिनाइयों में उसका हाथ बँटाकर सुखी एवं समृद्ध जीवन बिताने का प्रयास करना चाहिए । दूसरे शब्दों में यों कहिए --'परिवार का समस्त आर्थिक ढाँचा स्त्री की प्रबन्धपटुता, समझ बूझ और परिस्थिति को देखकर चलने की शक्ति पर निर्भर है ।'[1] लेकिन हिन्दी तथा कोंकणी समाज के परिवारों में ऐसी पत्नियाँ बहुत ही कम होती हैं जो अपने पति की आर्थिक स्थिति को समझकर घर का संचालन करती हैं । ऐसी पत्नियों के संबन्ध में प्रयुक्त होनेवाली हिन्दी कहावत है --'एक सेर की हाँडी, चूड़ा चाहूँ कि माड़ी' । गाँठ में पैसा न होते हुए भी तरह तरह की चीजें खरीदने की इच्छा रखनेवाली स्त्री के संबन्ध में यह प्रस्तुत कहावत में संकेत मिलता है । स्त्री को पहले अपने घर की आर्थिक स्थिति पर विचार करना चाहिए । और पहले अपनी इच्छाओं की पूर्ति करना चाहे तो उसके घर की आर्थिक स्थिति बिगड़ जायगी । एक आदर्श पत्नी के लिए अपने घर का सुख ही सुखकर है, न कि मायके । कोंकणी समाज में जो घर की आय

---

1. भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास - पृ. 179

से भी बढ़कर खर्च करनेवाली स्त्रियों का उपहास किया जाता है। कोंकणी का कहावत है -- 'बार्राहूचे न न्हाक तेर्राहूचि बायल' (बारह सेरवाले पति के लिए तेरह सेरवाली पत्नी)। पत्नी को अपने पति के खर्च को भी नियमित रखना चाहिए। कम अधिक खर्च करनेवाले पति को उससे भी अधिक खर्च करनेवाली स्त्री मिल जाय तो उसके घर की हालत बिगड़ जायगी। जब पति बारह सेर खाना पकाने को कहता है तो पत्नी तेरह सेर पकायगी तो थोड़े ही दिनों में सारा खाना खतम हो जायगा और फिर खाने के लिए उन्हें कर्ज लेना पड़ेगा। बारह सेर ही तो कम नहीं है। पत्नी को तो इस खाने को कम करके पकाना चाहिए जिससे घर की आर्थिक स्थिति बिगड़ न जाय। लेकिन पत्नी और भी अधिक खाना खर्च करे तो अपनी ही अपनी बिगड़ी हुई आर्थिक स्थिति में उन्हें कर्ज भी लेना पड़ेगा जिससे उनका जीवन दुःखपूर्ण हो जायगा।

पत्नी के संबन्ध में हिन्दी तथा कोंकणी की जितनी भी कहावतों का जो विवेचन ऊपर हुआ है उससे मालूम होता है कि दोनों भाषाओं में पत्नी का पूजनीय स्थान है और पत्नी के संबन्ध में सामान्य धारणा भी समान है।

बहू का स्वरूप

पहले ही बताया जा चुका है कि परिवार में स्त्रियों के स्वाभिमान पर ध्यान दिया जाता है। पत्नी के रूप में अपने पति से उसका जो संबन्ध है, वही संबन्ध परिवार के दूसरे सदस्यों के साथ भी होना चाहिए। अपने श्वसुर, सास, ननद, देवर आदि से भी उसका बर्ताव प्रेमपूर्ण हो जिससे अपने परिवार में वह पूजनीय हो जाय। ऋग्वेद के विवाह के अवसर के मन्त्रों में भी इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है। इसमें बहू को यह उपदेश दिया गया --'तुम श्वसुर की साम्राज्ञी हो, सास की साम्राज्ञी हो, ननदों की साम्राज्ञी हो और देवरों के बीच साम्राज्ञी के समान प्रतिष्ठित हो।'[1] दूसरे शब्दों में भी कहिए कि ब्याह में आई बहू का परिवार में अत्यन्त सम्मानपूर्ण स्थान है और अपने स्नेहपूर्ण व्यवहार से वह 'बहूरानी' कहलाने योग्य हो जाती है। भारतीय परिवार में प्रायः बहू का बड़ा स्वागत किया जाता है। ऐसा माना जाता है कि परिवार में सास बहू का संबन्ध उसी तरह रहे जिस तरह माँ और बेटी का।

---

1. साम्राज्ञी श्वशुरे भव साम्राज्ञी श्वश्र्वां भव ननान्दरि साम्राज्ञी भव साम्राज्ञी अधि देवृषु

--ऋग्वेद 10/85/46

लेकिन प्रायः समाज में यही देखा जाता है कि सास और बहू दोनों सद्भाव से घर का संचालन नहीं कर पातीं । ऐसी सास बहुएं बहुत ही कम देखने को मिलती हैं जो समझौते के साथ रहती हैं । इन दोनों में मनमुटाव इसलिए रहता है कि सास बहू दोनों एक दूसरे पर अधिकार जमाना चाहती हैं । अर्थात् सास तो अपने बेटे पर अधिकार रखते हुए बहू को अपने काबू में रखना चाहती है । बहू अपने मायके का रोब ससुराल में जमाना चाहती है । इसी के फलस्वरूप गृहकलह उत्पन्न हो जाता है । इसी लिए समाज में सामान्यतः निम्नलिखित कहावत प्रयुक्त होती है । 'सास न नंदो आप ही आनंदो' । जिस बहू के न सास है न ननद वह बहू सुख चैन से रहती है और स्वभाव से भी अच्छी रहती है किन्तु प्रायः ऐसा नहीं होता ।

सास-बहू-संबन्ध

सास के रहते हुए बहू का घर में कोई अधिकार नहीं रहता । उसे जो कुछ भी करना होता है तो पहले अपनी सास का आदेश लेना होता है । इसीसे दोनों के बीच प्रेम नहीं रहता , उलटे दोनों एक दूसरे से घृणा करती हैं । उनका इस तरह का संबन्ध सास के मर जाने तक रहता है । अपनी सास की मृत्यु पर भी बहू को दुःख नहीं होता । हिन्दी तथा कोंकणी दोनों समाजों में इस प्रकार की सास बहुएं कम नहीं हैं । हिन्दी की एक कहावत है - 'सास मरी बहू का आए आंसू' ।[1] सास के मरने पर बहू अपने दिल से रोती नहीं , रोती है , दूसरों को दिखाने के लिए । एक दिन के बाद आंखों में आंसू लाना भी केवल बहाना है । यदि यही बहू अपनी सास को प्यार करती है तो उसके मरते क्षण ही वह रोयेगी । वह इसलिए रोती नहीं है कि सास के मरने से ही वह स्वतन्त्र हो जाती है और उसके बाद वह अपनी इच्छा के अनुसार घर में रह सकती है । बहू बाद में इसलिए रोती है कि यदि वह न रोये तो समाज उसका क्या कहेगा । यही नहीं बाद में उसे अपनी करनी पर पछताना होता है । अधिकतः समाज को दिखाने के लिए ही वह दिखावटी आंसू बहाती है । कोंकणी कहावतों में इसी प्रकार की सास बहुओं का संबन्ध उभर आया है । सास बहू मन मन में ही एक दूसरे के प्रति घृणा करती हैं ,और तु वे बातों बातों में झगड़कर एक दूसरे पर हाथ भी उठाती हैं । इस ओर संकेत करनेवाली कोंकणी की कहावत है -- 'सद्‌णि मोडलि सासू मेलि सुनेक बुद्धि आयली '(मूसली टूट गई सास मर गई बहू को बुद्धि आ गई)

---

1. मर गई सासू आसी आये आँसू

सास बहू के बीच जो झगड़ा हुआ उसमें बातें करते करते बहू ने हाथ में रही फुकनी से सास के सिर पर मारा जिससे चोट लगकर सास मर गई। अभी बहू सोचने लगी कि उसने जो काम किया वह अच्छा नहीं हुआ और अपनी करतूत पर वह पछताने लगती है। बहू के इस प्रकार के पछताने का बहुत ढंग से विश्लेषण किया जा सकता है। बहू के मन में सास की मृत्यु एक ओर से तो सन्तोष की बात है। क्योंकि उसकी इच्छा अधिकारी की राह पर सास जो बाधा बनी रहती थी वह तो दूर हो गई। लेकिन वह यह भी सोचती होगी कि अपने सुख के लिए उसे सास की हत्या नहीं करनी थी। सभी बहुएँ अपनी करतूत पर इस प्रकार पछताती नहीं। यदि पछताएँगी भी तो एक दो दिन के लिए, वह भी दूसरों को दिखाने के लिए।

सास अपनी बहू को स्वतन्त्रतापूर्वक कुछ भी करने नहीं देती। यही नहीं, वह बराबर इसका ध्यान रखती है कि बहू क्या करती है। उसका हर काम सास की दृष्टि में अपराध है। उसके मन में यही विचार रहता है कि बहू ने उसके बेटे को भी अपने वश में ले लिया है। इसीलिए वह अपनी माँ से पहले के समान प्रेम नहीं कर रहा है। इस पर सास के मुँह से निकलनेवाली यही उक्ति है -- 'मेरा है सो मेरा था, पराया हुआ टुक देखने से सास का कहना है कि अब जो के बहू का पति है वह भी पहले उसीका बेटा था जो उसके ही कहे अनुसार चलता था। सास यही चाहती है कि घर में उसका बेटा अपने कहे अनुसार ही कोई काम करे, खुद अपनी इच्छा या अपनी पत्नी का कहना न मानकर करे। प्रायः सास यही चाहती है कि बहू घर का सारा काम करके उसकी सहायता करे। किन्तु उसकी चाह के विपरीत कोई बहू मिले तो सास यह कहावत कह बैठती है -- 'चीरे चार पसारे पाँच'। वह कहती है कि बहू से जब तरकारी काटने को कहा तो वह तरकारी के चार टुकड़े काटकर पाँच बताती है। अर्थात् बहू बातें करने में जितनी पटु है उतनी काम करने में नहीं। घर के काम करने में वह सास की सहायता नहीं करती। प्रस्तुत कहावत से यह तथ्य भी विदित होता है कि प्राचीनकालीन समाज में ब्याह में आई बहुओं से घर का काम कराने का प्रचलन रहा था। सास के मुँह से डाँट सुनकर जली हुई बहू यह कहती है -- 'छौंक लिखे न लिखिया होती फिर भी सास कहे यह बोली'। सास इसी पर ध्यान देती है कि क्या उसकी बहू उसके बारे में कुछ न कुछ किसी से कह रही है या नहीं। बहू भी दूसरों से अधिक बातें

करते देखना वह पसन्द नहीं करती क्योंकि अपने घर की बातें बाहर कुल कहेगी । इस प्रकार बहू के हर काम से सावधान रहनेवाली सास के संबन्ध में कहा जाता है -- 'मैंने न की छींक छिपाये , न मौन बोली , फिर भी मेरी सास कहती है कि मैं बहुत बोलती हूँ' । बहू के मुँह न खोलने पर भी सास का यही सन्देह रहता है कि क्या वह उसे कोसती है या घर की बुराई दूसरों के सामने खोल देती है ।

कभी कभी सास भी अप्रत्यक्ष रूप से बहू को चेतावनी दिया करती है । इस तथ्य की ओर संकेत करनेवाली हिन्दी कहावत है -- 'धिया तासों कहूँ , बहुरिया तू कान धरं' । सास बहू पर अपना रोब जमाने के लिए अपनी बेटी और बहू दोनों को डाँटकर कहती है 'धी , तुझे भी कहती हूँ और बहू , तू भी ध्यान से सुन '। ई ऊपरी तौर पर यही लगता है कि सास की बेटी को ही डाँटती है । किन्तु असल में वह बहू को ही डाँटना चाहती है । बहू से जो कुछ कहना है उसे अपनी बेटी को माध्यम बनाकर कहती है । उसका यही ध्येय है बहू को डाँटना । लेकिन प्रत्यक्ष रूप से बहू को बुरा भी न लग जाय । वास्तव में सास अपनी बहू की अपेक्षा बेटी को ही चाहती है और बहू को डाँटने के लिए बेटी को माध्यम बनाना मात्र उसका बहाना है । अपनी सास के चिड़चिड़ी पन को समझकर कोई भी बहू उसके साथ बुरा व्यवहार करती है और वह भी सास को किसी दूसरे पर दोष लगाकर डाँटती है । हिन्दी की निम्नलिखित कहावत में इस तथ्य का प्रतिपादन भी हुआ है -- 'धोबी का धोबिन पर बस न चले तो गधैया का कान उमेठे' । जब कोई धोबी किसी बात पर अपनी पत्नी पर गुस्सा नहीं उतार सकता तो वह सीधे अपने गधे के कान पकड़कर उमेठता रहता है । वैसे ही अपनी सास के प्रति जो नाराजगी है बहू उसे अपने बच्चों या दूसरे किसी पर उतार देती है । सास से तंग आकर जीवन से ऊब जानेवाली बहू की हिन्दी समाज में यही हालत है कि वह सोचने लगती है कि अपनी सास कुछ दिन के लिए कहीं भी जाये जिससे उसे थोड़ी ही सही , राहत मिल जाय । 'सास गई गाँव बहू कहे मैं क्या क्या खाऊँ ' । प्रस्तुत हिन्दी कहावत में ऊपर कही हुई बात ही प्रतिफलित होती है । सास के कुछ दिन गाँव चले जाने पर ही बहू ठीक तरह से दम लेती है । क्योंकि घर में सास के रहने के कारण वह कुछ भी अपनी चाह के अनुसार नहीं कर सकती है । सास के जाने पर उसको मौज इसीलिए रहती है कि वह मनचाहा कर सकती है । इस कहावत से स्पष्ट होता है कि बहू को अपनी ससुराल में कितने कष्ट भुगतं

भोजपुरी समाज में ऐसी भी सासें देखने को मिलती हैं जो पहले पहल अपनी बहुओं पर बहुत अधिक प्यार जतलाती हैं और बाद में उनकी उपेक्षा करती हैं। उनकी इस प्रवृत्ति की ओर इंगित करनेवाली भोजपुरी कहावत है -- 'नये कपड़ छाइये चूल्हे पुर्ने कपड़ रम्बोतु चले' (नई साड़ी के आते ही पुरानी साड़ी चूल्हे में डाल दी) ।। प्रायः नई साड़ी की सब लोग प्रशंसा करते हैं। लेकिन जब वह पुरानी हो जाती है तो कोई भी उसकी ओर मुड़कर भी नहीं देखता। पहननेवाले को भी वह अच्छी नहीं लगती जिससे वह साड़ी घर के किसी कोने में रखी जाती है और बाद में चूल्हे में जलाई जाती है। यहाँ साड़ी बहू का प्रतीक है और छोटी बहू के आते ही बड़ी बहू की दयनीय अवस्था का चित्रण प्रस्तुत कहावत के माध्यम से सफलता के साथ किया गया है। सास पहले अपनी बड़ी बहू से प्यार करके उससे सद्व्यवहार करती है। किन्तु उसका इस तरह का बर्ताव मात्र कुछ दिनों या दो तीन साल के लिए ही रहता है। जब नई बहू पुरानी पड़ जाती है और जब घर में छोटी बहू आ जाती है तो सास अपना सारा प्यार छोटी बहू पर ही जतलाती है। उसके लिए बड़ी बहू अब कुछ भी नहीं रहती। घर में उसकी उपेक्षा की जाती है।

गृहकलह का हेतु मात्र सास नहीं होती। बहुएँ भी इसकी जिम्मेदार हैं। बहुएँ अपने घर की शान ससुराल में दिखाना चाहती हैं और ब्याह के आये दिन ही घर के सभी सदस्यों पर अपना अधिकार जमाना चाहती हैं। हिन्दी समाज ऐसी बहुओं की निन्दा करता है। 'घू ढोल मेरा सजना, मैं घर सँभालूँ अपना'। प्रस्तुत कहावत में इसी भाव का प्रतिफलन हुआ है। प्रायः नवविवाहिता स्त्री के लिए घूँघट पहनना पड़ता है। उसे अपने से बड़े व्यक्तियों के सामने खड़े होकर सीधे बातें नहीं करनी चाहिए। घर के दूसरे पुरुषों के सामने घूँघट पहनकर ही जाना है। घूँघट पहनने का यही मतलब है कि ब्याही स्त्री ससुराल की ओर आँख उठाकर न देखे क्योंकि उसे सतीत्व का पालन करना चाहिए। लेकिन आजकल के समाज में कोई तेज तर्रार बहुएँ घूँघट पहनना नहीं चाहती हैं। वे ससुराल आते ही घूँघट उतारकर सभी से एक ही प्रकार का व्यवहार करना चाहती हैं। उनका कहना है -- 'मेरा यह घूँघट तो हटाओ मैं अपना घर सँवारूँगी'। उनके इस प्रकार के कथन से यह बात साबित होती है कि वे ससुराल में अपना अधिकार जमाना चाहती हैं। ऐसी बहुओं का समाज में बहुत ही कम सम्मान किया जाता है।

परिवार में माँ बच्चों का संबन्ध ही सबसे महान एवं पवित्र है । इसका कारण है माता का स्नेह । माता के सिवा और कोई भी बच्चों को इतना अधिक प्यार नहीं कर सकता । हिन्दी कहावत है --'जो माँ से सिवा चाहे वो डायन' । माँ के अतिरिक्त कोई भी बच्चों से अधिक प्रेम नहीं दिखा सकती । यदि कोई अधिक प्रेम दिखावे तो तुरन्त समझना चाहिए कि वह बनावटी है । दूसरों से बतलाया जानेवाला प्रेम तो अधिक होता है जब कि माँ का स्नेह नैसर्गिक है । माता कभी भी अपने बच्चों पर रुष्ट नहीं होती यद्यपि कभी कभी उनको भूलों पर वह उन्हें दण्ड दिया करती है । माँ का वह प्यार प्रसिद्ध है । कोंकणी समाज में माता के प्यार की प्रशंसा निम्नलिखित कहावतों में हुई है --'अवयले मोगा समान मोग ना ' (माता के प्यार के समान प्यार नहीं है ।) 'मिठा परसो रुचि ना , अव्वा सोयरीक बन्ध ना ' (नमक से भी बढ़कर रुचि नहीं है और माता के सिवाय और कोई संबन्ध भी नहीं) माता ही अपने बच्चों की भलाई चाहती है और बच्चों के सुख दुःख में भाग लेने को भी वह तैयार होती है । हिन्दी की कहावत है --' जोरू टटोले गठरी और माँ टटोले अंतड़ी ' । पत्नी पति को आते देखकर सोचा करती है कि अपने पति के पास कितना धन है और माँ यही देखती रहती है कि अपने बेटे का पेट अच्छी तरह भरा है या वह भूखा प्यासा आया है । पत्नी को धन का मोह है और पति के प्रति उसका प्यार झूठा रहता है जब कि माता अपने बेटे के प्रति अटूट प्यार दिखाती हुई उसके स्वास्थ्य की चिन्ता करती रहती है । बेटे के धन से उसका कोई मतलब नहीं । कोंकणी में भी यही कहावत चलती है --'आवय पळयता पोट, बायल पळयता मोट (माँ बेटे का पेट देखती है तो पत्नी गठरी) ।

माता के लिए अपने बच्चे कभी बोझ नहीं लगते । वह त जीवन में कष्टों को झेलकर भी बच्चों का लालन पोषण करती है । अपने जीवन को भी उनके लिए अर्पण करने के लिए वह तैयार रहती है । इस ओर इंगित करनेवाली हिन्दी कहावत है --'गाय को अपने सींग भारी नहीं होते ' । इसी तथ्य को प्रतिफलित करनेवाली कोंकणी कहावत है --'अव्वैक एक भेर्इ जड जोगु जावन वे ?' [1](माँ का कभी अपना बच्चा भारी लगता है ?) कभी भी किसी भी माता के लिए अपना बच्चा बोझ नहीं होता । जैसे गाय के सिर पर लगे सींग उसे भारी

---

1. कुम्भाकेन कुम्भाडे जड जतावे ?

नहीं समते वैसे ही माँ बच्चों को हमेशा अपने पास ही रखना चाहती है । वह भली भाँति जानती है कि उसके सिवा बच्चों पर वात्सल्य बरसानेवाला कोई भी नहीं है । माता का सा प्यार कभी पिता या परिवार के दूसरे सदस्यों से प्राप्त नहीं होता । इसीलिए माँ यही चिन्ता में रहती है कि उसके मर जाने पर बच्चों का क्या होगा । वह समझती है कि कोई भी बच्चों के स्वास्थ्य तथा सुख पर इतना ध्यान न दे सकेंगे जितना वह दे रही है । हिन्दी भाषाभाषियों के बीच ऐसी माता की मानसिक स्थिति का उद्घाटन निम्नलिखित कहावत में हुआ है --

रोटी करो सत्तू करो भात बरोबर नाहीं ।
मौसी करो फूफी करो माय बरोबर नाहीं ।।

चाहे रोटी बनाओ, चाहे सत्तू, वह भात की बराबरी नहीं कर सकता । वैसे ही घर में चाहे मौसी रखो, चाहे फूफी, वह माता के तुल्य नहीं हो सकती । भात का अपना एक अलग ही महत्व है । वैसे ही माँ का भी अलग महत्व है । जिसे माता का वात्सल्य मिलता है उसकी देखभाल करने के लिए मौसी या फूफी रखी जाय तो भी वह पहला सुख नहीं होता । माता के प्यार के सामने सारे संसार का ही प्यार तुच्छ है । फूफी पिता की बहन होती है जो अपने भाई के बच्चों के प्रति बड़ा ही प्रेम रखती है । फिर भी बच्चे उसे नहीं चाहते । इस ओर संकेत करनेवाली कोंकणी कहावत है -- '[illegible]' ।(पिता की बहन फूफी, वह मुझे नहीं चाहिए) । बच्चे अपनी फूफी को इसलिए नहीं चाहते कि वे जानते हैं कि फूफी से उनको अपनी माँ का जैसा प्यार न मिलेगा ।

माता के स्नेह की महत्ता की चर्चा हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में मिलती है । कोंकणी की कहावत -- '[illegible]' (जिस बच्चे की माँ ने त्याग किया हो उसके लिए इस संसार में कोई नहीं रहता) । प्रस्तुत कहावत में माता के वात्सल्य का ही प्रतिपादन हुआ है । जब माँ मर जाती है तो उसके समान उस बच्चे की देखरेख करनेवाला कोई नहीं रहता । बच्चे को खिलाने पिलाने के लिए लोग तो अवश्य होंगे, लेकिन उसे सही प्यार देनेवाला कोई नहीं होगा । सभी का प्रेम बनावटी होगा । वे बच्चे को खाने पीने को प्रचुर देंगे, फिर भी उनमें प्यार की कमी रहने के कारण बच्चे के स्वास्थ्य पर सही ध्यान नहीं

रहेगा । इसके परिणामस्वरूप बच्चे का स्वास्थ्य भी बिगड़ जाएगा और चरित्र भी । 'आव्वु नसलेली पोर्‌ं पोट्‌टारि' (जिस बच्चे की माँ नहीं रहती वह बच्चा पेटू होता है) । प्रस्तुत कोंकणी कहावत में मातृविहीन बच्चे की बुरी हालत की ओर संकेत मिलता है । माँ के अभाव में बच्चे के खान पान में कोई नियन्त्रण नहीं रहता । छोटी उम्र में पेटू होने पर उसके स्वास्थ्य के बिगड़ जाने की भी संभावना है । किन्तु माँ के अतिरिक्त और कोई भी, जो उसका पालन करते हैं, बच्चे के स्वास्थ्य की ओर ध्यान नहीं दे पायेंगे । यदि बच्चे की माँ होती तो बच्चे के स्वास्थ्य को बिगाड़नेवाली चीजों तथा खान पान के समय के प्रति अधिक सजग रहती । स्पष्ट है कि दुनिया भर में माता का प्यार ही सर्वश्रेष्ठ है और इस तथ्य से हिन्दी और कोंकणी समान सहमत रहे हैं ।

माता का प्रेम सबसे श्रेष्ठ है । लेकिन उसकी सीमा भी होनी चाहिए । सीमा के बाहर बच्चों को दुलारने पर उनका चरित्र बिगड़ जाता है । माँ कभी यह नहीं मानती या मानने के लिए तैयार नहीं हो जाती है कि उसका बच्चा बुरा है । वह इसी का समर्थन करती है कि उसका बच्चा तारों में एक है । ऐसी मान्यता की ओर संकेत करनेवाली कोंकणी कहावत है -- 'कावळ्याक कांवळीं पिल्लीं गोड' (कौए को उसके बच्चे प्यारे लगते हैं) । यहाँ पर अन्योक्ति द्वारा यही बतलाया गया है कि माता को अपने बच्चे सर्वाधिक प्यारे लगते हैं वे कितने ही गंदे क्यों न हों । कितना ही बिगड़े चरित्रवाला क्यों न हो, माता के लिए अपना बच्चा बुरा नहीं होता । माँ के इस प्रकार के अंधे प्यार का बच्चों के चरित्र पर बुरा असर पड़ता है और वे यही सोचने लगते हैं कि वे कोई भी गलत काम करें तो भी माँ उनको माफ़ी देगी । माता अपने बेटे के इस प्रकार के चरित्र को छिपाना ही चाहती है । हिन्दी की कहावत है -- 'चोर की माँ कोठी में सिर देकर रोती है ।' निम्नलिखित कोंकणी कहावत में भी इसी तथ्य का प्रतिफलन हुआ है । 'चोराचे आवयेन हृदयान्तु रडचें' (चोर की माँ हृदय में रोती है) । जब किसी माता का बेटा चोरी करके चोर बनता है तो वह दूसरों से यह बात छिपाने का प्रयास करती है । लेकिन अपने आप हृदय में सिसकियाँ भरती रहती है । वह दूसरों के सामने आँसू नहीं बहाती अपने मातृहृदय वात्सल्य के कारण माँ अपने बच्चे की छोटी सी चोट भी सहन नहीं कर पाती, जब कि पिता उसकी उपेक्षा ही कर देता है । इस तथ्य की ओर संकेत करनेवाली हिन्दी कहावत है -- 'माँ रोवे तलवार के घाव से, बाप रोवे तीर के घाव से' ।

पिता की अपेक्षा माता ही अपने लड़के के दुराचारों को अधिक धैर्य के साथ सहन करती है । जब लड़के के अनाचार से पिता को थोड़ा सा भी चोट लग जाय तो वह सहन नहीं करता जब कि तलवार तक की चोट को माँ अपने बेटे के लिए सहन कर लेती है । कहने का यही अर्थ है कि माँ लड़के की भूल छिपाना चाहती है जब कि पिता उसे खुल्लमखुल्ला दूसरों के सामने कहकर उसे दण्ड देने का प्रबन्ध करता है ।

कुछ माताएँ ऐसी भी होती हैं जो अपने बच्चों को काबू में रखती हैं । वे बच्चों की भलाई के लिए ही उन पर अंकुश रखती हैं । लेकिन बच्चे समझते हैं कि माँ उन पर अपना अधिकार जमा रही है और इसीलिए वे उसकी नहीं मानते । इस तथ्य की ओर संकेत मिलता है निम्नलिखित हिन्दी कहावत में -- 'माँ चाहे बेटी को और बेटी चाहे मोटे सीम को' । माँ बेटी को चाहती है, इसलिए उसकी हर करतूत से सावधान रहती है । लेकिन बेटी तो यह नहीं चाहती कि माँ उसकी स्वतन्त्रता पर हाथ लगाये । बच्चों की भलाई पर ध्यान रखनेवाली माता हमेशा उन्हें सदुपदेश देती रहती है । अपने बच्चों के प्रति जो प्यार है वही उसके उपदेशों में निहित रहता है । वह सन्तान के लिए वात्सल्य तथा त्याग की मूर्ति है । ऐसी माताओं का आदर करना उचित ही है । उनसे कभी भी दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए । 'अम्माक पोडोन सोरोनु दिवुंचाक नक्' (माता को धक्का मारकर नहीं देना चाहिए) । प्रस्तुत कोंकणी कहावत में उक्त तथ्य का ही प्रतिपादन हुआ है । माँ से कभी अन्य व्यक्तियों का जैसा बर्ताव नहीं करना चाहिए । उसे जो कुछ देना है हाथ खोलकर देना है । उसका हिसाब नहीं रखना चाहिए । त्यागशीलता की मूर्ति माँ को किसी भी हालत में दुःख नहीं देना चाहिए । यह महान पातक समझा जाता है । कोंकणी में कहावत यों चलती है -- 'अम्मुचे मन दुखोवंच नक् ' (माँ को दुःखी नहीं करना चाहिए) । स्पष्ट है कि ये सारी की सारी कहावतें माँ के महत्व को ही प्रकट करती हैं ।

दुश्चरित्र नारियाँ

भारतीय समाज में स्त्रियों का आदर-सम्मान होता है । समाज में स्त्री का कन्या, पत्नी, माता आदि सभी रूपों में आदर किया जाता है । यह उसकी महत्ता के कारण ही है । लेकिन उनके दोषों के बारे में समाज को क्या कहना है, वह भी कहावतों के माध्यम से स्पष्ट हो सकता है । असल में पत्नी एवं माता के रूप में स्त्रियों की मान्यता अधिक होती है । लेकिन स्त्रियों से संबन्धित कुछ बुरी धारणाएँ भी समाज में रहती हैं । यह उन्हीं को लेकर

होती है जो गुणवती होती है। स्त्रियों में विशेष रूप से कई बुरी प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती है जैसे दूसरों की निन्दा करना, दूसरों से झगड़ा करना और कराना, परपुरुषों को अपनाना, दूसरों की उन्नति पर ईर्ष्या करना आदि। कहावतों के जरिये स्त्रियों की ऐसी प्रवृत्तियाँ खूब उभारी गई है।

समाज में ऐसी स्त्रियाँ कम नहीं है जो अपनी पड़ोसिन की निन्दा करती है और उन पर व्यंग्य कसने में ही होशियार रहती है। निम्नलिखित हिन्दी कहावत में इस बात पर संकेत किया गया है। 'अपना टेंटर देखे नहीं, दूसरे की फुल्ली निहारे'। प्रायः स्त्रियाँ अपने बड़े दुर्गुणों पर ध्यान नहीं देतीं जब कि दूसरे के तिल भर के दुर्गुण दोष निकालती है। प्रत्येक व्यक्ति को पहले अपने को सुधारना है और बाद में ही दूसरों को सुधारने का प्रयास करना चाहिए। लेकिन स्त्रियाँ ऐसा नहीं करतीं। कोंकणी समाज की कुछ स्त्रियाँ भी दूसरों की निन्दा करने में कभी पीछे नहीं है। कोंकणी की कहावत है -- 'अपणाल्या पयांखाले पोर्तांतुले कुजलेलें सोडु दुसऱ्याली पयांखालुली सास्व सोदिता' (अपने दो पैरों के नीचे पड़े कुत्ते को छोड़कर दूसरों के पैरों के नीचे पड़ी राई को खोजता रहता है)। दूसरों के दोषों को खोज निकालने में मजा उठानेवाली स्त्रियों की आँखों में अपनी कुत्ते जैसी कमियाँ ओझल हो जाती है। उनके सामने दूसरे के राई जैसे छोटे छोटे दोष भी बड़े बन जाते है।

समाज में झगड़ालू स्त्रियों का भी कहीं अभाव नहीं रहता। स्त्रियों का जन्मजात स्वभाव है झगड़ना और विरोधियों पर व्यंग्य कसना। छोटी सी बात पर भी वे झगड़ा शुरू कर देती है। इस प्रकार की लड़ाकू स्त्रियों के संबन्ध में हिन्दी में कहावतें भी चलती है -- 'आ पड़ोसिन लड़ें' 'चलती हवा से लड़ती है' आदि। झगड़ा करने के लिए कोई न मिले तो स्त्री अपनी पड़ोसिन को ही झगड़े के लिए आमन्त्रित करती है। यदि पड़ोसिन भी न मिले तो चलती हवा को रोककर उससे लड़ने का प्रयास करती है। स्त्रियों के झगड़ालू स्वभाव की इससे सुन्दर अभिव्यक्ति और कहीं नहीं मिलेगी। कोंकणी समाज की स्त्रियाँ भी एक दूसरे से झगड़ा करने में पीछे नहीं है। जब हिन्दीवाली स्त्री चलती हवा से लड़ती है तो कोंकणी समाज की स्त्री बाड़ा पार करके झगड़ने आती है। 'वोंवि उड्डुनु झगड्क एता' (बाड़ा पार कर झगड़ने आती है)। झगड़ालू स्त्री से जब कोई नहीं बोलता तो वह बाड़ा पार करके अपना विरोध शब्दों में प्रकट

करती है। कहने का अर्थ यह है कि झगड़ालू स्त्रियाँ कभी चुप नहीं बैठ सकतीं। झगड़ा करना तो उनका जन्मजात स्वभाव है और वे भी ऐसा झगड़ा करती हैं, वह वे ही समझ सकती हैं इसी कारण अनेक स्त्रियाँ एक साथ मिलकर नहीं रह सकतीं। इस ओर संकेत करनेवाली हिन्दी कहावत है --'एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकते'। एक म्यान में एक ही तलवार रखी जा सकती है। दो नहीं। वैसे ही दो स्त्रियाँ एक ही जगह रहें तो उनमें झगड़ा होने की संभावना है। निम्नलिखित कोंकणी कहावत में भी यही तथ्य प्रतिफलित होता है --'दा दादल एकठे जेव जायतले, दोनि बायलांनि जायना'(दस पुरुष मिलकर एक साथ रह सकेंगे, लेकिन दो स्त्रियों का साथ साथ रहना असंभव है)। पुरुष एक साथ मिलकर रह सकते हैं क्योंकि तरह तरह के मन मुटाव होने पर भी उनमें निपटारा होता है। वे एक दूसरे को समझाने का प्रयास करके अपने क्लेश को दूर किया करते हैं जिससे उनके झगड़े का भी निपटारा होता है। लेकिन स्त्रियों की बात ऐसी नहीं। वे संख्या में बहुत कम होने पर भी किसी न किसी बात पर लड़ जाती हैं और दूसरों के समझाने पर भी मानने को तैयार नहीं होतीं।

झगड़ा करने में ही नहीं दूसरों पर ताना मारने में भी स्त्रियों को बड़ा शौक है। अपने झगड़े के बीचोंबीच वे कहा करती हैं --'आप बड़े बाप की बेटी हो तो पंजा कर ले'। किसी लड़ाकू स्त्री का दूसरी से कहना है कि वह यदि किसी बड़े बाप की बेटी हो तो उसे पंजा करके दिखाना है। पंजा करने का अर्थ है कि उंगलियों में उंगलियाँ फँसाकर इस तरह मरोड़ना कि दूसरा व्यक्ति उससे पराजित हो जाय। कोंकणी समाज की लड़ाकू स्त्री और भी होशियार होती है। वह कभी दूसरी स्त्री के सामने अपने को पराजित नहीं मानती। इस बात की ओर इंगित करनेवाली कहावत है --''ओल्लुकि ब अक्वारि हलांगु अस्तो' (कोई बड़ी हो तो बचपन मेरे साथ हो रही)। स्त्रियाँ प्रायः अपने को बड़ी मानती हैं और वे किसी दूसरे को अपने सामने बचपन दिखाते सहन नहीं कर सकतीं। इस प्रकार एक दूसरे से झगड़ा करनेवाली तथा एक दूसरे को ताने मारनेवाली स्त्रियों पर विश्वास नहीं करना चाहिए। यही समाज का मत है। एक कहावत भी चलती है --'औरत का क्या एतबार?' अर्थात् औरत विश्वास करने योग्य नहीं है। न जाने वह कब धोखा देगी क्योंकि 'औरत की जात बेवफा होती है'

लड़ाकू तथा दूसरों की निन्दा करनेवाली होने पर भी स्त्रियाँ श्रृंगार में विशेष रुचि रखती हैं। विशेष अवसरों पर वस्त्र और अलंकारादि से अपने को सुसज्जित करके वे गौरव का अनुभव करती हैं। वे अपने को साज श्रृंगार में एक दूसरे से बढ़ दिखाना चाहती हैं। कभी कभी श्रृंगार में लीन होकर घर का काम करने में हिचकती हैं। हिन्दी की कहावत है --' 'तू भी रानी मैं भी रानी कौन भरे कुएँ का पानी'। सभी सुसज्जित होकर रानी बनी रहें तो घर का काम करने को कोई नहीं होगा। अपने घर का संचालन सही करनेवाली स्त्रियाँ ही सच्ची कुटुम्बिनियाँ मानी जाती हैं। उन्हें साज श्रृंगार से अपने को शोभनीय बनाने का शौक नहीं होता। वे अपने आपको सुन्दर मानती हैं। साज श्रृंगार में लगी कोंकणी समाज की स्त्रियों के संबन्ध में एक कहावत यों चलती है --'अम्म वेश धुव वेश घराको केसुरु कोण काडि' (माँ और बेटी दोनों वेश्याओं की भाँति साज श्रृंगार में लगी हैं तो घर में कौन झाड़ू लगाये ?) माना जाता है कि वेश्याएँ ही दूसरी स्त्रियों की अपेक्षा श्रृंगारप्रिय होती हैं। लेकिन सच्ची कुटुम्बिनियों को वेश्याओं की तरह अपने को सुसज्जित करके बेकार नहीं रहना चाहिए।

वेश्या का स्वरूप

समाज में मात्र पतिव्रता स्त्रियाँ ही नहीं, अपितु कुमार्गगामी स्त्रियाँ भी मिलती हैं। वे स्त्रियाँ वेश्याएँ कही जाती हैं। समाज में वेश्याओं का कोई सम्मान नहीं रहता। उनकी ओर समाज निन्दा की दृष्टि से देखता है। ऐसा माना जाता है कि वेश्याएँ समाज को बुरे मार्ग पर ले जानेवाली हैं। किन्तु यह भी एक सत्य है कि कोई भी समाज बिना वेश्याओं के नहीं रह सकता। प्राचीन काल में समाज में वेश्याओं का आदर भी किया जाता था। क्योंकि वे नाचने और गाने में समर्थ होती थीं। मंदिरों में विशेष अवसरों पर नाचने के लिए उन्हें बुलाया जाता था। लेकिन कालान्तर में ये वेश्याएँ समाज में निचले स्तर की मानी जाने लगीं। 'वेश्येक नाचूंक येना जाल्यारि अंगण वांकुडें' (वेश्या को नाच न आये तो कहती है कि आँगन टेढ़ा है)। प्रस्तुत कोंकणी कहावत में वेश्याओं के नाचने के पेशे की ओर संकेत मिलता है। इसमें यह बात भी व्यक्त की गई है कि जब कोई अपने काम में असफल रह जाता है तो उससे बचने के लिए दूसरों पर दोष लगाया जाता है। हिन्दी कहावत इस प्रकार है जो इसी ओर संकेत करती है --'नाच न आवे आँगन टेढ़ा'।

युवा वेश्याओं की सुन्दरता की ओर ही लोग आकृष्ट होते हैं । जब तक वे सुन्दरी रहती हैं तब तक दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं । किन्तु जब वे बूढ़ी बन जाती हैं तब कोई भी उनकी ओर देखता तक नहीं । अपनी कुरूपता पर पर्दा डालने के लिए वेश्याएँ अन्त में जाकर पतिव्रताएँ बनती हैं । वे पतिव्रत्य में इतनी कट्टर रहती हैं कि किसी भी पुरुष से बोलने तक में हिचकती हैं । वे सदा पूजापाठ में लीन रहती हैं । ऐसी बूढ़ी पतिव्रताओं की निन्दा करते हुए एक कहावत कोंकणी समाज में यों चल पड़ी है -- 'वेश म्हातारि जाल्यारि पतिव्रताधि ' (वेश्या बूढ़ी हो जाय तो वह पतिव्रता बन जाती है) । अपनी सुन्दरता को बढ़ाने के लिए वेश्या सदा अपने को अलंकृत रखने में ही ध्यान देती है । घर का कोई भी काम वह नहीं करती । समाज ऐसी वेश्याओं की निन्दा करता है और किसी काम को सदा अपने को सजाते और केवल बैठी देखकर निम्नलिखित कहावत का प्रयोग करता है -- 'अम्म वेस धुव वेस चलो बेपुरु कोण करि ?' (माँ और बेटी दोनों वेश्याएँ हों तो घर का काम कौन करेगा ?) । इस प्रकार दूसरों को प्रसन्न रखने में अपना सारा ध्यान केन्द्रित रखने वाली वेश्याओं की ओर कोई भी सहानुभूति की दृष्टि से नहीं देखता। वेश्याएँ किसी की अपनी नहीं रहतीं । लेकिन सभी लोग उनके अपने होते हैं । अतः कहा जाता है -- 'बीबी किसके मीत और चाकर किसके यार ?' । वैसे ही सभी लोगों के समाज रूप से प्रसन्न करनेवाली वेश्याओं का जीवन अकारथ हो जाता है । प्रस्तुत तथ्य को व्यक्त करनेवाली हिन्दी कहावत है -- 'सभी गाने का मन रखते वेश्या हो गई बाँझ ' । यों भी वेश्याओं को समाज में पेशेवर जातियों के अन्तर्गत ही गिना जाता है । एक तरफ से वे घृणित पेशा करनेवाली मानी जाती हैं । फलतः अपने शरीर और सौन्दर्य का ही वे सौदा करती रहती हैं । समाज में वेश्या के इस यथार्थ स्वरूप की ओर संकेत करनेवाली कहावतें भी कम नहीं हैं । उदाहरण के लिए हिन्दी की - 'बड़ो घर की वेश्याओं सारे दिन का आहार' वाली कहावत वेश्याओं के यथार्थ स्वरूप को ही चित्रित करती है । वेश्यायें शर्म मानें तो उनकी जीविका आपत्ति में पड़ जाती है । कोंकणी में भी इसी भाव की कहावत यों मिलती है -- ' लज्जेक भेल्यारि पेजेक मुट्टु' । यदि वेश्याएँ लज्जा की बात सोचेंगी तो उन्हें दिन भर भूखी मरना होगा ।

वेश्याओं से संबन्धित प्रस्तुत कहावतों से समाज के दूसरे मुख, की निम्न स्तर का है , का भी परिचय मिलता है । X एक ओर समाज उच्च आदर्शों को लेकर चलता है वहीं दूसरी ओर अनैतिकता को भी अपना लेता है ।

निष्कर्ष

हिन्दी तथा कोंकणी समाज की वर्णव्यवस्था एवं परिवार का जो चित्रण प्रस्तुत अध्याय में हुआ है उसके आधार पर यही कहा जा सकता है कि दोनों समाजों के बीच एक प्रकार का आन्तरिक संबन्ध रहा है । वर्णाश्रम और जातिव्यवस्था को ही लें । भारतीय परंपरा में जो चातुर्वर्ण्यव्यवस्था कायम रही है उसीका तोड़ा मरोड़ा हुआ रूप दोनों समाजों में देखा जा सकता है । हिन्दी समाज में चारों वर्णों, जातियों तथा उपजातियों का जो रूप कहानी में प्रतिबिंबित हुआ है, वही कोंकणी समाज की कहानी में भी कुछ परिवर्तनों के साथ मिलता है । कोंकणी समाज में चारों वर्णों का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन नहीं हुआ है । उस समाज में प्रचलित ब्राह्मणसंबन्धी तथा पेशेवर जातियों संबन्धी कहानियों से ही यह सत्य विदित होता है कि कोंकणी समाज में भी चतुर्वर्ण की स्थिति कायम रही थी । ब्राह्मणों के प्रति समाज की जो मान्यता है वह दोनों भाषाओं की कहानियों में प्रतिबिंबित होती है जिससे समझा जा सकता है कि दोनों समाज ब्राह्मणों को किस दृष्टि से देखा करते हैं । समाज का और एक प्रमुख हिस्सा है परिवार और उसके विभिन्न अंग । संयुक्त हिन्दू परिवार किस प्रकार का होता है और उसका हिन्दी तथा कोंकणी समाज में क्या स्थान है, इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर हिन्दी तथा कोंकणी दोनों भाषाओं की कहानियाँ स्वयं दे सकती हैं । परिवार में पुरुष, नारी, उनके आपसी संबन्ध का स्वरूप दोनों समाजों में प्रचलित कहानियों में खूब प्रतिबिंबित हुआ है । इनमें समाज का यथार्थ स्वरूप ही अंकित है । यद्यपि दोनों भाषाओं की कहानियों में चित्रित परिवार में बाह्य दृष्टि से थोड़े अन्तर अवश्य मिल जायें, तो भी उनमें निहित आन्तरिक भाव एक ही रहा है । हिन्दी और कोंकणी कहानियों और उनमें निहित भावनाओं की एकता का कारण तो मूलतः दोनों समाजों की सामाजिक व्यवस्था का गठन ही है । दोनों भारतीय समाज के सच्चे स्वरूप को ही सामने रखते हैं ।

153

चौथा अध्याय

हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में प्रतिबिंबित धर्म

हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में प्रतिबिंबित धर्म

समाज और धर्म

समाज व्यक्तियों का समूह है । इस समूह में भिन्न भिन्न रुचिवाले तथा भिन्न भिन्न आचरणवाले लोग रहते हैं । व्यक्तियों के बीच दिखाई पड़नेवाली इस भिन्नता में सामंजस्य लाने के लिए किसी न किसी नियम की आवश्यकता रहती है । यह समाज में अपने आप होता रहता है । समाज की इसी सामंजस्यविधायिनी चेतना से उदात्तीकरण की जो प्रवृत्ति मूर्तिकृत होती है वही समाज के नाना स्तरों को आच्छादित करती हुई धर्म नाम से अभिहित होती है । समाज की इस सामंजस्यविधायिनी शक्ति तथा समाज का अविच्छिन्न संबन्ध है । यह संबन्ध भी बड़ा ही विचित्र है । सामाजिक विषमताओं में सामंजस्य लाने के साथ ही साथ समाज को नियमित करने तथा सुव्यवस्थित रखने में इस धर्म का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । दूसरे शब्दों में यों कहिए, धर्म मूलतः व्यक्ति के उन्नयन द्वारा सामाजिक उन्नयन की प्रक्रिया है । अतः धर्म अध्यात्म की अपेक्षा समाज से ही अधिक संपृक्त रहता है । कहा गया है कि धर्म का स्रोत स्वयं समाज है और धार्मिक धारणाएँ सामाजिक विशेषताओं की प्रतीक हैं । यदि धर्म अध्यात्म की ओर इशारा करता है तो वह आध्यात्मिक विचार भी समाज की ओर से ही उद्भूत होते हैं ।[1]

समाज में धार्मिक जीवन की कई धाराएँ प्रवाहित होती हैं जिनमें से प्रमुख दो धाराएँ हैं भक्ति और कर्मकांड । भक्तिधारा के अन्तर्गत प्रार्थना को ही प्रधानता दी जाती है । कर्मकांड में व्यावहारिक कर्म और अनुष्ठानों के द्वारा कर्मों के अनुकूल देवताओं के आह्वान पर बल दिया जाता है । धर्म के इस आध्यात्मिक पहलू के अतिरिक्त उसका और एक पहलू भी है जिसके अन्तर्गत मनुष्य के आचार व्यवहार या आदर्श तथा नैतिक व्यवहार आते हैं । व्यक्ति के सत्कर्म

---

1 That the sources of religion is the society itself, that the religio's consciousness are nothing but simbols of characteteristics of the society, that the sacred God is but a personified in the creation, reinforcement and maintenance of social solidarity.

—Temporary sociological Theories -Gauge p.473-474

के द्वारा ही स्वयं उसकी तथा संपूर्ण समाज की उन्नति संभव हो जाती है। व्यक्ति को सत्कर्म करने की प्रेरणा तो धर्म से ही प्राप्त होती है। धर्म ऐसी एक प्रेरणादायक शक्ति है जिससे मनुष्य दुष्कर्मों से दूर रहकर सत्कर्मों की ओर आकृष्ट होता है। धर्म में निहित दण्डविधान मनुष्य के अधर्माचरण पर अंकुश लगाता है और सार्थक समाज की स्थापना में योगदान देता है। समाज का उन्नयन व्यक्तियों के उन आचरणों से ही संभव है जो धर्म के अन्तर्गत निर्धारित किए गए हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि समाज और धर्म का पृथक अस्तित्व है ही नहीं।

जीवन में धर्म का महत्व

मानव जीवन धर्म पर आश्रित रहता है। 'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए कहा गया है -- 'धारणात् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः' - अर्थात् प्रजा या मनुष्य को धारण करनेवाला ही धर्म है। मानवजीवन और धर्म एक दूसरे के पूरक भी हैं। इसीलिए कहा जाता है -- 'धर्मो रक्षति रक्षितः'। जो धर्म की रक्षा करता है उसकी रक्षा धर्म भी अवश्य करता है। मानव जीवन में धर्म का महत्व ही अधिक रहता है, काम को धर्म के बाद ही स्थान दिया जाता है। अतः बतलाया गया है कि धर्म श्रेष्ठ, अर्थ मध्य और काम लघु होता है।[1] मानव को अर्थ और काम की उपलब्धि तो धर्माचरण से ही होती है। इसीलिए धर्म का पालन ही जीवन का परम ध्येय होना चाहिए। परन् सामाजिक जीवन में अर्थ और काम की महत्ता होते हुए भी धर्म के अनुशासन से हट जाने पर अर्थ और काम का रूप भी कलुषित पशुवत् हो जायगा। मनुष्य इसीलिए अन्य प्राणियों से श्रेष्ठतर समझा जाता है कि उसका जीवन धार्मिक होता है और यह धार्मिकता तो मनुष्य की सार्थक भावना पर आधारित रहती है। दूसरे शब्दों में धर्म के महत्व को अस्वीकार करने पर धार्मिक जीवन की महत्ता भी समाप्त हो जायगी। धर्माचरण से मनुष्य की सौम्यता बनी रहेगी।

---

1. धर्मो राजन् गुणः श्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते ।
   कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः ।। -- महाभारत - शान्तिपर्व

मानव जीवन का रक्षक होने के साथ ही धर्म मनुष्य के लिए एक सच्चे मित्र की तरह सहायक भी है। एक विश्वसनीय मित्र के समान धर्म मनुष्य के जीवनपथ का पथप्रदर्शक है जो प्रत्येक कदम को कुशलता से आगे रखने का उपदेश देकर आगे की ओर ले जाता है। धर्म तो ऐसा एक अनुशासन है जो मनुष्य को बुराई से दूर हट जाने में सहायता देता है। मानव-सहज काम, क्रोध और लोभ से भी वह हमें बचाता है। जीवन में नैतिकता की सीख भी धर्म ही देता है।[1] कहने का अर्थ है कि धार्मिक आचरण से मानवजीवन उन्नत, संस्कृत तथा मर्यादित बन जाता है।

धर्म व्यक्तिजीवन को महान बनाता है और व्यक्तियों की धार्मिक महत्ता समाज को उन्नत बनाती है। इस प्रकार जीवन में धर्म की महत्ता पर विचार करने पर यह प्रश्न सामने आता है कि जीवन में किस प्रकार धर्म का पालन किया जाता है। कौन से आचरण धार्मिक और अधार्मिक कहलाते हैं? जीवन के सभी क्षेत्रों में उचित कर्म करना ही धर्म का सच्चा पालन है। मनुष्य के लिए अपने वर्ण निजी कर्म निर्धारित किए गए हैं। इसीलिए पराशर महर्षि ने बताया है कि चारों वर्णों का आचार ही धर्मपालन का सच्चा आदर्श है।[2] दूसरों से प्रतिकूल व्यवहार न करना भी धर्मपालन का और एक रूप है। धर्म प्रायः मनुष्य के आत्मिक कल्याण का साधन है और व्यक्तियों के इस आत्मिक कल्याण से समाज में सामंजस्य बना रहता है।

इससे स्पष्ट है कि दूसरों के सुख दुःख को अपना सुख दुःख समझना ही धर्म का दृष्टिकोण है। धर्म की इस दृष्टि के दो पक्ष होते हैं। भौतिक विषयों की ओर से आत्मा की ओर यानी आध्यात्मिक विषयों की ओर उन्मुख होना धर्मदृष्टि का एक पक्ष है। दूसरा पक्ष यह है कि सभी प्राणियों में एक ही आत्मा का दर्शन करते हुए समानता का व्यवहार करना तथा दूसरों से प्रतिकूल व्यवहार न करना।[3] इन दोनों पक्षों के सन्तुलन से धार्मिक दृष्टि की

---

1. धर्म और समाज - डा. राधाकृष्णन - पृ. 49
2. चतुर्णामपि वर्णानामाचारो धर्मपालकः --पराशर स्मृति
3. महाभारत में धर्म -- डा. शकुन्तला शर्मा - पृ. 137

सन्तुलित रखती है और इसीसे व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन का कल्याण होता है । सदाचरण के साथ धार्मिक जीवन व्यतीत करने से समाज में व्यक्ति का सम्मान होता है । यही नहीं, इस लोक में किए गए धार्मिक कार्यों से ही मरणोपरान्त व्यक्ति को स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है ।[1] धार्मिक व्यवहार एक ओर व्यक्तिगत मोक्ष प्राप्त करने में सहायक होने के साथ साथ दूसरी ओर सामाजिक जीवन में सामूहिकता की भावना भी उत्पन्न कर देता है । विभिन्न प्रकार के धार्मिक व्यवहार एवं आयोजनों से जनजीवन में उत्साह का उदय होता है और पारस्परिकता का भाव सीमित होने के कारण लोग अनेक सामाजिक कार्यों का संपादन करने में समर्थ हो जाते हैं । कहने का अर्थ यह है कि धर्म मानव मर्यादा का निर्धारक तत्व है । यह तो व्यक्तित्व का प्रतिष्ठापक है । धर्मपालन से ही समाज में व्यक्ति की प्रतिष्ठा बनी रहती है । धर्म मानव संस्कृति का प्रबल प्रतीक और समाज का मार्गदर्शक है ।

धर्म का क्षेत्र

धर्म का समाज में महत्वपूर्ण स्थान है । किन्तु उसके क्षेत्र का निर्धारण उतना आसान नहीं है । धर्म के संबन्ध में विचार किया जाय तो यह बात सामने आती है कि भारतीय विचारों के अनुसार धर्म का क्षेत्र अतिशय विशाल है । धर्म में निहित जो तत्व है वह सृष्टि के मूलवर्ती ब्रह्म से लेकर संसार की साधारण से साधारण वस्तुओं और प्रवृत्तियों तक फैला हुआ है । वैदिक धारणा के अनुसार प्राकृतिक स्थितियों का रहस्य एक अज्ञात शक्ति में निहित है और इसी शक्ति को देवता बताया गया है । देवता अतिशय समर्थ है और अमर भी है ।[2] इसी कारण धर्म के क्षेत्र में इन्हें विशेष समादर प्राप्त है । इस कारण से लोगों में एक विशेष धारणा बन गई है कि देवताओं को सन्तुष्ट करने से मनोवांछित प्राप्त की जा सकती है इसी अभ्युदय के रूप में यज्ञ, पूजा और भक्ति के मार्ग खुल गए जिससे समाज में देवोपासना धर्म का एक अविच्छेद्य अंग बन गई । देवोपासना के सिलसिले में देवताओं के वैदिक तथा पौराणिक चरित्र को आदर्श मानकर अपने व्यक्तित्व को भी दिव्य तथा पवित्र रूप में ढालने की रुचि लोगों में उत्पन्न हुई ।

---

1. वसिष्ठ स्मृति
2. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका - रामजी उपाध्याय - पृ. 47

मानव के अभ्युदय में धर्म के क्षेत्र पर विचार करने पर धर्म की परिभाषा यों दी जाती है कि धर्म वह है जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति हो।[1] यहाँ अभ्युदय का मतलब लौकिक उन्नति से है और निःश्रेयस का मुक्ति से है। सूत्रकारों ने भी आनन्द एवं निःश्रेयस प्रदान करनेवाले तत्व को धर्म के नाम से अभिहित किया है।[2] मनु तथा अन्य स्मृतिकारों के मतानुसार वेद एवं स्मृतिविहित, नीतिनिर्धारित तथा आत्मप्रेरित सत्कर्म ही धर्म है।[3] किन्तु पाश्चात्य समाजशास्त्री भी धर्म का अभिप्राय आध्यात्मिक शक्ति पर विश्वास करना ही समझते हैं।[4] फ्रेजर ने भी धर्म का तत्व एक अमानुषिक शक्ति माना है जो मानव जीवन का नियंत्रण करती है।[5] धर्म में आध्यात्मिक वस्तु के होने के कारण ही पूजापाठ, यज्ञ, दान, तप आदि की उपयोगिता मानव जीवन में रही है। कहा जाता है कि यज्ञ, दान और तप में मानव की सभी उदात्त प्रवृत्तियों और कर्तव्यों का अन्तर्भाव हो जाता है।

धर्म का लक्षण बताते हुए मनु ने लिखा है -- 'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥'[6]

ये तो धर्म के सामान्य लक्षण हैं। इसी की ओर संकेत करते हुए महाभारत में भी लिखा गया है कि बिना दी हुई वस्तु को न लेना, दान, अध्ययन और तप में तत्पर रहना, किसी प्राणि की हिंसा न करना, सत्य बोलना, क्रोध त्याग देना और यज्ञ करना - यही धर्म का मूल है।[7]

----

1. कणाद सूत्र 1 - 1 - 2
2. वैशेषिक धर्मसूत्र
3. मनुस्मृति - याज्ञवल्क्य स्मृति
4. Religion is the belief in spiritual beings
--Primitive Culture - e.B. Taylor p.4

5. By religion I understand a proposition on consultation of powers superior to man which are believed to direct and control the course of nature and human life.
--The Golden Bough-Fredger.p.459

6. मनुस्मृति - अ. 6 श्लो. 92 - [illegible]

7. अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तपः । अहिंसा सत्यमक्रोध इज्या धर्मस्य लक्षणम् ॥
-- महाभारत - शान्तिपर्व अ. 36 श्लो. 10

मानवता के सर्वोच्च गुणों को धर्म का आवश्यक अंग माना गया है । भागवत के अनुसार विद्या, दान, तप और सत्य धर्म के चार पद हैं । और धर्म इन्हीं के अनुरूप हो सकता है ।[1]

मानव जीवन बहुत ही विशाल और जटिल है । उसके अनेक पक्ष, परिस्थितियाँ और अनेक संबन्ध भी हैं । जीवन और धर्म का अटूट संबन्ध रहा है । अतः जीवन की जटिलता और विविधता के अनुरूप धर्माधर्म की भी अनेकरूपता स्वाभाविक ही है । धर्म के अंगों में वर्ण और आश्रम प्रमुख माने जाते हैं । जीवन में वर्णाश्रम-व्यवस्था का बहुत बड़ा महत्व है । इसी सामाजिक विधान के अनुसार धर्मशास्त्र में धर्म के कर्तव्यों का निर्धारण किया गया है । इस सामाजिक व्यवस्था के चारों वर्णों के लिए पृथक पृथक कर्तव्य का विधान है और इन वर्णों के कर्तव्य ही उनका धर्म है । आश्रमव्यवस्था के भी अलग अलग धर्म माने गये हैं ।

हिन्दी तथा कोंकणी कहावतें और धर्म

व्यक्ति और धर्म एक दूसरे से इतना संबन्धित रहते हैं कि किसी एक से पृथक होकर दूसरे का अस्तित्व है ही नहीं । वैसे व्यक्ति और समाज का भी अविच्छेद्य संबन्ध है । कहने का अर्थ है कि प्रत्येक समाज का अपना एक धर्म होता है और धर्म के आधार पर ही सामाजिक जीवन का निर्माण होता है ।

हिन्दी तथा कोंकणी समाजों में भी धर्म का प्रमुख स्थान रहा है । दोनों समाज भारतीय समाजविधान के अनुसार होने के कारण इनमें प्रचलित धार्मिक धारणाओं में एक हद तक समानताएँ देखने को मिलती हैं । व्यक्ति को मानसिक अभिव्यक्ति को रोचक रूप में दूसरों के सामने प्रस्तुत करने का अचूक माध्यम है कहावतें । समाज के धार्मिक विचार भी इन्हीं छुटपुटे वाक्यों के माध्यम से जब अभिव्यक्त किए जाते हैं तो वे अधिक प्रभावशाली बन जाते हैं । हिन्दी और कोंकणी समाज में ऐसी अनेक कहावतें मिलती हैं जो धर्म के विविध पक्षों की ओर संकेत करते हैं । यहाँ पर धर्म शब्द का व्यापक अर्थ सामने आता है जिसमें अलौकिकता, ईश्वरीय उपासना, संस्कार आदि निहित रहते हैं । वैसे ही धर्म का व्यावहारिक रूप भी यहाँ पर देखने को मिलता है ।

---

1. भागवत 3 - 12 - 41

समाज में धर्म की जो प्रधानता रही है उसके संबन्ध में 'धर्म तु विश्वेश्वराक' एक सामान्य कहावत है। बुद्धिमान व्यक्ति वही है जो धर्मानुसार चलता है। धर्मानुसार चलनेवाले को कोई चिन्ता नहीं रहती। और कोई धर्म के अनुकूल जीवन बिताए तो उसे सुख अपने आप मिलते हैं। लेकिन जब कोई उसके विपरीत आचरण करता है वह सुख से हाथ धो बैठता है। मानव जीवन की चार सिद्धियों में सबसे बड़ी है मोक्षसिद्धि। अधर्माचरण व्यक्ति को इससे दूर रखता है। इसलिए समाज में धर्माचरण पर अधिक बल दिया जाता है। कोंकणी तथा हिन्दी समाज इसके अपवाद नहीं है। संस्कृत में एक कहावत है - 'आचारः प्रथमो धर्मः' समाज में आचारों का पालन करना ही मनुष्य का प्रथम धर्म है। भारतीय सामाजिक आचारों से संबन्धित यह बात कोंकणी समाज में भी मिलती है। कोंकणी कहावत यों चलती है - 'आचारु चलल्याक चिंतारु उणे' (आचारों का पालन करनेवाले को चिन्ता कम रहती है) इस कहावत में धर्मानुसार जीवन बितानेवाले व्यक्ति को मोक्षप्राप्ति की ओर संकेत मिलता है। समाज की यही सोच भी रही है कि जो अपने जीवन में धर्माचरण का नियमपूर्वक पालन करता है वही सुखी रहता है और उसे जीवन में चिन्तित या परेशान रहने की जरूरत नहीं पड़ती।

इससे स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि जो धर्म का पालन करते हुए धर्म की रक्षा करता है उसकी रक्षा खुद धर्म ही करता है। अतः कहा गया है - 'धर्मो रक्षति रक्षितः'। व्यक्ति तो अपने अपने धर्म में अटल रहना चाहता है प्रत्येक धर्मावलम्बियों के अपने निजी आचार विचार और विश्वास होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपना धर्म ही सबसे अधिक श्रेयस्कर है। गीता में भी कहा गया है -- 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'। अपना धर्म ही श्रेयस्कर है। दूसरों का धर्म अपनेलिए स्वीकार्य नहीं है। ऐसी विचारधारा को माननेवालों का कहना है -- 'पहले अपने घर में दिया जलाकर फिर मन्दिर में जलाया जाता है' अथवा 'पहले आत्मा फिर परमात्मा'। अपने ही धर्म में अटल विश्वास रखनेवाले लोग अपने ही धर्मावलम्बियों की भलाई करना चाहते हैं। वे अपने धर्मावलम्बियों को यही सलाह दिया करते हैं कि पहले अपने धर्मावलम्बियों का भला करें, बाद में दूसरों की ओर ध्यान दिया करें। कोंकणी समाज का भी धर्मसम्बन्धी यही विचार है। इसके विपरीत

कोई अपने धर्म की अपेक्षा दूसरे धर्मावलम्बियों के लिए अपना तन मन धन अर्पित कर देते हैं तो समाज उनकी ओर तिरस्कारी दृष्टि से देखता है । इस ओर इंगित करनेवाली कोंकणी की एक कहावत है -- 'घर जोळ्न्तिलो गांवु जोळ्ता' (घर को कुछ नहीं देखता, गांव को देखता फिरता है) अपने घर की भलाई के लिए प्रयत्न न करनेवाला व्यक्ति समाज में निन्दनीय होता है । वैसे ही अपने धर्म की उपेक्षा करके दूसरे किसी धर्म की ओर अधिक रुचि दिखानेवाले व्यक्तियों का उस समाज में सम्मान नहीं होता । किन्तु मानवता को ही सबसे श्रेष्ठ धर्म माननेवालों का विचार है -- 'मनुष्यता ही धर्म का मूल है' ।[1]

सिन्धी और कोंकणी कहावतों में प्रतिफलित धर्म के विभिन्न अंग

ईश्वर का स्वरूप

मानवीय कल्पना के अनुसार देव मानवों से अधिक सबल और मानवीय तथा प्राकृतिक शक्तियों का नियंत्रण करनेवाली अगोचर शक्ति है । मनुष्य इसीलिए अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए ईश्वर की उपासना करते आये और आज भी कर रहे हैं । उसने ईश्वर को कई रूपों में देखा और प्रकृति में भी ईश्वर की कल्पना की ।

सिन्धी और कोंकणी समाज में मानव की इस प्रकृति का सहज प्रतिफलन देखा जा सकता है । दोनों समाजों के लोग ईश्वर के कट्टर विश्वासी रहे हैं । ईश्वर पर इतना भरोसा रखते हैं कि सारी दुनिया के सृष्टिकर्ता का श्रेय ईश्वर को ही देते हैं । ईश्वर तो सभी प्राणियों पर एकछत्र अधिकार रखता है और वही सर्वज्ञ भी है । ईश्वर की सर्वज्ञता और व्यापकता की ओर इंगित करनेवाली सिन्धी कहावत है -- 'खुदा हाजिर व नाज़िर है' । ईश्वर तो सर्वव्यापी है । सभी प्राणियों में उसका अस्तित्व किसी न किसी रूप में रहता है । वह सर्वज्ञ भी है । उसीके इच्छानुसार दुनिया का हर एक काम चल जाता है । वह मनुष्य को भले बुरे कर्म करने की प्रेरणा चेतावनी देता है । मनुष्य का कोई भी कार्य उससे नहीं छिपा रहता । अर्थात् ईश्वर से कोई बात छिपी नहीं रहती, तो मनुष्य को एक दूसरे से डरने की ज़रूरत नहीं है । अतः कहा जाता है -- 'खुदा जो चोरी नहीं, तो बन्दे का क्या डर'। ईश्वर ही मनुष्य के कर्मों को देखता रहता है तो कोई भी काम, चाहे वह भला या बुरा हो छिपाकर के क्यों किया जाय ?

---

1. He has no religion who has no humanity

सर्वव्यापी होने के साथ ही सारे जगत् का अधिकारी भी ईश्वर होता है । सभी प्राणियों पर मात्र उसका स्वयं अधिकार है और उसके विधान के प्रतिकूल कोई भी नहीं चल सकता । जो वह चाहता है वही होता है और उसके विरुद्ध कर्म करना मनुष्य के लिए संभव नहीं है । हिन्दी में कहावत भी चलती है -- 'अलबत बुलावत' । ईश्वर का बल ही सबसे बड़ा बल है और इसीलिए उसके इच्छानुसार ही संसार का हर एक प्राणी आगे बढ़ रहा है ।

'अल्लाह करे सो हो' । [1] प्रस्तुत हिन्दी कहावत में यह तथ्य प्रतिबिंबित होता है कि ईश्वर को जो कुछ मंजूर हो वही होता है । मनुष्य जो कुछ भी करना चाहे, वह तभी सफल होता है जब ईश्वर भी वही चाहता है । कोंकणी कहावत में देखिए - 'देवान सोडल्यो मारोक कोणाच्यान थाम चोरूक नेल्ला जायना' । जिस व्यक्ति की उपेक्षा ईश्वर ने की है वह दूसरों के द्वारा लाख प्रयत्न करने पर भी ऊँचा नहीं उठाया जा सकता । इसके ठीक विपरीत सभी लोगों के द्वारा सहायता न देते रहने पर भी ईश्वरेच्छा से व्यक्ति सुरक्षित रहता है । संस्कृत में कहा जाता है - 'अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितम्' अनाथों की रक्षा करना ईश्वर का परम ध्येय रहा है । इसीलिए ईश्वर को दीनबंधु कहा करते हैं । इसी ओर संकेत करनेवाली हिन्दी कहावत है -- 'अकेले दुकेले का अल्लाह बेली '। जो अकेला तथा दूसरों से उपेक्षित रहता है एवं दुःखित होता है उसकी रक्षा करनेवाला मात्र ईश्वर होता है । वह किसी भेदभाव के बिना सभी की रक्षा समान समान दृष्टि से करता है । कोंकणी समाज में भी ईश्वर के इस दीनदयाल स्वरूप की बड़ी प्रशंसा भी की गई है -- 'अनाथांक देवूच रक्षा' । (अनाथों की ईश्वर रक्षा करता है) । सभी की रक्षा करनेवाले ईश्वर की शक्ति भी बड़ी है । हिन्दी में यह बात भी व्यक्त की गई है -- 'जिन पांयन पनही नहीं, तिन्हें देत गजराज

जिन देते धोखा मिले, साहब गरीब नेवाज ।।'

ईश्वर की कृपा से ऐसे व्यक्ति को जो, जिसके पैरों में जूते तक नहीं, हाथी मिलता है और विष खिलाये जाने की जगह विवाह होता है । कोंकणी समाज में भी ईश्वर की इसी शक्ति के संबंध में एक कहावत भी मिलती है -- 'देवान व्हडेल्यारि अम्ब्याक पोणसु यावुयात' । (और ईश्वर चाहे तो आम के पेड़ पर पनस भी निकल आएगा) । प्राक् आम के पेड़

जाको राखे साइयाँ मारि न सके कोई ।

What God will ; no forces can kill
Man proposes God disposes

पर नाम ही चलते है , न कि दूसरा कोई चल । किन्तु ईश्वर चाहे तो नाम के पहले खटमल भी आत्मकृत हो सकेगा । कहने का अर्थ यह है कि ईश्वर की चाह के विरुद्ध कुछ भी नही होता है और ईश्वर तो असंभव बातो को भी संभव बना देता है । उपर्युक्त कहावतो मे ईश्वर की उस महान शक्ति का प्रतिपादन हुआ है जिसके कारण मानव समाज मे उसको प्रतिष्ठा मिल गई है ।

ईश्वर का दानी रूप अनेक कहावतो मे मिलता है । जैसे हिन्दी की कहावत है -- 'भगवान जब देते है तो छप्पर फाड़कर देते है'।[1] 'ईश्वर जब चाहता है तो खाक भी सोना हो जाता है'। ईश्वर जब अपने भक्त की सहायता करना चाहता है तो भक्त के घर के छप्पर को फाड़कर धन की वर्षा कर देता है । प्रस्तुत कहावत मे अतिशयोक्ति के द्वारा ईश्वर की उदारता एवं अलौकिक शक्ति का वर्णन हुआ है । जब ईश्वर का भक्त मुसीबतो मे पड़ जाता है और उसकी सहायता करनेवाला कोई नही रहता तो खुद ईश्वर ही उसकी सहायता करने लगता है । वह चाहे तो खाक भी सोना बन जाता है । ईश्वर की उदारता कोंकणी कहावतो मे भी व्यक्त की गई है -- 'देवु दितलयारीयि चहूंकडेन दितला' । (ईश्वर जब देता है तब चारो तरफ से देता है । ईश्वर की कृपा रहने पर मनुष्य के सभी कार्य सफल हो जाते है । प्रस्तुत कहावतो मे ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास करनेवाले आस्तिक समाज का स्वरूप भली भाँति उतर आया है । मनुष्य का एकमात्र रक्षक है ईश्वर और उस ईश्वर के सहायक रहने पर मानव के सभी दुःख तथा पाप मिट जाते है । ईश्वर की कृपा से मनुष्य के लिए कोई भी कार्य असंभव नही रह जाता । ईश्वर की इस महानता को हिन्दी समाज मे यो अभिव्यक्त किया जाता है । 'अल्लाह यार है तो बेड़ा पार है' । जब ईश्वर मनुष्य का सहायक हो तो मानव किसी भी संकट से बच जाता है और अपने जीवन मे किसी भी मुसीबत को झेलने मे समर्थ होता है । कोंकणी समाज मे भी ईश्वरको इतना महान बताया जाता है कि मानव के सभी कार्य ईश्वर की सहायता से ही होते रहते है । कठिन से कठिन कार्य जो मनुष्य के लिए संभव नही रहते उन्हे ईश्वर आसान एवं संभाव्य बना देता है । कोंकणी की निम्नलिखित कहावत मे इस बात का प्रतिपादन हुआ है - 'देवु आसा जल्यारि कोन जाय ?' (जब ईश्वर हमारे साथ है तो मनुष्य के लिए और किसकी आवश्यकता है?)

---

1. When God wills all winds bring rain

अपनी कार्यसिद्धि के लिए मनुष्य ईश्वर पर ही आश्रित रहता है। ईश्वर अपने आश्रितों की रक्षा सदा करता है। वह अपने भक्तों की भलाई ही चाहता है। तभी भक्त अपने को स्वयं भगवान को समर्पित करता है। तभी तो कहा जाता है -- 'अल्लाह हो दीन देवे तो वह भी कबूल है'। ईश्वर जो कुछ देता है उसे दोनों हाथों से लेना है। वह मनुष्य को सुख भी देता है और दुःख भी। मात्र सुख को अपनाकर दुःख से मुँह मोड़ना नहीं चाहिए। इस पर कोंकणी कहावत यों चलती है -- 'देवान दिल्लेलें खावचें '(जो कुछ ईश्वर देता है उसे भोगना चाहिए)। ईश्वर जब प्राणियों की सृष्टि करता है तो उन्हें जीने के लिए आवश्यक वस्तुओं की भी सृष्टि कर देता है। कोई भी प्राणी इस संसार में भूखा नहीं रहता। उसे कोई न कोई खाद्यवस्तु चाहे वह स्वादिष्ट हो या न हो मिलती ही रहती है। तभी तो कोंकणी में कहावत यों चलती है -- 'जन्मु दिल्लोलो देवु तन खावपाक दिवचो ?' (जिसने जन्म दिया है क्या वह खाना खिलायेगा ?)। इसी बात की ओर संकेत करनेवाली हिन्दी कहावत है -- 'जिसने चोंच वही भरेगा '। लोगों का यह विश्वास है कि यदि ईश्वर पर भरोसा रखकर कोई कार्य करे तो उसका फल जरूर मिलेगा।

ईश्वरसंबन्धी इन हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों समाजों में ईश्वर को सर्वश्रेष्ठ शक्ति से परे एक अलौकिक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठा दी गई है। दोनों भाषाओं के लोग ईश्वर पर अटल विश्वास रखते हैं और ईश्वरसंबन्धी धारणा दोनों की कहावतों में एक हद तक समान रूप से मिल जाती है।

ईश्वर की प्रतिष्ठा

ईश्वर की अलौकिक शक्ति माननेवाले लोगों ने उस शक्ति को साधारण जनता के लिए गोचर बनाने तथा जनता के बीच विश्वास उत्पन्न करने के लिए ईश्वर को मूर्त रूप दिया है। उन्होंने ईश्वर के कई रूप और अवतार भी माने हैं। ईश्वर को साकार रूप देने के साथ समाज में मूर्तिपूजा की परंपरा प्रारंभ हुई और आज भी वह पूर्ववत् चली आ रही है। हिन्दी और कोंकणी समाजों में भी ईश्वर को मूर्त रूप में ही स्वीकारा जाता है और ईश्वर की मूर्तियों की मन्दिर में पूजा की जाती है। मन्दिरों में ईश्वर के विभिन्न रूपों या अवतारों की मूर्तियाँ भी होती हैं जिनका अपना अपना निजी महत्व है। अवतार के साथ ईश्वर के कई नाम भी होते हैं जैसे विष्णु, कृष्ण, राम आदि। शिव विष्णु और ब्रह्मा सबसे प्रमुख हैं। इनको त्रिमूर्ति कहा जाता है। कोंकणी की 'कंसाक काळु गोकुळांतु वाडु '(कंस के लिए कालरूपी बालक गोकुल में है) वाली कहावत उपरिकथित भगवान के अवतार की ओर ही संकेत करती है।

यहाँ कृष्णावतार की ओर संकेत है जो कंसवध के लिए हुआ था । प्रस्तुत कहावत में परोक्ष रूप से भगवान के दुष्टविनाशक और शिष्टरक्षक रूप की ओर संकेत मिलता है ।

मूर्तिपूजा में विश्वास करनेवाले पाषाण की मूर्ति में भी ईश्वर की प्रतिष्ठा करते हैं । लेकिन कई लोग ऐसे भी हैं जो उस मूर्ति को मात्र पत्थर मानते हैं और ईश्वर को अदृश्य और अकल्पनीय मानते हैं । ऐसे लोगों का कहना है - 'मानो तो देव नहीं तो पत्थर' । जो लोग कहीं भी देवत्व देखते हैं उनके लिए पत्थर भी देवता है और जो प्राकृतिक वस्तुओं में देवत्व महसूस नहीं करते वे ईश्वर की मूर्तियों को मात्र पत्थर ही पत्थर मानते हैं । इससे लगता है कि ईश्वरोपासना प्रत्येक व्यक्ति के मन की रुचि के अनुसार होती है । ईश्वर की साकार या निराकार रूप से उपासना करने का लक्ष्य तो एक ही होता है और वह है परम पद ।

ईश्वर भक्ति

मनुष्य के सभी कार्यों के पीछे ईश्वर की प्रेरणा अवश्य रहती है । इस अदृश्य शक्ति के प्रति मनुष्य के मन में एक प्रकार का विशेष पूज्यभाव रहता है जो भक्ति के नाम से अभिहित किया जाता है । अपने मन की भावना को भक्ति के रूप में प्रकट करने के लिए मानव कई तरीके अपनाता है । यह भक्तिभाव प्रायः ईश्वर का नाम जपकर, भजन कीर्तन आदि कर तथा मन्दिरों में पूजापाठ मनौतियाँ आदि के द्वारा तथा कई व्रतों के अनुष्ठान के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है ।

भक्ति तथा आध्यात्मिकता से संबन्धित कई मान्यताएँ समाज में प्रचलित रहती हैं । हिन्दी और तेलुगु कहावतों में भी इस भक्ति को जीवन में विशेष स्थान दिया गया है । ईश्वरोपासना से ही मनुष्य सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है । इसीलिए उसे जीवन में सदा ईश्वर का स्मरण करते रहना चाहिए । इस तथ्य को स्पष्ट करनेवाली हिन्दी की उक्ति है -

हर को भजे सो हर का होय
जात पाँत पूछे नहिं कोय ।।

जो ईश्वर का स्मरण करता है वही उसे प्रिय होता है । ईश्वर में अपने को डुबो देनेवाला व्यक्ति कभी भी दूसरों की बुराई नहीं करता । इसी कारण वह दूसरों के लिए भी प्रिय होता है । यहाँ पर जातिभेद की सीमाओं से पार भक्ति की महत्ता चित्रित है और इस ओर भी संकेत है कि भगवान शरण में आनेवालों की रक्षा करते हैं ।

वैसे ही ईश्वर के नाम पर दान-धर्म करनेवाले की भी समाज में प्रतिष्ठा होती है। इस बात की ओर संकेत करनेवाली हिन्दी कहावत है - 'तुलसी कमाई वह नर पावे जो धन दाता नाम लुटावे'। जो ईश्वर के नाम पर धर्म करता है उसे तुरन्त ही यश मिलता है। ईश्वर के नाम पर दानादि देने पर लोग दानकर्ता को बड़ा ही भक्त मानते हैं और इसीलिए उसकी कीर्ति जल्दी ही सब कहीं फैल जाती है। हिन्दी की और एक उक्ति है -

तन को करते तम्बूरा और मन के करते तार
फिर जप ना हरिनाम के जो सुख मिले करतार ।।

यहाँ पर हरिनामकीर्तन की महत्ता व्यक्त की गई है। शरीर रूपी इकतारे में मनरूपी तार लगाकर ईश्वर का गुणगान करें तो भगवान हमें शीघ्र ही मिलेंगे। मन लगाकर ईश्वरोपासना करने पर मनुष्य को मोक्ष प्राप्त हो जाता है। मानवजीवन का एकमात्र लक्ष्य तो मुक्ति है और उस मुक्ति को प्राप्त करने का सफल साधन है भक्ति। भगवद्भजन से सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं। हिन्दी की निम्नलिखित कहावत में उपर्युक्त बात का प्रतिफलन हुआ है - 'धीरे चलत चलत मन जाई तू हरि से लगा रहु भाई'। तू भगवान का भजन करता रह तो धीरे धीरे तेरा काम बनेगा। कहने का मतलब है कि ईश्वर की भक्ति करने पर हमारे सभी कार्य आसानी से सिद्ध हो जाते हैं। इसीसे मनुष्य परम पद भी प्राप्त कर सकेगा।

ईश्वर की भक्ति इतनी शक्तिवाली मानी जाती है कि मनुष्य को नीरोगी बना देने में भी वह सफल सिद्ध हो जाती है। माना जाता है कि हजार दवाओं से भी वह बेहतर है। समाज में लोग यही विश्वास करते हैं और उनका विश्वास कहावत के रूप में यों प्रतिफलित हुआ है - 'हजार दवा और एक दुआ'। हजार दवाओं से उतना लाभ नहीं होता जितना ईश्वर की दुआ से। अर्थात् मन लगाकर ईश्वर की प्रार्थना करने तथा उसके लिए मनौतियाँ करने पर अनेक दवाओं के प्रयोग से भी ठीक न होनेवाला बीमार व्यक्ति शीघ्र ही चंगा हो जाता है।

ऊपर उद्धृत इन कहावतों में भक्ति की महिमा तथा जीवन में उसकी आवश्यकता के संबन्ध में विचार अंकित है। लेकिन सच्ची भक्ति के बिना ईश्वर से साक्षात्कार पाना असंभव है। क्योंकि भक्ति तो अन्तःकरण की शुद्धता पर निर्भर रहती है। अतः कहा जाता है -

पंडित भए तो क्या भए भले लपेटे सूत
भाव भगत जाने नहीं भए जगत के भूत

ब्राह्मणों के गले में जनेऊ का होना आवश्यक है । लेकिन मात्र जनेऊ पहनने से कोई ब्राह्मण कहलाने योग्य नहीं है । उसमें तो ब्राह्मण जाति की अन्य योग्यताएँ भी होनी चाहिए , जैसे विद्वत्ता, वेदों का ज्ञान , ईश्वर विश्वास आदि । वैसे ही सच्ची भक्ति के अभाव में कोई भी भक्त नहीं कहलाएगा । मात्र बाह्य वेशभूषा से कोई भक्त नहीं होता । कोंकणी समाज में भक्ति की महत्ता निम्नलिखित कहावत में प्रतिफलित है - 'बोड कातरल्यारि सन्यासि जायना बाविन गोपीचंद्रु पुसिल्यारि यति जायना ' (मुण्डन करने से और माथे पर भस्म लगाने से कोई सन्यासी या योगी नहीं बन सकता) सच्चे योगी में भगवान की सच्ची भक्ति रहनी चाहिए । उसे भगवान में लीन रहना चाहिए । अन्यथा भक्ति तो बहाना बन जाती है । सामान्यतः लोग तभी आध्यात्म की ओर मुड़ जाते हैं जब उन पर कोई मुसीबत आती है । वे जीवन की विपत्तियों से डरते हैं । ऐसे लोग विपत्तियों को पार करने तक थोड़े समय के लिए भगवान का स्मरण करके अपने को बड़े भक्त मानते हैं । ऐसे लोगों के संबन्ध में समाज में चुटकीले व्यंग्य प्रस्तुत है - 'विपत्ति पड़ी तब आयो भेंट '।[1] जब कोई विपत्ति का सामना करता है तब ईश्वर का स्मरण कर मनौतियाँ करता है । वैसे ही कोंकणी में भी इसी तथ्य को प्रस्तुत करनेवाली कहावत है - 'कष्टकालारि देवाली उड्गासु जाता ' । (दुःख के समय ही भगवान की याद आती है ।) यथार्थ भक्त वही होता है जो दुःख तथा सुख दोनों को सहर्ष स्वीकार करते हुए ईश्वर का स्मरण करता है । उसे जीवन में दुःखी होने की आवश्यकता नहीं पड़ती ।[2]

कहावतें समाज में दिखाई पड़नेवाले उन ढोंगी व्यक्तियों पर भी व्यंग्य करती हैं जो सदा अपने मुँह से ईश्वर का नाम जपते ही रहते हैं और मन में धोखेबाज़ी की भावना रखते हैं । वे लोग बाह्य रूप से भक्त होते हैं और आन्तरिक रूप से दूसरों को निचोड़ने की धुन में रहते हैं । हिन्दी तथा कोंकणी समाजों में ऐसे ढोंगी भक्तों के संबन्ध में कई कहावतें

---

1. पाती कवनु वरे नारायणा , पातन कल्लाल दूरायणा (मलयालम)
2. दुःख में सब सुमिरन करे सुख में करे न कोई
   जो सुख में सुमिरन करे तो काहे दुःख होई । (कबीर दास)

मिलती है। हिन्दी की एक कहावत देखिए - 'राम नाम जपना पराया माल अपना'।[1] रामनाम जपते हुए कई ढोंगी भक्त दूसरों को धोखा देकर उनका माल अपना लेते हैं। भक्ति के माध्यम से निरीह जनता का शोषण ही उनका लक्ष्य रहता है। सदा मुँह से ईश्वरनाम जपनेवाली पर साधारण जनता तो अंधे होकर विश्वास करती है। लेकिन वह यह नहीं जानती कि अपनी झूठी भक्ति के नाम पर ये भक्त अपने को लूट रहे हैं। इस तथ्य की ओर संकेत करनेवाली हिन्दी कहावत यों चलती है - 'अन्दर धूल नहीं बाहर बराबर' और 'मुँह में राम बगल में छुरी'। तेलुगु की निम्नलिखित कहावत में भी इसी तथ्य का प्रतिफलन हुआ है - 'तेन्डान्नु मरो पोट्टान्नु बोल्स बोल्ले'। (मुँह में मीठी बोली और पेट में विष) मुँह से ईश्वर की महिमा का गायन मधुर स्वर में करके लोगों को अपनी ओर आकर्षित करनेवाले ढोंगी भक्त तो धोखेबाजों का ही काम करते हैं।

ऊपर की कहावतों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविक भक्ति में मन लगाकर अपने को समर्पित करनेवाले सच्चे भक्त बहुत ही कम मिलते हैं। अधिकांश लोग मात्र अपने पेट के लिए ही सन्यास को स्वीकार करते हुए वैरागी बन जाते हैं।[2] लेकिन ऐसी झूठी भक्ति से मुक्ति पाना असंभव है। अपने जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष तक पहुँचने के लिए मनुष्य को सद्व्यवहार तथा यथार्थ भक्ति की जरूरत है। प्रथमतः उसका मन पवित्र होना चाहिए। पूजापाठ तथा अनुष्ठानों में हम कितना ही आडंबर क्यों न दिखावें, यदि मन शुद्ध नहीं है तो हमारी भक्ति झूठी होती है। ईश्वर की पूजा के लिए हमारे पास कुछ भी न रहे तो भी भक्ति में निर्मलता तथा अटल विश्वास होना चाहिए। 'मन चंगा तो कठौती में गंगा'। प्रस्तुत हिन्दी कहावत में इसी तथ्य का प्रतिफलन हुआ है। यदि मन शुद्ध हो तो कठौती में रखा हुआ जल भी गंगाजल के समान शुद्ध होता है। कठौती के पानी में तो चमड़े रखे जाते हैं और वह पानी मलिन रहता है। लेकिन मन में सच्ची भक्ति हो तो गंगा में जाकर स्नान करने की आवश्यकता नहीं। कहने का यही अर्थ है कि सच्ची भक्ति तभी होती है जब मन पवित्र होता है और यथार्थ भक्त वही होता है जो दूसरों की सेवा करके ईश्वर का स्मरण करता है। क्योंकि दूसरों के लिए की गई सेवा ही ईश्वर की सेवा है।

---

1. पडिक्किरदु रामायणम् इडिक्किरदु पेरुमाळ् कोयिल् (तमिल)
2. उदरनिमित्तं बहुकृतवेषम्।

व्रत अनुष्ठान तथा त्योहार

ईश्वर के प्रति जो भक्तिभावना मनुष्य के मन में रहती है उसे वह पूजापाठ तथा व्रत अनुष्ठानों से प्रकट किया करता है । शास्त्रोचित कर्म करना या किसी फल के निमित्त किसी देवता की आराधना करना ही अनुष्ठान होता है । व्रत और त्योहार भी भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण अंग रहे हैं । हिन्दू समाज में प्रतिपक्ष या प्रतिमास कोई न कोई छोटे बड़े व्रत आते हैं और उनका नियमानुसार अनुष्ठान भी किया जाता है । व्रतों के दिन उपवास भी किया जाता है और ये व्रत और उपवास मनुष्य के लिए संतुष्टि तथा अभिमत ऐश्वर्य प्रदान करते हैं ।

व्रत की महिमा बताते हुए अंगिरा ने कहा है कि जैसे धर्म से बढ़कर कोई उत्कृष्ट तत्व नहीं है वैसे ही उपवास से बढ़कर कोई तपस्या नहीं है ।[1] प्रत्येक महीने के व्रत एवं उपवास के अनुष्ठानों से जो फल मिलता है उसका भी उल्लेख महाभारत में कई जगह हुआ है, जिससे भारतीय समाज में व्याप्त धार्मिक भावनाओं का पता लगाया जा सकता है । एकादशी, चतुर्थी जैसी तिथियों के दिन उपवास करके उनका व्रत के रूप में आचरण किया जाता है । वैसे ही जन्माष्टमी, रामनवमी, अनन्तचतुर्दशी, शिवरात्रि आदि व्रत पर्व के रूप में मनाये जाते हैं । इनके अतिरिक्त और भी कई दूसरे व्रत होते हैं जो उपवास की तरह तपोमय भावनाओं से पूर्ण होते हैं । तप के समान व्रत में भी मानसिक संकल्प और त्याग की प्रधानता रहती है ।

हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में भी व्रत-त्योहारों को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है । इनमें प्रचलित कहावतें इसके प्रमाण प्रस्तुत करते हैं । एकादशी के दिन कोंकणी समाज में लोग उपवास किया करते हैं । उस दिन वे खाना की उपेक्षा करते हैं और फलाहार ही खाते हैं । स्पष्ट है कि एकादशी का दिन भोजन की दृष्टि से उतना रुचिकर नहीं है । वहाँ पर व्रत का ही महत्व है । इसीलिए कभी कभी एकादशी भोजनहीन दिन का पर्याय ही बन गई है । ' खल्यारि अष्टमि ना जल्यारि एकादशि ' (यदि खाना है तो जन्माष्टमी के समान खुशी से दिन बिताया जाता है नहीं तो एकादशी के दिन की भांति उपवास करके बैठे रहना पड़ता है ।) प्रस्तुत कहावत में एकादशी एवं अष्टमी के दिन फिर आनेवाले व्रतों की ओर संकेत

---

1. महाभारत - अनुशासन पर्व - अ. 206 श्लो. 42-44

मिलता है। दूसरे शब्दों में भी कहिए कि एकादशी और जन्माष्टमी जैसे व्रत-पर्वों का उल्लेख यहाँ हुआ है। भगवान श्रीकृष्ण के जन्मदिन को त्योहार के रूप में ही जन्माष्टमी का दिन मनाया जाता है। उस दिन बड़ी खुशी के साथ कई तरह के मीठे पकवान बनाये जाते हैं और रात्रि के समय ये पकवान श्रीकृष्ण के लिए नैवेद्य के रूप में अर्पित किये जाते हैं। लेकिन एकादशी के दिन प्रायः सारा दिन ही उपवास के अनुष्ठान में बीत जाता है। लोगों का यह विश्वास रहता है कि एकादशी के व्रत का पालन करने से वैकुण्ठ की प्राप्ति होती है। यह कहावत हिन्दू समाज में प्रचलित धार्मिक विश्वास की ओर भी संकेत करती है। इस कहावत का आर्थिक पक्ष और है। सामाजिक दृष्टि से देखने पर यह कहावत साधारण जनता की आर्थिक स्थिति की ओर भी संकेत करती है। जब आम जनता को कभी धन मिलता है तो वह खुशी के साथ खर्च कर देती है। वह यह नहीं सोचती कि आगे उसे पीछे भी कुछ न कुछ खाना है। जब सब धन खतम हो जाता है तो वे एकादशी के दिन के समान उपवास करने लगते हैं। हिन्दी में भी ऐसी ही कहावत प्रचलित है - 'आ गई तो ईद बारात न आई तो जुम्मे रात'। वैसे ही अष्टमी के पहले कोंकणी समाज में विभिन्न पर्व मनाये जाते हैं जिसे कोंकणी में 'पत्य' कहते हैं। उस दिन भिन्न भिन्न प्रकार के मधुर पकवान बनाये जाते हैं। इस त्योहार की ओर संकेत देनेवाली कहावत है - 'पत्येरि पोळि शिम्गारि होळि'। (पत्य त्योहार के दिन सात प्रकार के मीठे पकवान बनाये जाते हैं और शिमगे के दिन होली मनाई जाती है।) इसके अतिरिक्त कोंकणी समाज में और भी कई पर्व मनाये जाते हैं। दीपावली के आने तक पर्वों की भरमार है। दीपावली के साथ पर्वों का क्रम समाप्त हो जाता है। कहावत भी चलती है - 'दिवाळि दोवळि परबो निवळि'। (दीपावली के साथ पर्व खतम हो गए।)

एकादशी की तरह महीने की पूर्णिमा के बाद चौथे दिन चतुर्थी का व्रत होता है। इस दिन गणेश पूजा का विधान है और सुबह से उपवास लगाकर रात को पूजा-पाठ के बाद ही भोजन किया जाता है। यह दिन हिन्दी तथा कोंकणी दोनों समाजों के लिए समान रूप से विशेष महत्व का है। लेकिन आश्विन महीने में अमावस्या के चौथे दिन को गणेश चतुर्थी के नाम से अभिहित किया जाता है। यह दिन दूसरे चतुर्थी के दिनों की अपेक्षा अधिक उत्साह से एक पर्व के रूप में मनाया जाता है। इस पर्व का उल्लेख निम्नलिखित कहावत में भी मिलता है। 'गणपति कोरूक वोच्नु मांकड केलें' (गणेश की मूर्ति बनाने चला, लेकिन बन गया बन्दर) गणेश चतुर्थी के दिन मिट्टी से गणेश की मूर्ति बनाई जाता है और उस मूर्ति की पूजा करने

उसी रात उसका विसर्जन किया जाता है ।

व्रत-त्योहारों में दीपावली विशेष उल्लेखनीय है । सिन्धी समाज में दीवाली के दिन से ही नए वर्ष का आरंभ माना जाता है । यह दिन एक शुभ दिन माना जाता है और इसी दिन के शुभ अशुभ के आधार पर ही पूरे एक वर्ष के फल का अनुमान लगाया जाता है । इसीलिए कहा करते हैं - 'दीपाली जेत साल बर जेत' । दीपाली के दिन किसी कार्य में सफलता मिल जाय तो साल भर सफलता मिलती रहेगी । दीपाली के दिन कई लोग खान पान के बाद जुआ खेलकर समय काटते हैं । उन लोगों का विश्वास है कि दीपाली के दिन खेले हुए जुए में जीतना शुभ शकुन का लक्षण है, क्योंकि वह साल भर के लिए बना रहता है । इसी प्रकार यह भी विश्वास समाज में चलता रहा है कि दीपाली का दिन जड़ी बूटियों पर भी अपना प्रभाव डालता है । इस ओर इंगित करनेवाली सिन्धी कहावत है - 'दीपाली जी रात जो बूटी बूटी पुकारतो है ।' दीपाली के दिन खोदकर लाई गई जड़ी बूटी औषधीय गुण अधिक दिखाती है । उस दिन उसमें विशेष गुण रहता है जिससे उसके प्रयोग में भी जल्दी ही सफलता मिलती है । इसीलिए दीपाली के दिन लोग जड़ी बूटी खोदकर लाते हैं । दीपाली की और एक विशेषता का उल्लेख निम्नलिखित सिन्धी कहावत में भी हुआ है - 'दीपाली जी कुल्हियां' । दीपाली के दिन रंग बिरंगे कुल्हड़ और मिट्टी के अन्य बरतन बनाये जाते हैं । ये भी देखने में बहुत सुन्दर तथा आकर्षक लगते हैं । लेकिन दीपाली के बाद ये किसी काम के नहीं होते । इन बरतनों का महत्व मात्र दीपाली के दिन में ही रहता है । प्रस्तुत कहावत में दीपाली के त्योहार की ओर इंगित अवश्य मिलता है तथापि इसमें यह तथ्य भी छिपा पड़ा है कि कई वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो देखने में बहुत सुन्दर होती हैं लेकिन वे किसी काम के लायक नहीं होतीं ।

आषाढ़ से कार्तिक महीने तक का समय बरसात का समय होता है । बरसात के इन दिनों में ही अधिकांश त्योहार आते हैं । इस तथ्य को सिन्धी की निम्नलिखित कहावत में भी व्यक्त किया गया है । 'बरसात में कड़ाही घर घर' । बरसात में त्योहार बहुत होते हैं और इसलिए घर घर अनेक प्रकार के पकवान बनाये जाते हैं । इससे यह बात भी व्यक्त होती है कि त्योहारों के दिन तरह तरह के पकवान बनाने की प्रथा समाज में परंपरागत रूप से चली आती है । प्रत्येक घर में पकवान बनाने के अतिरिक्त एक दूसरे के घर भेजे

पकवान चटनी ही त्योहारों की विशेषता है ।

कोंकणी समाज में भाद्र महीने की अमावस्या के बाद के पंचमी के दिन नागों की पूजा की जाती है । इसे नागपंचमी कहा जाता है । यह दिन भी एक छोटे से त्योहार के रूप में मनाया जाता है । उसकी अपनी अलग विशेषता है । कोंकणी कहावत - 'गरुडाले गांवांतु नागपंचमि ' (गरुड़ के गांव में नागपंचमी) में इस की ओर उल्लेख मिलता है । प्रस्तुत कहावत में धार्मिक पक्ष की ओर बहुत कम संकेत है फिर भी असंभव कार्य को सूचित करने के लिए प्रयुक्त यह कहावत नागपंचमी के त्योहार की ओर संकेत करती है ।

इस प्रकार देखें तो हिन्दी तथा कोंकणी दोनों समाजों में व्रत-त्योहारों का खास महत्व रहा है । दोनों समाजों में कोई न कोई व्रत और त्योहार होते ही रहते हैं । उनमें हर महीने दो चार व्रत या त्योहार अवश्य होते हैं । अतः यह कहावत प्रयुक्त होती है - 'सात वार नौ त्योहार ' । दोनों समाजों के व्रत त्योहारों का परंपरागत रूप है यानी शास्त्रविहित रूप में ही अनुष्ठान किया जाता है । इनके व्रत-त्योहारसंबन्धी कहावतों के सम्यक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि दोनों समाजों का धार्मिक अनुष्ठानों से अटूट संबन्ध रहा है और इन समाजों में जीवन में धर्म को ही पहला स्थान दिया जाता है ।

तीर्थों का महत्व

भक्ति की अभिव्यक्ति के सिलसिले में तीर्थों का भी महत्व है । वेदकाल से लेकर मानव जीवन में तीर्थों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है क्योंकि ये तीर्थस्थान देवता और उनके अवतारों से किसी न किसी प्रकार संबन्धित रहे हैं । तीर्थों का अधिकांशतः नदियों से संबन्ध रहा है । इसकी पुष्टि के अर्थ सामाजिक जीवन में तीर्थों में जाकर पूजा करने का विधान रहा है । समाज में उन लोगों के लिए भी तीर्थाटन का विधान है जिन्होंने अपने लौकिक सुखों का त्याग किया है ।[1] यह हिन्दू पूजा-विधि का ही एक अंग है । तीर्थाटन मनुष्य के धार्मिक आचरणों में एक है ।[2] तीर्थों में नदियाँ और उनसे संबन्धित स्थान ही प्रमुख माने जाते हैं ।

1. " --- the next form of Hindu worship is visiting shrines, making lengthy journey to walk round temples, bow before images, and making offerings to the deities represented there. Pilgrimage is the special work of those who has given themselves up to life of religion.
--Modern Hinduism -

2. विष्णुधर्मसूत्र - अ. 24 श्लो 16-17

तीर्थों पर विचार करते हुए गौतम ने लिखा है कि सभी पर्वत, सभी नदियाँ, भगवान के मन्दिर, ऋषियों के आश्रम आदि तीर्थस्थानों की गणना में आते हैं और ये स्थान ही मनुष्य के पापों को धोनेवाले हैं।[1] सागर, नदीतट, पर्वतशिखर जैसे प्राकृतिक स्थानों पर स्थित तीर्थ व्यक्तिगत धार्मिक जीवन में सुन्दरता उत्पन्न करते हैं। तीर्थ दूर तथा निकट भी होते हैं और उन तीर्थों की यात्रा सुगम तथा कठिन भी होती है। लेकिन इन तीर्थों की यात्रा से मानव के धार्मिक जीवन में गुणों का आदान प्रदान होता रहता है और समय समय पर तीर्थों की यात्रा जीवन की एकरूपता में पर्वों के समान सौन्दर्य का संचार करती है।[2]

कहने का अर्थ यह है कि हिन्दू धर्म-परंपरा में तीर्थों का बहुत बड़ा महत्व है। तीर्थों की यात्रा धार्मिक उपासना और आराधना का अनिवार्य अंग भी है। इससे धार्मिक पुण्य की उपलब्धि के साथ ही लौकिक आनन्द की प्राप्ति भी होती है। तीर्थों को मुख्यतः देवतीर्थ, असुरतीर्थ, आर्षतीर्थ और मानुषतीर्थ आदि रूपों में भारत की ऐतिहासिक नदियों का उल्लेख मिलता है।

भारतीय धर्मपरंपरा का अनुवर्तन करनेवाले हिन्दी तथा कोंकणी समाज में भी तीर्थाटन को बड़ा महत्व दिया जाता है। प्रायः तीर्थों में जाकर सिर का मुंडन किया जाता है। गंगा, तिरुपति जैसे तीर्थस्थानों में जाकर लोग सिर मुड़ाए बिना नहीं लौटते। इस ओर संकेत करनेवाली हिन्दी की कहावतें हैं - 'गंगा गए मुड़ाए सिद्धक, कौरव गए मुड़ाए सिद्ध' आदि। हिन्दुओं का यह विश्वास रहा है कि गंगा या तिरुपति जैसे किसी तीर्थस्थान में जाने पर सिर मुड़ाना अनिवार्य है। कोंकणी की 'रामेश्वरातु वोचूनु बोड करप' (रामेश्वर जाकर सिर मुड़ाना) कहावत में भी इसी ओर संकेत मिलता है।

तीर्थाटन का सबसे बड़ा प्रयोजन तो मुक्ति की प्राप्ति है और जिससे भी पाप तीर्थों में नहाने से दूर हो जाते हैं। समाज में कभी कभी लोगों की इस महिमा पर कट्टर विश्वास रखनेवालों की हँसी उड़ाई जाती है। इस ओर संकेत करनेवाली उक्ति है - '

---

1. गौतम धर्मसूत्र

2. महाभारत में धर्म - डा. शकुन्तला शर्मा पृ 464

गंगा नहाए मुक्त होय, तो मेढक मछरियाँ ।

मूड मुड़ाये सिद्ध होय, तो भेड़ भड़ियाँ ।।

यहाँ पर तीर्थों की महिमा पर किसी प्रकार की चोट नहीं लगाई गई है पर ढोंगी तीर्थाटकों की खूब खबर ली गई है। यह तो माना जाता है कि गंगा जैसे तीर्थों में नहाने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। लेकिन वह बाह्याचरण तक सीमित नहीं है। इसका आन्तरिक प्राधान्य भी है। तीर्थाटन को केवल बाह्याचरण माननेवालों की हँसी उड़ाते हुए कहते हैं कि यदि गंगा नहाने से मुक्ति मिलती है तो मेंढक और मछलियाँ भी मुक्ति पा सकते हैं, क्योंकि वे हमेशा से गंगा में ही रहते हैं। वैसे ही सिर मुड़ाने से कोई सिद्ध बन सकता है तो भेड़, मेमने आदि भी सिद्धि लाभ कर सकते हैं। क्योंकि उनकी भी मुड़ाई होती है। कहने का अर्थ है कि बाह्य आचरणों से कोई भी सच्चा सिद्ध नहीं होता।

हिन्दू समाज में यह भी विश्वास प्रचलित है कि काशी में जाकर मरने से मुक्ति मिलती है। हिन्दी और कोंकणी समाज के लोग काशी में जाकर अपने जीवन का अन्तिम समय भगवद्भक्ति में लीन होकर बिताना बहुत ही पुण्यकर्म मानते हैं। अपने लौकिक जीवन के सारे धर्मों के यथाविधि पालन करने के बाद सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पाने के लिए वे काशी जाया करते हैं। एक बार काशी जाते हैं तो फिर नहीं लौटते। कोंकणी समाज में प्रचलित एक कहावत में काशी तीर्थ का उल्लेख यों मिलता है - 'काशी मेल्यारि काशा एक फेरी'। प्रस्तुत कहावत में काशीयात्रा की ओर संकेत मिलता है।

तीर्थाटन का प्रमुख उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है। लोगों में यह विश्वास प्रचलित है कि तीर्थयात्रा तथा तीर्थों के दर्शन से मनुष्य के सभी पाप छूट जाते हैं। इससे उसका शरीर तथा मन भी पवित्र हो जाता है। अतः कहा जाता है -

पग पवित्र तीरथ गवन, कर पवित्र कछु दान ।

मुख पवित्र जब होत है, मुख ते कहि भगवान ।।

दान करने से हाथ पवित्र होते हैं, ईश्वरभजन से मुँह पवित्र होता है, उसी प्रकार तीर्थाटन से पग भी पवित्र होते हैं। प्रायः तीर्थस्थानों की यात्रा पैदल ही होती है और तीर्थस्थान के दर्शन मात्र से मार्ग में अनुभूत पीड़ा एवं थकावट दूर हो जाती है। पैरों के पवित्र होने के साथ ही मनुष्य का मन भी पवित्र हो जाता है। लोगों के बीच ऐसा विश्वास प्रचलित है।

लेकिन सत्कर्म पर बल देनेवाला कोंकणी समाज तीर्थों के महत्व को मानते हुए भी कर्मविधान पर बल देता है । जब कोई व्यक्ति कोई बुरा कर्म करता है तो उसका फल अवश्य ही भोगना है । कर्मफल को कोई भी नहीं मिटा सकता । उसे किसी न किसी तरह भोगना ही है । तीर्थों में जाकर धर्मानुष्ठान तो किया जा सकता है । लेकिन कर्मफल से छूट पाना उतना आसान नहीं है । कोंकणी की कहावत है - 'रामेश्वराकु गेलतरी शनीश्वर सोडना' । (रामेश्वर में जाने पर भी शनीश्वर नहीं छोड़ता है) ।

समाज में व्यक्ति की उन्नति के लिए सत्कर्म पर बल दिया गया है । किसी की बुराई के बारे में सोचना तक पापकर्म माना जाता है । मन हमेशा पवित्र रखना चाहिए क्योंकि पवित्र मन में ही भगवान का वास रहता है । जिस मन में निरन्तर भगवान का वास है वह अपने में ही तीर्थ बन जाता है । बाह्याचरण से दूर मनोतीर्थ का सबसे बड़ा महत्व है । कोंकणी कहावत भी कहती है - 'सर्व तीर्थांतु थोर्थ थोड तें मनोतीर्थ' (मनशुद्धि तीर्थ सभी तीर्थों से बढ़कर है ।) लाख बार तीर्थाटन करने पर भी यदि मन पवित्र नहीं है तो तीर्थाटन से कोई लाभ नहीं है । हिन्दी कहावत - 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' भी मनोतीर्थ के महत्व की ओर संकेत करती है ।

दान का महत्व

धर्म के विभिन्न अंगों में दान का अपना अलग महत्व है । ईश्वरीय उपासना से संबन्धित बातों में भी दान का महत्वपूर्ण स्थान है ।। वेदकाल में देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ संपन्न किए जाते थे । और लोग दान यज्ञ अपने दैनिक जीवन के अविच्छेद्य अंग के रूप में किया करते थे । राजाओं की कार्यसिद्धि के लिए ब्राह्मणों को बुलाकर यज्ञ किए जाते थे और यज्ञ की समाप्ति पर ब्राह्मणों को दान भी दिया जाता था । भारतीय समाज में दान को विशेष महत्व दिया जाता है क्योंकि माना जाता है कि दान देने से मनुष्य का मन शुद्ध होता है और इससे उसे स्वर्ग की प्राप्ति भी हो जाती है ।

दान जिस पात्र को दिया जाता है उसके गुणानुसार दाता को पुण्य मिल जाता है । दान देते समय पात्रों की योग्यता पर अवश्य ही विचार किया जाता है । सत्पुरुषों को दिए गए दान ही पुण्य कमाते हैं और दाता के परलोक-जीवन में साथ देते हैं । जबकि असत्पुरुषों के लिए दिये गये दान व्यक्ति को पापी तक बनाते हैं । हिन्दी और कोंकणी समाजों में भी

दान दिया जाता है । यहाँ पर दान लेनेवाले की पात्रता पर भी ध्यान दिया जाता है । सर्वश्रेष्ठ तथा साधुपुरुषों को दिया गया दान ही परलोक में भी आत्मा का साथ देता है । अतः हिन्दी समाज में एक कहावत भी चल पड़ी है - 'हाथ का दिया साथ चलेगा ' । जो दान एवं पुण्यकर्म किए जाते हैं वे परलोक में भी काम आते हैं । दान करना तो सत्कर्म है और 'कर्मानुगो गच्छति जीव एक ' में विश्वास करनेवाले हिन्दी तथा कोंकणी समाज में दान-कर्म पर जोर दिया जाता है । यहाँ 'पात्रे दानं ' सबसे महत्वपूर्ण है । थोड़ा भी दान करने पर उसका फल तो अवश्य मिलता है । दाता जब विपत्ति में पड़ जाता है तब किसी न किसी की सहायता से उस विपत्ति से उसका गला छूट जाता है । इस ओर संकेत करनेवाली हिन्दी की एक कहावत है - 'दिया है तो देख ले' । अगर दान दिया है तो उसका फल मिलेगा । दीपक का प्रकाश सारे जगत् में फैलता है । लेकिन दान का प्रकाश इस जगत् से परे स्वर्ग तक फैल जाता है । दान देनेवाले की प्रशंसा कहीं एक जगह पर नहीं होती, अपितु इहलोक और परलोक में भी वह फैल जाती है । इस तथ्य को हिन्दी समाज में कहावत के रूप में भी व्यक्त किया है - 'दिए की रोशनी महशर तक'। दान करने से किसी की संपत्ति घटती नहीं है । जितना ही कोई दान देता है बदले में उतना ही उसे ईश्वर देता रहता है । ईर्ष्यारहित जो दान दिया जाता है वही धर्ममूलक दान होता है और इस प्रकार का दान करनेवाले के पास कभी दान देने के लिए चीजों की कमी नहीं होती । इस संबन्ध में एक उक्ति भी मिलती है -

दाता के घर लक्ष्मी, ठाढ़ी रहत हजूर
जैसे मारा राम को, भर भर देत मजूर ।।

दानशील के घर में लक्ष्मी या संपत्ति सदा उपस्थित रहती है । वह जितना दान करता है ईश्वर उसे उतना ही देता है । कारीगर मकान बनाने के लिए प्रयुक्त चूना और पानी का मिश्रण जितना गाढ़ा कर देता है, उसके काम के अनुसार उसे उतनी मजूरी भी मिलती है । उसी प्रकार मन लगाकर या स्वार्थरहित अपनी कीर्ति की इच्छा न करते हुए जो दान करता है ईश्वर उसे उतना ही देता है ।

दान देते वक्त इस ओर भी ध्यान दिया जाता है कि पात्रोचित दान ही व्यक्तिवृद्धि में सहायक होता है । दान उस ब्राह्मण को देना चाहिए जो श्रोत्रिय हो, निर्धन हो, गृहस्थ हो, नित्य अग्निहोत्र करता हो, दरिद्रता के कारण जिसे स्त्री और पुत्रों के तिरस्कार

बदले पड़ते हो और दाता ने न तो जिससे प्रत्युपकार प्राप्त किया हो और न आगे प्रत्युपकार प्राप्त करने की संभावना हो ही ।[1] ऐसे लोगों को ही दान देना चाहिए , न कि किसी धनवान या तात्कालिक व्यक्ति को । दान देते समय दान में दी जानेवाली चीजों की उपयोगिता पर भी ध्यान देना अनुचित नहीं माना जाता । पात्र को देखकर ही उचित चीजों का दान करना चाहिए । किसी के काम न आनेवाली चीजों को दान में देकर अपने को बड़ा दानी मानना व्यर्थ है । ऐसा करने पर वह तो 'अंधे के हाथ में हीरा' की जैसी बात होगी । अंधा तो हीरे की चमक जान नहीं सकता । अतः उसके हाथों में हीरा मिलने से कोई फायदा भी नहीं । कोंकणी में कहा जाता है - 'कुड्‌ड्या हातांतु माणीक ' (अंधे के हाथ में हीरा) । इन कहावतों से यह बात स्पष्ट होती है कि दान में दी जानेवाली वस्तुएँ योग्य व्यक्ति को ही दी जानी चाहिए

दान कई वस्तुओं का किया जाता है । भूमिदान , सुवर्णदान , जलदान , कन्यादान , अन्नदान , गोदान आदि दान तो दान-धर्म में प्रमुख हैं । इनमें से अन्नदान को ही श्रेष्ठ माना गया है । कहा भी जाता है कि इस संसार में अन्नदान के समान विचित्र एवं पुण्यदायक दूसरा कोई दान नहीं । अन्न ही जीवन में सबसे अधिक महत्व की चीज है और उससे बढ़कर कोई दूसरी वस्तु नहीं । वेदों में अन्न को प्रजापति कहा गया है । अन्नदान करनेवाला मनुष्य पहले स्वर्ग में प्रवेश पाता है , तत्पश्चात् उसके बाद तथा किन्तु अन्य दान करनेवाला पुरुष उसके पीछे ही स्वर्ग में प्रवेश पाता है । अन्न के साथ ही जल का दान भी श्रेष्ठ है । क्योंकि मनुष्य का जीवन इन्हींपर बना रहता है । अतिथियों को भोजन देना भी अन्नदान की कोटि में आता है । अतिथिभोजन से अग्निदेव सहित अन्य देव भी सन्तुष्ट होते हैं । जो मनुष्य देवताओं और पितरों , ऋषियों और ब्राह्मणों को अन्न देकर सन्तुष्ट करता है उसके पुण्य का फल महान होता है । अन्नदान करनेवाले का बल , ओज , यश , तथा कीर्ति तीनों लोकों में सदा फैलती रहती है । पितरों का अन्नदान श्राद्ध आदि करके किया जाता है । अन्नदान का महत्व कहावतों में भी झलकता है । अन्नदान के संबन्ध में हिन्दी की कहावत है - ' अन्न धन अनेक धन , सोना रूपा किसके धन ' । अन्न ही सबसे बड़ा धन है, सोना चाँदी आदि उसके सामने कुछ भी नहीं है ।

---

1. महाभारत में धर्म - डा. शकुन्तला शर्मा पृ 16।

गोदान के संबन्ध में कहा जाय तो गोदान करनेवाला उत्तम लोक को प्राप्त करता है । ब्राह्मणों को बैल भी दान में दिए जाते हैं । गोदान प्रायः किसी की मृत्यु के समय ही किया जाता है । हिन्दुओं में ऐसी एक धारणा है कि किसी के मरते समय उस व्यक्ति के हाथ से किसी ब्राह्मण को दान में गाय को दिलायी जाय तो वह व्यक्ति वैतरणी नदी आसानी से पार हो सकता है । उसे स्वर्ग की प्राप्ति भी होती है । गोदान का यह महत्व हिन्दी और कोंकणी समाज में अज्ञात नहीं है । फिर भी व्यक्तियों का स्वार्थ दान देते वक्त सक्रिय रहता है । कहावतें भी समाज का यथार्थ चित्रण ही प्रस्तुत करती हैं और गोदान का प्रसंग भी उनमें अवश्य आया है । यहाँ उसके समाज पर व्यंग्य कम मिलता है और व्यंग्य उभरा हुआ है । स्वार्थी व्यक्ति गोदान करते वक्त स्वार्थ के कारण सब कुछ भूल जाता है और अच्छी गाय के बदले बुरी गाय दान में देता है । हिन्दी और कोंकणी की कहावतें देखिए - 'कानी गाय ब्राह्मण को दान', 'अदूधील गायि अवश्य भट्टाक' (दूध न देने वाली गाय अवश्य गाय के पुरोहित को) । वहाँ पर कानी गाय और दूध न देनेवाली गाय किसी काम की नहीं होती । इसलिए वह दान में दी जाती है । इससे लेनेवाले को कोई फायदा नहीं और दान का पुण्य भी होता है । यही स्वार्थी समाज की सच्ची स्थिति है । अपनी इस गलती को उचित साबित करने के लिए इन लोगों ने और एक मार्ग भी ढूंढ निकाला है । कहावत से यह बात व्यक्त ही है - 'दान में मिली बछिया के दाँत नहीं गिने जाते' । कोंकणी की निम्नलिखित कहावत में भी इसी तथ्य का प्रतिफलन हुआ है - दान मेळ्ळेले गायचे दांत मोजिचे ना '[1] (दान में मिली गाय के दाँत नहीं देखे जाते) । स्पष्ट है कि दान में मिली वस्तु अच्छी हो या बुरी हो, तुच्छ हो या महान हो, उसकी महिमा नहीं देखी जाती । इन कहावतों से स्पष्ट है कि पाप के दोष को दूर करने के लिए दान देने की प्रथा जो समाज में चली आई है वह विकसित होती हुई व्यक्तियों के स्वार्थ से घिरी हुई आज भी चली आ रही है । समाज का यह सच्चा चित्र कहावतों में मिल जाता है ।

पर्वों पर भी दान दिया जाता है । पर्वों में दिया जानेवाला दान दुगुना तथा ऋतु-आरंभ के समय का दान दस गुना पुण्यदायक होता है । संक्रांति, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण आदि के समय जो दान दिया जाता है वह अक्षय होता है ।[2] ग्रहण के दिन

---

1. दानाक मेळिल्ले गायचे दांत पळोवचे न्हंय
2. महाभारत में धर्म - डा. शकुन्तला शर्मा पृ. 164

दान करने से गंगा में स्नान करने का पुण्य मिलता है । हिन्दी की कहावत है - 'ब्राह्मण को दान गंगा को असनान' । लोगों का विश्वास है कि गंगा में एक बार स्नान करने पर मनुष्य के सभी पाप छूट जाते हैं । इसी कारण गंगा को नदियों में पवित्र मानकर उसकी पूजा आदि की जाती है । किन्तु दान तो गंगा की पवित्रता से भी बढ़कर होता है और वह भी ब्राह्मण के लिए किया हुआ दान ।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि हिन्दी और कोंकणी समाजों में दान को ही जीवन का मुख्य कर्म माना गया है । दान देने से मिलनेवाले पुण्य को और दोनों ही समान ध्यान दिया करते हैं ।

पाप - पुण्य

हिन्दी और कोंकणी दोनों समाजों में व्रत, तीर्थ, दान आदि से संबन्धित कहावतों के विश्लेषण से यह तथ्य भी स्पष्ट होता है कि दोनों समाजों में पाप-पुण्य-कर्म के अनुसार ही स्वर्ग नरक का निर्धारण किया जाता है और इनमें पुनर्जन्म पर भी विश्वास किया जाता है । इसका कारण तो दोनों धर्मावलम्बी अटल विश्वास है । पापकर्म मनुष्य के लिए अवनति की राह खोलता है । किसी एक के बुरे काम का प्रभाव सारे समाज पर पड़ता है । सारे समाज की हानि करने के लिए कोई एक पापी काफी है । इस ओर संकेत करनेवाली हिन्दी कहावत है - 'एक पापी सारी नाव को डुबोता है' । नदी को पार करते वक्त यदि किसी एक पापी के कारण नाव डूब जाती है तो उसमें बैठे दूसरे लोगों के लिए भी डूबकर मरना पड़ता है ।

मनसा वाचा कर्मणा दूसरों की बुराई करना भी पाप है । दूसरों को कष्ट पहुँचाकर मनोल्लास नहीं करना चाहिए । इससे यद्यपि प्रारंभ में उन्नति हो होगी तथापि भविष्य में उसे कर्म का बुरा फल भोगना पड़ेगा । 'पाप का घड़ा भरकर डूबता है' । प्रस्तुत कहावत में उक्त बात का संकेत मिलता है । पापों को भले ही पहले उन्नति हो, पर अन्त में उसका विनाश होता है । घड़े को भरते समय पहले घड़ा भरता ही है, लेकिन पूर्णतः भर जाने पर वह पानी में डूब जाता है । वैसे ही पापी दूसरों की बुराई में पहले आनन्द करते भी भी अन्त में उसे दुःखित होकर पश्चात्ताप की आग में जलना पड़ता है । यह तो प्रकृति का नियम है । इसी कारण पापों को मारने में किसी को दोषी नहीं बताया जाता है । हिन्दी

क्र

में एक कहावत हुई है - ' हनि को हनिए , पाप दोष ना गिनिए ' । पापी को मारने से कोई पाप नहीं लगता । यही नहीं पापी का कहीं भी सम्मान नहीं होता । सभी लोग उससे घृणा करते हैं । वह कहीं भी जाय तो उसे निराश होकर लौटना पड़ता है । कोंकणी में कहावते है - 'पापीण गेलेले कडे पाताळ ' । (पापी जहाँ जाय वहाँ पाताल होता है) 'पापीण गेलेले कडे पाणी भरि उदकाक ' (पापी जहाँ जाय वहाँ तलवों तक पानी रहता है) । अर्थात् पापी जहाँ जाता है पाप का प्रभाव उस पर अवश्य छाया रहता है । वह कठिनाई में पड़ जाता है । 'कर्महीन खेती करे बैल मरे या सूखा पड़े' - हिन्दी की इस कहावत में भी इसी बात की ओर संकेत मिलता है ।

ऐसे ही पापी का पाप कभी छिपता नहीं है । एक बार कोई बुरा काम किया जाय तो उसका असर जीवन के अन्तिम दिनों तक और कभी कभी मरने के बाद भी बना रहता है । उसे छिपाने का प्रयास करें तो वह छिपता नहीं है , वरन् और भी प्रकट होता रहता है । अतः हिन्दी कहावत इसको यों व्यक्त करती है । 'पाप छिपाये ना छिपे जस लहसुन की बास ' । जिस प्रकार लहसुन का गंध छिपाने नहीं छिपता वैसे पाप भी छिपाये नहीं छिपता है । यहाँ पर लहसुन का उचित उदाहरण देकर पापकर्म के बुरे प्रभाव को अच्छी भाँति समझाया गया है । एक बार हाथ में लेने पर बाद में अनेक बार हाथ धोने से भी लहसुन का गन्ध नहीं जाता । उसी प्रकार किए पाप को भी ढकने की कोशिश व्यर्थ हो ही जाती है । पाप का फल तभी मिट जाता है जब एक बार या बार बार उसे भोग लिया जाता है । कोंकणी की कहावत है - 'मर्नु भोगिली पाप कनु परिहार' । (जो पाप किसी के मारने से हुआ है उसे भोगे बिना और कोई चारा नहीं) । पाप के दंड से कोई भी बचता नहीं है । इसी कारण कहा जाता है कि हो सके तो पाप से दूर रहना ही चाहिए । लेकिन मनुष्य ऐसा प्राणी नहीं है जो जाने या अनजाने भूल किए नहीं रहता । जाने अनजाने उससे किए गए पापों का दंड उसे मिल ही जाते है । उससे बचने के लिए समाज में प्रायश्चित्त का विधान बनाया गया है । प्रायश्चित्तविधान में बताया गया है कि अपने से बड़े व्यक्तियों का सम्मान करने से पाप का फल घट जाता है । अतः कहा जाता है - ' ज्यारते बुजुर्गा कफ्फारए-गुनाह ' । बड़े बूढ़ों का सम्मान करने से पापों का क्षय होता है । अपने से बड़े लोगों का कहना मानकर जो काम करता है वह अपने जीवन में थोड़े ही पाप करेगा । कोंकणी में भी इस ओर संकेत है - 'वल्हयाले उत्तर प्रमाण केल्लें' ।(बड़ों का कहना प्रमाण मानना

चाहिए) । बड़े बूढ़े तो अपने जीवनानुभव से उद्भूत विचारों को ही युवा पीढ़ी के सामने रखते है । पाप का प्रायश्चित्त किसी तीर्थ में जाकर स्नान करने से या दान करने से भी हो जाता है । समाज में प्रायश्चित्त का भी विधान है । इसी ओर हिन्दी कहावत में भी इंगित किया जाता है - 'पापी का माल अकारथ जाय , दंड भरे या चोर ले जाय ' । पापी का माल प्रायः प्रायश्चित्त में ही खर्च हो जाता है । पापी के धन को कभी चोर भी ले जाते है , क्योंकि उसका धन अन्याय से जुटाया जाता है । इसी कारण इस प्रकार के धन को चोरी करनेवाले को भी चोरी का पाप नहीं लग जाता । प्रस्तुत कहावत में समाज में अन्याय से धन कमानेवालों को चेतावनी भी दी गई है । जीवन में प्रायश्चित्त का महत्व इसलिए रहा है कि पाप से मुक्त हुए बिना किसी को भी अच्छी गति नहीं मिलती है और प्रायश्चित्त ही मनुष्य के मुक्तिमार्ग को साफ कर देनेवाला एकमात्र साधन है । अन्यथा पाप करके प्रायश्चित्त न करने से दूसरे जन्म में भी कष्ट भोगने पड़ते है ।[1]

पाप पुण्य में विश्वास करनेवाले लोगों की धारणा है कि इस संसार से परे और भी लोक होते है जिनमें मुख्यतः स्वर्ग तथा नरक की कल्पना की जाती है । इस लोक में दुःखपूर्ण जीवन बिताने में व्यस्त लोग परलोक में तो सुख वैभव से युक्त जीवन की इच्छा ही करते है । लोगों की इस इच्छा की सिद्धि के माध्यम के रूप में पाप और पुण्य दोनों का विवेचन या विश्लेषण समाज में किया जाता है । पुण्यकाम को द्वारा प्राप्त करना स्वर्ग की प्राप्ति है । यही विश्वास समाज में प्रचलित है । दूसरों की निन्दा न करना , दूसरों को कष्ट न पहुँचाना , नदियों के संगम पर स्नान करना , बुजुर्गों का आदर सम्मान करना आदि तो मनुष्य के लिए निर्धारित किए गए पुण्यकर्म है । पुण्यकर्म ही स्वर्ग का रास्ता खोल देते है । असत्य बोलनेवाला तथा असभ्य वचन बोलनेवाले को आश्रय देनेवाला , दूसरों के लिए उपयोगी तालाब , पोखर वनसमूह, घर आदि को नष्ट करनेवाला पापी ही होता है और इसी कारण उसे नरक में जाना पड़ता है । अतः बताया गया है कि परस्वहारी , परस्त्रीविनाशक एवं परनिन्दक को भी निश्चित रूप से नरकयातना भोगनी पड़ती है ।[2] इसके अतिरिक्त परस्त्री हानि तथा परस्त्रीहरण में भी सहायता पहुँचाना नरक का हेतु है । अतः समाज में सदा पुण्यकर्म करने की ही सीख दी जाती है और पाप से दूर हट जाने के लिए चेतावनी भी दी जाती है ।

---

1. महाभारत शान्तिपर्व अ. 34 श्लो. 2. वही. वनपर्व. अ. 206 श्लो. 57
2. वही. अनुशासन पर्व. अ. 23 श्लो 49 , 82

हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों के अध्ययन से पता चलेगा कि दोनों समाज स्वर्ग तथा नरक में विश्वास करते आ रहे हैं। स्वर्गप्राप्ति के लिए सरल मार्ग हिन्दी की निम्नलिखित कहावत के रूप में भी बताया गया है - 'दुखी क्या जन्नत में'। बड़ों की आज्ञा मानने वाला स्वर्ग जाता है। बड़ों की बातों का पालन करना शुभ पुण्य कर्म है और इस पुण्यकर्म के फलस्वरूप मनुष्य की आत्मा भी पवित्र एवं पुण्य हो जाती है। इसी कारण उसके लिए स्वर्ग का दरवाजा हमेशा खुला रहता है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सभी मनुष्य को पुण्यकर्म करना चाहिए। कहा जाता है कि पुण्यकर्म करनेवाले को स्वर्ग की प्राप्ति होती है जहाँ देवांगनाएँ और अप्सराएँ उसका अभिनन्दन करती हैं तथा पुण्यात्मा को देवमंडली में स्थान भी मिल जाता है।[1] किन्तु पुण्य करना उतना आसान कार्य नहीं है। इसके लिए बहुत से कष्ट उठाने पड़ते हैं। पुण्यकार्य करनेवाले को कभी कभी जान भी हथेली पर लेनी पड़ती है। सहनशीलता, त्यागभावना, परोपकारिता, कर्मनिष्ठा आदि तो पुण्यात्मा के अनिवार्य गुण हैं। इस तथ्य की चर्चा करनेवाली कोंकणी कहावत है - 'आपण मेल्यां स्वर्गु देखुंक' (स्वयं मरने पर ही स्वर्ग दीख पड़ेगा)। मर जाने का मतलब इससे है कि खुद कोई काम चाहे वह कितना ही कष्टदायक क्यों न हो, करने से ही उसका उचित फल मिलेगा। यदि किसीके मन में स्वर्ग का सुख भोगने की कामना हो तो खुद उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए। अर्थात् जीवनकाल में उन पुण्यकर्मों को करते रहना चाहिए जो स्वर्ग की प्राप्ति का उत्तम साधन है। कोंकणी की और एक चुटकीली उक्ति इस संबन्ध में मिलती है - ''आपण मेल्यारि आपणाक मोक्षु' (आप मरे तो अपने को मोक्ष मिलेगा) कोई व्यक्ति मर जाय तो उसने पुण्य किया है, मोक्ष उसे ही मिलेगा और किसी को नहीं। कहने का अर्थ है कि जो प्रयत्न करेगा उसको फल अवश्य मिलेगा, दूसरे किसी को नहीं।

समाज में प्रचलित विश्वास के अनुसार तीर्थाटन से भी स्वर्ग मिल जाता है और किसी तीर्थ में जाकर देहविसर्जन करते हुए वहीं अपनी जीवनलीला को समाप्त कर देना एक पुण्य कार्य है। इसीलिए हिन्दुओं में अपने जीवन के अन्तिम दिनों में तीर्थों में, काशी में जाकर मोक्ष प्राप्त करने की प्रथा रही है। यदि काशी में नहीं जाय तो मोक्ष नहीं मिलेगा और नरकयातना भी भोगनी पड़ेगी। इस धार्मिक धारणा की ओर संकेत करनेवाली हिन्दी कहावत है - --

---

1. कवि कालिदास के ग्रंथों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति - डा. गायत्री वर्मा पृ. 628

'बारह बरस सेई काशी, मरने को मगहर की माटी'। कोई बारह वर्ष तक काशी में रहकर बाद में मगहर जाकर प्राणों को छोड़ दे तो उसे स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती। जीवन के अन्तिम दिनों में काशी में रहकर वहीं प्राणत्याग करने से आत्मा को मुक्ति मिलती है तथा स्वर्ग में उच्च स्थान भी मिल जाता है। इसके विपरीत काशी छोड़कर मगहर जाकर मरने से नरक में जाना पड़ता है। प्रस्तुत कहावत में विधि की कठोरता तो अवश्य चित्रित है, साथ ही यह कहावत प्रचलित सामाजिक विश्वास की ओर भी इंगित करती है कि लोग मरने के लिए काशी जाया करते थे।

ऊपर उद्धृत इन कहावतों के विवेचन से ज्ञात होता है कि हिन्दी तथा कोंकणी समाज में पाप पुण्य तथा उसके अनुसार स्वर्ग नरक की धारणा भारतीय धारणा के अनुसार ही चलती है और दोनों समाजों में स्वर्ग और नरक के सुख व कष्टों का वर्णन कहावतों के द्वारा करते हुए लोगों को सदा पुण्यकर्म की ओर उन्मुख होने की सीख दी गई है।

धार्मिक विश्वास-- भाग्य कर्म का स्वरूप

मानव विचार करता है कि उसके सभी कर्म अपनी ही इच्छा के अनुसार होते हैं। वह अपने बाहुबल पर ही भरोसा रखता है। लेकिन जब उसके कर्मों का फल उसकी इच्छा के विरुद्ध हो जाता है तब वह सोचने लगता है कि अपने बाहुबल से भी बढ़कर कोई शक्ति काम करती है और इस शक्ति के आगे उसे अपना सिर झुकाना पड़ता है चाहे वह कितना ही मजबूत क्यों न हो? मानवबुद्धि के लिए अगोचर इस शक्ति को ही मानव ने भाग्य, विधि, नियति आदि नामों से अभिहित किया है। मानवजीवन में इसका बहुत ही महत्व है। समाज के अनपढ़ असभ्य तथा असंस्कृत ग्रामीण लोगों से लेकर पढ़े लिखे विद्वान तक भाग्य पर विश्वास करते हैं। दुनिया भर में कोई भी एक व्यक्ति ऐसा नहीं है जो नियति पर विश्वास न करता हो।

हिन्दी तथा कोंकणी समाज में भी भाग्य को प्रमुख स्थान दिया गया है। दोनों समाज मानते हैं कि जीवन की सभी घटनाएँ भाग्य पर निर्भर होकर ही घटती हैं। किसी के लिए कर्मों का फल तो अच्छा होता है तो और किसी के लिए बुरा निकलता है। किसी का भाग्य खोटा हो तो उसके लिए अच्छी चीजें भी बुरी बन जाती हैं। मनुष्य के अपने इन जीवनानुभवों को समाज के दूसरे लोगों तक घोषित करने के लिए लोगों ने चुटकीले तथा सारगर्भित सूक्ती

की रचना की ओर से कुछ कहावत के कोषवर में आज तक दोनों समाजों में सुरक्षित रहे हैं । मानव जीवन के हानि-लाभ आदि नियति के अनुसार ही होते हैं । कहा जाता है -- 'हार जीत किस्मत के हाथ' ।। जीवन में जय तथा विजय का निर्णय भाग्य ही कर लेता है । और एक कहावत है -- 'हानि, लाभ, जीवन, मरन, जस, अपजस विधि हाथ' । जीवन के हानि-लाभ, मनुष्य का जन्म लेना, उसका मरण आदि सब तो नियति के वश में ही रहते हैं ।

भाग्य मनुष्य से क्या कराएगा, क्या न कराएगा, इसके बारे में सोचा भी नहीं जा सकता । तुलसीदास कहते हैं -- कहं काशी, कहं कश्मीर, कहं खुरासान गुजरात

तुलसी या तो जीव को, परारब्ध ले जात ।।

भाग्य मनुष्य को न जाने कहाँ कहाँ ले जाता है । किसी को वह काशी ले जाता है तो किसी को कश्मीर । अर्थात् मनुष्य की जहाँ जाने की इच्छा नहीं रहती है, भाग्य उसे वहाँ भी ले जाता है । अतः मनुष्य यह नहीं कह सकता कि वह अमुक स्थान में जायगा और अमुक स्थान में नहीं जायगा । मानव के सभी कार्य भाग्य पर निर्भर रहते हैं । भाग्य में लिखे हुए को मिटाने के लिए वह कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, भाग्य की लकीर मिटती नहीं है । 'किस्मत का लिखा कोई नहीं मेट सकता' । 'करमरेख ना मिटे, करे कोई लाखों चतुराई' आदि कहावतें इसी ओर संकेत करती हैं । जब मनुष्य जन्म लेता है तब ईश्वर उसका भाग्य निर्धारित करता है । इसीको 'करमरेख' कहा करते हैं । इससे बच पाना असंभव है । यह मनुष्य के वश की बात नहीं है । कोंकणी समाज भी इस करमरेख पर विश्वास करता है । कहावत यों चलती है -- 'कपालाचेर बरेरी कोणे पुसीर सकोलो' । (ललाट की रेखा किसके रोकने पर रुकती है ?) कहने का यह अर्थ है कि मनुष्य भाग्य या नियति की पकड़ से कभी भी छुटकारा नहीं पा सकता और मानव का अपने जीवन पर पूर्णतः अधिकार है ही नहीं । उसका अंकुश तो नियति के हाथों में है । मनुष्य मात्र उसका आज्ञाकारी होता है ।

भाग्य हमेशा हर किसी के लिए प्रतिकूल नहीं रहता । किसी किसी के लिए वह अनुकूल भी रहता है । हिन्दी में एक कहावत है -- 'एक भाग दूध-बतासा, एक भाग धूल' । भाग्य जिसके अनुकूल है वह जीवन में सन्तुष्ट रहता है क्योंकि भाग्य के पैरों तले

फूकता गया मनुष्य जीवन का कटु रस ही चूस लेता है । किसी का भाग्य उससे रूठ जाता है तो उसके सभी कार्य रुक के रुक हो जाते हैं । वह जहाँ भी जाये वहाँ पर उसे कुछ भी नहीं मिलता । इस तथ्य को निम्नलिखित उक्ति में व्यक्त किया गया है --'

करमहीन सागर गए, जहाँ रतन का ढेर
कर छूवत घोंघा भए, यही करम का फेर ।।

किसी बाजार में रत्नों का ढेर हो, उसे पाने के लिए कोई भाग्यहीन व्यक्ति चला जाय तो उसके हाथ के छूने से ही वह घोंघा बन जाता है । यही भाग्य का खेल है । इसी बात को और एक ढंग से इस प्रकार व्यक्त किया गया है --'करमहीन खेती करे, मरे बैल या सूखा पड़े' । जिसके भाग्य में खेती करने को ही नहीं, यदि वह व्यक्ति खेती करने जाय, तो उसका बैल मर जाता है, नहीं तो सूखा पड़ जाता है । भोजपुरी समाज भी इस तथ्य को छिपाये नहीं रखता । वह खुल्लमखुल्ला कह उठता है --'[illegible]' । (यदि किसी के भाग्य में अच्छा नहीं लिखा है तो उसके ललाट को कुरेदकर उसमें अच्छाई भर देने से वह भी बह करके बाहर आती है ।) और एक उक्ति भी मिलती है --'[illegible]' । (पापी जहाँ जाय वहाँ पातक ही दिखाई पड़ता है) जो पाप करता है उसे मरने के बाद नरक ही मिलेगा ।

जैसे ही कोई दुख के मारे कहीं जाय, यदि उसके भाग्य में दुखी रहने को ही लिखा है, तो दुख मिटाने के लिए कभी कभी उसे एक रास्ता भी नहीं मिलता है । 'जहाँ जाय भूखा वहाँ पड़े सूखा' । भाग्यहीन व्यक्ति दुख मिटाने के लिए कहीं भी जाय तो उसे दुखी ही रहना पड़ता है । भोजपुरी समाज में भी ऐसे भाग्यहीन व्यक्तियों की कमी नहीं है, वरन् उनकी संकलित कहावत भी चलती है --'[illegible]' (दरिद्र व्यक्ति जहाँ जाये उसे वहाँ कुएँ के बीच से कमाई गई और ही मिलती है) कोई दरिद्र जिसकी किस्मत फूटी हो, मिष्टान्न भोजन की लालसा में कहीं जाय तो उसे वैसे ही रूखा सूखा या निम्न स्तर का खाद्यपदार्थ ही मिलता है । जिसके भाग्य में खीर खाने को नहीं लिखी है तो उसके हाथों खीर बनने पर भी वह खीर नहीं छू पाते । इसी भाव को प्रस्तुत करनेवाली हिन्दी कहावत है --'करम के जलिया, पकाई खीर, हो गया दलिया' । करम या नियति का बल ही मानव को चलाता है ।

कहने का मतलब यह है कि भाग्य में जो लिखा है वह होकर ही रहता है। उसे रोकने का प्रयास पानी में लकीर खींचने की तरह है। 'होनहार मिटते नाहीं, होवे किसे बीच', 'होनहार हिरदे बसे, बिसर जाय सब सुद्ध' आदि कहावतों में भी इसी ओर संकेत मिलता है। जो होना है वह अवश्य ही होता है।[1]

मनुष्य जो कर्म करता है वह उसकी किस्मत में लिखे अनुसार ही होता है। उसका कर्म इस लोक में और परलोक में उसका साथ देता है। फिर मनुष्य कर्मों का फल उसे भुगतना ही पड़ता है, चाहे वह अच्छा हो या बुरा। मानव के अच्छे कर्मों का फल अच्छा मिलता है और बुरे कर्मों का बुरा। इस ओर संकेत निम्नलिखित कहावत में मिलता है -- 'अन्त बुरे का बुरा' या 'अन्त भले का भला'। जो बुरा कार्य करता है उसका परिणाम भी बुरा होता है। जो सदा दूसरों से सद्व्यवहार करते हुए अच्छे कर्म करता है उसे अपने कर्मों के मीठे फल मिलते हैं। जो जैसा कर्म करता है उसे देखने मात्र से मालूम होता है कि वह किस कैसा आदमी है। रूप और कर्म का आपसी संबन्ध रहा है। क्योंकि किए कर्मों का स्पष्ट भाव उसके मुख पर प्रकट होता है। अतः कहा जाता है -- 'जिसकी सीरत अच्छी, उसकी सूरत भी अच्छी।'; डोगरी में भी इस भाव को छिपाया नहीं जा सकता - 'कर्म सनीत रूप'। (कर्म के अनुसार रूप)

मनुष्य को करनी के अनुसार उसे जो फल मिलता है उसे इच्छा न होते हुए भी दोनों हाथों से स्वीकार करना पड़ता है। वह जैसे कर्म करता है वैसा ही फल उसे मिलता है। हिन्दी की एक उक्ति लीजिए -- 'जैसी करनी वैसी भरनी'। 'आम बोओ आम खाओ इमली बोओ इमली खाओ'। जिस प्रकार का कार्य हम करते हैं उसी प्रकार का फल हमें मिलता है। आम का बीज बोने से उससे इमली का पौधा नहीं उग आएगा। आम के बीज से आम ही होगा। यदि इमली होना है तो इमली का बीज बोना है। डोगरी समाज में भी कर्मसिद्धान्त यही विश्वास रहा है। कहा जाता है -- 'अम्बो बोनचारि बीच लगना' (आम बोने पर इमली नहीं लगती)। इसी भाव की ओर एक उक्ति भी स्पष्ट करती है -- 'बबे भराते कुम्भ पत्थुये सम्बाड़े लगदे ?' (बबूल बोते भी जड़ से क्या हरे रंग की भी मुराई हो सकती है ?) करेले की लता से करेले ही मिलेंगे, पी मुराई

---

1. न हि भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन
   करतलगतमपि नश्यति यस्य हि भवितव्यता नास्ति ॥
   भवितव्यतानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ।

इन कहावतों के विश्लेषण से प्रतीत होता है कि मनुष्य जो कर्म करता है उसीके अनुसार उसका परिणाम भी मिलता है। अपने कर्म का फल मनुष्य को स्वयं भोगना ही पड़ता है। कहावतों से स्पष्ट है कि हिन्दी तथा कोंकणी समाज कर्मफल में विश्वास करता है। किसी के किए कर्मों का फल और किसी को प्राप्त नहीं होता। जो कर्म हम करते हैं उसका फल चाहे मीठा या तिक्त हो, खुद हमें ही भुगतना है। हिन्दी की एक उक्ति इस बात को स्पष्टतः व्यक्त करती है -- 'अपनी करनी पार उतरनी' या 'अपने किए को भोगो'। अपने कर्मों का फल हमें स्वयं ही भोगना पड़ता है। इसीलिए समाज में लोगों को सलाह दी जाती है -- 'खाड़ खने जो और को ताको कूप तयार'। जो दूसरों के लिए गड्ढा खोदता है उसके लिए उससे भी बड़ा कुआँ तैयार रहता है। कोंकणी में भी इसी ओर संकेत करनेवाली उक्ति है -- 'कन्नाने वेन्ने कोन्डाटु कन्नाने पोड्डे' (जो गड्ढा खोदता है उसमें वही स्वयं गिर जाता है। ये कहावतें इसी बात को स्पष्ट कर देती हैं कि अपने किए हुए कर्मों का फल खुद अपने को ही मिलता है, दूसरे लोग इस फल को भोगने में भागीदार नहीं बन जाते। बुरे फलों से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य लाखों प्रयास क्यों न करे, फिर भी भाग्य एवं कर्म उसका पीछा नहीं छोड़ता। 'कर्मानुगो गच्छति जीव एकः'। मनुष्य जो कर्म करता है वह सदा उसका पीछा करता है। अतः कहा जाता है -- 'पूरब जाओ या पच्छम, वही करम के लच्छन'। पूर्व या पश्चिम दिशा की ओर जाओ, भाग्य पीछा नहीं छोड़ता। कर्म के लक्षण पूर्णतः दिखाई पड़ते हैं। इसी तथ्य को और एक रूप में भी व्यक्त किया जाता है -- 'जाओ नेपाल साथ जाए कपाल'। किए हुए बुरे कर्मों के फल से मुँह फेरकर नेपाल तक जाएँ तो भी किस्मत हमारा साथ नहीं छोड़ती। कोंकणी समाज में इसी भाव को व्यक्त करते हुए लोगों को चेतावनी दी जाती है -- 'चेसिन कर्म चेडि पेत्ता'। (किए हुए कर्म पीछा करते रहते हैं)। मनुष्य यदि बुरा कर्म करता है तो उसका बुरा परिणाम उसका पीछा करता है जिससे उसका जीवन अत्यन्त कष्टदायक हो जाता है। इसीलिए लोगों को प्रायः अच्छे कर्म करने का उपदेश दिया जाता है। समाज में लोगों से कहा जाता है -- 'दिया लिया ही आड़े आता है'। जो दूसरों से सद्व्यवहार करता है, दान जैसे पुण्यकर्म करता है, वही जीवन के अन्त तक उसका साथ देता है। अच्छे कर्म कभी धोखा नहीं देते। वे समय समय पर मनुष्य को विपत्तियों से बचाने का काम करते हैं और इसीलिए मनुष्य को

अच्छे कर्म करते रहना चाहिए । भाग्य तथा कर्मसम्बन्धी हिन्दी तथा भोजपुरी दोनों भाषाओं की कहावतों के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दोनों भाषाओं में भाग्य तथा कर्म पर अटल विश्वास किया जाता है । लोगों को अपने कर्मों के फल का पूरा समझाकर उन्हें अच्छे कर्म करते हुए सही रास्ते से चलने की सीख को दोनों भाषाओं ने छोटे छोटे तथा चुटीले मार्मिक सूत्रों के रूपमें दी है ।

पुनर्जन्म सम्बन्धी धारणा

भारतीय विचारधारा की एक अद्वितीय उपलब्धि है पुनर्जन्मसिद्धान्त की स्थापना । अनादिकाल से लोग पुनर्जन्म में विश्वास करते आए हैं । इसका प्रमुख प्रयोजन सामाजिक जीवन को सम्यक व्यवस्थित एवं नियमित बनाना है । एक बार इस धरती पर जन्म लेनेवाला कभी न कभी मृत्यु का वरण कर लेता है , यह तो प्रकृति का अटल नियम है । पुनर्जन्म सिद्धान्त के अनुसार जन्म और मरण एक ही चक्र के अंग हैं और जन्म और मरण का यह चक्र निरन्तर चलता ही रहता है । इसके संबन्ध में गीता का कथन है -- 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च ' । जन्म और मरण का क्रम आत्मा के परम पद की प्राप्ति तक चलता रहता है । लोगों की यह धारणा रही है कि प्रत्येक जन्म में आत्मा विभिन्न रूप धारण करती है । अर्थात् आत्मा तब तक मरती नहीं जब तक कि उसे मोक्ष नहीं मिल जाता ।[1] यह एक शरीर को छोड़कर दूसरे किसी शरीर में प्रविष्ट हो जाती है जैसे कोई अपने कपड़े मैले या पुराने होने पर उन्हें छोड़कर दूसरे अच्छे कपड़े पहनता है । पुनर्जन्म की यह चर्चा हिन्दी की निम्नलिखित उक्ति में भी हुई है -- 'मगह में मरना , अगले जन्म में गदहा बनना '। लोगों का यह विश्वास है कि मगध में मरना नहीं चाहिए , क्योंकि मगध में मरने से अगले जन्म में मनुष्य गदहा हो जाता है । इस कहावत में तो लोगों का विश्वास ही उभर आया है , तथापि यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पुनर्जन्मसिद्धान्त का समाज में प्रमुख स्थान रहा है ।

---

1. " --- and this succession of life and death goes on until finally it attains to that condition where in it is fit to return to the supreme spirit whence it came , and of whom , all unconsciously , it was a part."

--Modern Hinduism - W.J. Wilkins

जन्मान्तरवाद में विश्वास करनेवाले मानते हैं कि एक जन्म में हम जो कुछ करते हैं उसका फल जन्म जन्मान्तरों तक भोगना पड़ता है जब तक हमें मुक्ति नहीं प्राप्त होती । इससे प्रतीत होता है कि जन्मान्तरवाद कर्मवाद से विशेष रूप से प्रभावित है । हिन्दी की एक उक्ति है -- 'जनम जनम की छूट गई' । और एक जन्म में अच्छे कार्य किये जाते हैं तो जन्म जन्मान्तर के लिए कलंक धुल जाता है । एक जन्म में किए गए सत्कर्मों का फल मनुष्य के जितने भी जन्म हों, उन सब में साथ देता है जिससे मनुष्य को विपत्तियों से छुटकारा मिल जाता है ।

पहले समाज में यह मान्यता फैली थी कि एक जन्म में किए पापकर्मों का फल दूसरे जन्म में भोगना पड़ता है । किन्तु आज के वैज्ञानिक युग में माना जाता है कि पूर्वजन्म में किए कर्मों का नहीं, अपितु वर्तमान जन्म में किए कर्मों का फल भी इस जन्म में ही भुगतना पड़ता है । इस तथ्य को एक दूसरे को समझाने के लिए निम्नलिखित उक्ति कहते हैं - 'क्या खूब सौदा नकद है, इस हाथ दे उस हाथ ले' । किए कर्मों के फल के लिए समय की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं रहती । बिना विलंब के ही उसका फल मिलता है । एक हाथ से कुछ देकर तुरन्त ही दूसरे हाथ से उसे लेने के लिए जितना समय लगता है, उतना ही या उससे भी कम समय ही किए कर्मों का फल भोगने के लिए लगता है । कोंकणी समाज के लोग भी इस संबन्ध में भिन्न मत के नहीं हैं । अतः कहा जाता है -- 'ये हातान दीवुंक ते हातान घेवुंक' (इस हाथ से देना, उस हाथ से लेना) । इस बात की ओर भी स्पष्ट रूप से भी व्यक्त किया गया है -- 'केलीले कर्म ह्याच जन्मांतु जावंक' (किए कर्म इसी जन्म में हो जाने चाहिए) । इस जन्म में जो कुछ किया जाता है उसका फल इसी जन्म में भोगना चाहिए, चाहे इस जन्म के बाद और एक जन्म हो या न हो । इससे दूसरे जन्म में भोगेंगे, इस जन्म में नहीं, ऐसा विचार मत करना चाहिए । आजकल किए जानेवाले कर्मों का फल तभी मिल जाता है और उसे भोगे बिना कोई भी नहीं रह सकता ।

वस्तुतः पुनर्जन्मविषयक मान्यतासम्बन्धी कहावतों की सृष्टि समाज में इसलिए हुई है कि यह सिद्धान्त मनुष्य में धार्मिक विश्वास उत्पन्न करता है तथा उसे सच्चा आस्तिक भी बना देता है । इसके अतिरिक्त समाज में दिन ब दिन बढ़नेवाले दुराचार तथा पापकर्मों को रोकने के लिए और साथ ही सदाचार की महत्ता बढ़ाने के लिए भी पुनर्जन्मविषयक मान्यता सहायक है । पुनर्जन्म में

चिन्तन करनेवाले सतत अपने को बुरे कर्मों से बचाने का प्रयास करते रहते हैं जिससे उनका दर्शनपथ अपने आप प्रशस्त हो जाता है ।

दर्शन तथा लोकतत्त्व

जीवन और दर्शन का एक दूसरे से चोली दामन का संबन्ध है । किसी का भी जीवन दार्शनिक तत्त्वों से पृथक नहीं होता । किन्तु यह दर्शन या उसके तत्त्व क्या है और लोकतत्त्व से उसका क्या संबन्ध है , इस पर विचार करते हुए दार्शनिक पृष्ठभूमि में जीवन की व्याख्या आज तक किसी ने नहीं दी है । इसका कारण यह है कि जीवन तो ऐसा एक विस्तृत रूप है जिसके प्रत्येक अंग का पृथक अध्ययन संभव नहीं होता । मानव जीवन अनुभवों से पूर्ण है और अपने जीवन के मधुर तथा कटु अनुभवों से जो तथ्य निकलते हैं उन्हीं को मनुष्य ने दर्शन की कोटि में रखा है ।

दार्शनिकों के अनुसार मानव जीवन तथा जगत , दोनों नश्वर हैं । जो कुछ इस संसार में दिखाई पड़ता है वह सत्य नहीं मिथ्या है । जीवन ही एक सपना है । जिस प्रकार सपने के अन्त में जागने पर कुछ नहीं दिखाई पड़ता उसी प्रकार इस क्षणिक या नश्वर जीवन के अन्त में मृत्यु आकर घेरती है । मृत्यु मनुष्य की सभी इच्छाओं की पूर्ति होने तक प्रतीक्षा नहीं करती जैसे सपने के अन्त होने के पहले ही जागृति मनुष्य को घेरती है । जीवन की इस नश्वरता की ओर लोगों का ध्यान खींचने के लिए समाज में कई उक्तियाँ प्रयुक्त होती हैं जिन्हें साधारण लोग कहावत के रूप में स्वीकृत किया करते हैं । हिन्दी एवं कोंकणी समाज के लोग भी जीवन में दर्शन को महत्त्व देते हैं तथा जीवन की क्षणभंगुरता को स्वीकारते हैं । हिन्दी भाषा में संसार की नश्वरता को यों व्यक्त किया गया है -- ' न रहे जाम , न रहे साकी , आखिर दुनिया फनाफनी ' । यह संसार तो नश्वर है और यहाँ मान , गर्व , उच्च पद , सब कुछ हमेशा रहता नहीं है । वैसे ही एक बार जन्म लेने पर मृत्यु की पकड़ से कोई भी बच नहीं सकता । मृत्यु ही जीवन को नश्वर बना देती है और मृत्यु के आगे सब लोग एक हो जाते हैं । बड़े धनवान लोग भी अपनी सारी संपत्ति देकर भी उसे खरीद नहीं सकते , न रिश्वत देकर कोई भी उससे बच भी सकता है । हिन्दी की एक कहावत है -- 'आया है सो जायगा , राजा रंक फकीर ' । जन्म लेने पर किसी न किसी दिन सभी को मरना पड़ता है । उसमें कुछ राजा , दरिद्र , फकीर ऐसा कोई भेदभाव नहीं रहता । मृत्यु सबों को समान रूप से घेरती

रहती है । कोंकणी समाज में यही तथ्य को प्रकट किया जाता है - 'आजि दिसिल्लो फाल्यां ना ' (आज दिखाई पड़नेवाला कल नहीं होगा) । मानव जीवन तो अनित्य है । हम यह नहीं कह सकते कि हम कल या परसों क्या क्या करेंगे । आज दिखाई पड़नेवाला मनुष्य कल नहीं दिखाई पड़ेगा और जो कल था वह आज नहीं है । 'आज है तो कल नहीं' - प्रस्तुत हिन्दी कहावत में भी जीवन की नश्वरता की ओर संकेत मिलता है ।

मानव शरीर भी नश्वर है । इसीलिए कहा जाता है - 'आदमी बुलबुला है पानी का ' मनुष्य तो बरसात के पानी में उत्पन्न होनेवाले उन बुद्बुदों के समान है जो थोड़ी ही देर के लिए रहते हैं । बुद्बुद क्षण भर रहकर गायब हो जाता है । वैसे ही मनुष्य एक बार जन्म लेता है तो कोई भी यह कह नहीं सकता कि कब उसकी मृत्यु होगी । कोंकणी में देखिए - 'मनुष्याचो जीवित उदकावेलो बुडबुडो ' । (मनुष्य का जीवन पानी का बुलबुला है)

किसी व्यक्ति की मृत्यु के कुछ दिन बाद लोग उसको पूर्णतः भूल जाते हैं । जब तक मनुष्य जीवित रहता है तब तक उसके सगे संबन्धी उसका साथ देते हैं । लेकिन जब वह मर जाता है तो उसके संबन्ध में सोचने की फुरसत तक उन्हें नहीं मिलती है । 'आजि मेल्यारि फाल्यां दोनि ' । (आज मरे तो कल दूसरा दिन) । प्रस्तुत कोंकणी कहावत में भी ऊपर उद्धृत तथ्य की ओर ही संकेत है । समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता । आज मर जाय तो कल दूसरा दिन होगा ही । किसी के मर जाने पर दिन तो एक एक होकर बीत जाते हैं और दिनों के बीत जाने के साथ मनुष्य भी विस्मृति के गड्ढों में उतर जाता है । हिन्दी समाज ने भी इस तथ्य को माना है । 'आज मुए कल दूसरा दिन ' । वैसे ही मनुष्य के मर जाने के साथ धरती से उसका सारा संबन्ध छूट जाता है । मृत्यु के बाद मनुष्य की कुछ संपत्ति का कोई मूल्य नहीं रहता । हिन्दी की एक उक्ति इस भाव को समाज के सामने भी प्रस्तुत करती है -- 'भोग विलास जब तक संसार ' । मनुष्य के अन्तिम समय तक ही सारे भोग विलास रहते हैं और मरे पीछे सब समाप्त हो जाते हैं ।

पहले ही कहा जा चुका है कि यह संसार और मानव जीवन अनित्य है । जीवन में सुख एवं दुःख, इन दोनों तत्वों की महत्ता रही है । जीवन से अटूट संबन्ध रखनेवाले ये तत्व भी यदि अनित्य रह जायें तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं । सुख तथा दुःख, दोनों निरन्तर नहीं रहते । मानव जीवन में कभी थोड़े दिनों के लिए सुख आता है तो

पीछे किसी के लिए दुःख । अर्थात् मानव जीवन में केवल सुख ही सुख या केवल दुःख ही दुःख नहीं रहता । जीवन में एक बार सुख आने पर बाद में दुःख को भोगना पड़ता है । यह प्रकृति चक्रवत चलती रहती है ।[1] सुख एवं दुःख दोनों को भोगने से ही उनके मूल्य की पहचान हो सकती है । कहने का तात्पर्य है कि मानवजीवन में सुख दुःख, दोनों का सम्मिलन क्षेम है । किन्तु यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि जीवन में सुख कब आयेगा या दुःख कब आयेगा । पहले सुख का अनुभव जो करता है उसे बाद में दुःख झेलना पड़ता है और पहले दुःखी रहनेवाला बाद में सुखी रहता है । इसमें कोई सन्देह नहीं है और यह बात सब लोगों की मानी हुई है । कोंकणी समाज के लोगों के मुँह से यह उक्ति निकलती है - 'आजि रडतलो फाल्यां हांसतलो' । (आज रोनेवाला कल हँसेगा) आज जो दुःख के अथाह सागर में डूबा हुआ है वह सुख चैन के सागर में भविष्य में तैरेगा । जो एक दिन दुःख के कारण रो रो कर अपनी फूटी किस्मत को कोसेगा वही दूसरे दिन सुख के मजे में डूबकर हँस पड़ेगा । कोंकणी की और एक कहावत में यही भाव लिया हुआ है - 'आजी भिकारी फाल्यां राजु' । (आज का भिखारी कल का राजा) । आज जो भीख मांगता फिरता है वह कल राजा बन जायेगा । अर्थात् सुख तथा दुःख कब मनुष्य भोगेगा, यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता । हिन्दी की कहावत है - 'आज का बनिया कल का सेठ' इस कहावत में भी मानव जीवन के सुख तथा दुःख की अस्थिरता की ओर संकेत मिलता है ।

दुःख और सुख, ये दोनों मनुष्य को भोगने ही पड़ते हैं । किन्तु कभी कभी मानव-मानस में यह प्रश्न उठता है कि पहले सुख भोगें या दुःख ? अनुभवों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि पहले दुःख भोगना है, तभी सुख का मूल्य बढ़ जाता है । क्योंकि यदि पहले सुख का अनुभव करें तो कोई भी दुःख की ओर मुड़कर भी देखना नहीं चाहेंगे । लेकिन जो दुःख में हो तो वह अन्त तक के सुख का भी मूल्य अवश्य जान लेगा । इस अनुभूत सत्य को हिन्दी समाज ने यों व्यक्त किया है -- 'जिन पकड़ा डार पती को कैसे चरे ब्यार ?' जिन जानवरों ने हरी हरी घास चरी है, वे क्या सूखा ब्यार कैसे चरेंगे ? अर्थात् सुख भोगने के बाद दुःख मुश्किल से भोगा जाता है । वैसे ही कोंकणी समाज में भी कहा जाता है - 'कुडो खाल्लु उप्रो खाईल' । (खोपरा खाने के बाद ही लड्डू खाना है) । पहले खोपरा खाना चाहिए,

---

1. [illegible]

बाद में लड्डू। क्योंकि लड्डू खाने में जो मिठास होती है वह जेवकर खाने में नहीं होगी। वही बात सुख दुःख के जीवन में भी रही है। मनुष्य जीवन में पहले दुःख का अनुभव करने पर ही सुख का महत्व माना जा सकता है।

मानव जीवन तथा जीवन के सुख दुःख, सब कुछ अनित्य है। लेकिन मनुष्य यह नहीं सोचता कि यह संसार सत्य नहीं मिथ्या है। अतः वे कभी अपनी मृत्यु नहीं चाहते। वे मृत्यु से डरते हैं और कहते हैं - 'जान सबको प्यारी है'। मनुष्य तो अपने जीवन का पूरा लाभ उठाना चाहता है। इसलिए वह मृत्यु की अपेक्षा अपनी जान को ही अधिक चाहता है। उसके लिए अपना प्राण ही सब कुछ है। कोंकणी कहावतों में भी यह लोकसत्य चित्रित मिलता है। एक कहावत है --'जीवु सगटांकीय गोडु' (जान सबको प्यारी है)।

यह भी मानव का सहज स्वभाव रहा है कि अपने पीछे सुख में हो वह गर्व कर बैठता है। संसार की नश्वरता की उसको सोच ही नहीं है। वे सुख को ही शाश्वत सत्य मानते हैं। ऐसे लोगों को देखकर समाज चुप नहीं बैठता। वह कह उठता है --'अढाई दिन की हवेली में भी बादशाहत करती'। कुछ लोग हाथ में पैसा धन आते ही बादशाह बन जाते हैं वे यह नहीं सोचते कि अपने हाथ लगे धन के खर्च करने के बाद उन्हें फिर से अपनी पुरानी जिन्दगी जीनी पड़ेगी। कोंकणी समाज में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है। उनकी ओर व्यंग्य बाण छोड़ते हुए कहा जाता है --'डेड़ दिसां राज्य'। (डेढ़ दिन का राज्य) या 'अल्पांक राज्य अडसांरि गवरतीत छत्री धरतलिय'। (अल्पज्ञ राज्य के आने पर आधी रात को छाता लेकर भटकता है।) धूप के समय या बरसात के समय ही छतरी ले जाते हैं। रात के समय, वह भी आधी रात की चाँदनी में कोई भी छाता लेकर नहीं चलता। लेकिन अल्पज्ञ तो अपनी संपत्ति की महिमा को दिखाने के लिए आधी रात को भी छतरी लिए घूमता है। वह सभी लोगों को यह दिखाना चाहता है कि उसकी भी छतरी है। अर्थात् अपनी संपत्ति का झूठा डींग विलास दिखाना ही वह चाहता है। इस प्रकार झूठा अभिमान करनेवाले बड़े लालची भी होते हैं। वे अपने वर्तमान सुख से तृप्त न होकर अपनी आशा - इच्छाओं की ओर भी बढ़ाते हैं। किन्तु वे यह नहीं सोचते कि इच्छाओं की अधिकता अपने को आपत्ति की ओर खींच लेती है। इस तथ्य को जानते हुए भी उनकी आशाओं का कोई अन्त नहीं होता इस प्रकार लालच दिखानेवाले लोगों के संबन्ध में कहा जाता है --'जितना लाभ उतना लोभ'। कोंकणी में भी इसी भाव को निम्नलिखित कहावत में अभिव्यक्त की गई है --'मेळ्ळा तशीं आशा चड'। (जितना मिलता है उतनी ही आशाएँ भी बढ़ती हैं) किसीको किसी काम के

थोड़ा लाभ मिल जाय, तो वह इसलिए चिन्तित रहता है कि उसे अधिक लाभ नहीं मिला है। वह और अधिक लाभ के रक्षा में लेनदेन करने को भी तैयार हो जाता है। लालच उसे अंधा बना देता है और इससे वह अपने सामने और उपस्थित स्थिति को नहीं देख पाता। समाज में निहित इस मानसिक तथ्य की ओर भी स्पष्ट कर देनेवाली एक उक्ति है -- 'जेवलेल्याक भूक चड म्हालेल्याक मिन्नेलु पडु'। (जिसने खाया है उसे और भूख लगती है और जो नहाया है उसके शरीर पर मैल अधिक जमती है)। जो खाता है उसे कुछ समय के बाद फिर भूख लगती है और खाते खाते उसकी भूख भी बढ़ जाती है। लेकिन जिसने दिन भर कुछ नहीं खाया है उसे भूख लगती ही नहीं और वह नहीं जानता है कि भूख क्या चीज होती है। उसी प्रकार जो रोज नहाया करता है उसे लगता है कि अपने शरीर पर मैल जम गई है और इसलिए उसे फिर से नहाना है। यदि कोई नहाता ही नहीं उसे शरीर की मैल मैल नहीं लगेगी। वैसे ही कहा जाता है -- 'अधिकल्याक आसा चड नाशिल्याक आसा ना'। (जिसके पास कुछ है उसे आशा अधिक है जिसके पास कुछ नहीं है उसे आशा नहीं है)। हिन्दी में भी ऐसी कहावतें मिलती हैं। जैसे 'आशा में पड़े तो परमात्मा भी छूटे'।

मनुष्य अपने पास जो कुछ है उससे तृप्त नहीं होता। और अधिक पाने के लिए वह तड़पता रहता है। यह तो आपत्ति या दुःख को स्वयं मोल लेने के समान की बात है। अतः इन विपत्तियों से अपने को बचाने के लिए मनुष्य को अपने पास जो कुछ है उससे तृप्त होना चाहिए। तभी उसका दैनिक जीवन भी सन्तोष एवं शान्ति से पूर्ण रहेगा। उसे सोचना चाहिए -- 'अल्लाह जो दीन देवे सो वह भी कबूल है'। शायद मानव के कोई लोभ नहीं होते लेकिन यदि ईश्वर वह भी देने का प्रबन्ध करता है तो दोनों हाथों से उसे स्वीकार करना चाहिए। कोंकणी समाज में भी यह तथ्य माना गया है -- 'मेळ्ळोलें खाक्कुं घालाजु बोल्सांत' (जो मिला है उसे जेब में रखना चाहिए।) कहने का अर्थ है कि हमारे भाग्य में जो लिखा है वही होगा और हमें जो मिला है उससे संतुष्ट होना चाहिए। अपने को जो मिला है उससे सन्तुष्ट न होकर और भी मिलने के लोभ में पड़े रहने की प्रवृत्ति मानव के लिए शोभनीय नहीं है। वैसे ही किसी न किसी प्रकार हमारे धन के नष्ट हो जाने पर भी मनुष्य को दुःखी नहीं होना चाहिए। इसका कारण तो यह है कि सुख दुःख अस्थिर है और इसके पीछे पड़ना उचित नहीं है। धन और मान-पद किसी एक ही व्यक्ति के हाथ में स्थिर नहीं रहते। सुख दुःख भी

ईश्वर की देन है और ईश्वर मनुष्य को क्यों सुख देता है और क्यों दुःख । मनुष्य को उसे चुकी चुकी सहना है और अपने मन को इस प्रकार सान्त्वना देनी है कि 'गया सो गया जा सो गया' । जो कुछ हमारे हाथ से नष्ट हुआ है, उसे जाने दो । उसके पीछे रोने धोने से कोई फायदा नहीं । जो एक बार नष्ट हुआ है, वह फिर लौट नहीं आता । उसकी सोच से जाना तो व्यर्थ है और उसके पीछे पड़ने से तो अच्छा कार्य तो यह है कि हमारे पास जो बचा हुआ है, उससे तृप्त होना है । कोंकणी की एक कहावत है - 'गेलेलें गेलें मेळ्ळेलें मेळ्ळें' । (जो गया सो गया, जो मिला सो मिला) ।

इन कहावतों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मानवजीवन बहुत ही क्षणिक है और इस क्षणिक जीवन के सुख दुःख भी नश्वर है । कोई भी चीज इस संसार में अनश्वर नहीं है । इस संसार में आकर कोई भी अमर नहीं रहता, तथापि मनुष्य के किए कर्म उसके नाम को अमर बना देते हैं । अतः मानव शरीर की नश्वरता को ध्यान में रखकर मनुष्य को अच्छे कर्म करके इस संसार से मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए । ऐसे ही कुछ भलाई करने के लिए समाज व्यक्ति को यह सीख देता है, 'यह दुनिया दिन चार है संग न तेरे जाय ।
साईं का रख आसरा अरु करीहि नेह लगा ।।

यह संसार ही नश्वर है और यह किसी के साथ नहीं आयगा । इसलिए मनुष्य को ईश्वर का भरोसा करके उससे प्रीति करनी चाहिए । दुनिया में मनुष्य को चार पाँच दिन ही रहना पड़ता है और एक दिन उसे इस संसार को छोड़कर चला जाना है । उस समय यह संसार मनुष्य के साथ नहीं चलता । अर्थात् इस दुनिया के क्षणिक जीवन में जो कुछ धार्मिक कार्य हम कर सकते हैं उन्हें कर लेना चाहिए । क्योंकि मृत्यु के बाद भी हमारा साथ देनेवाले हमारे किए अच्छे कर्म ही होते हैं ।

दर्शन तथा लोकव्यवहारसम्बन्धी इन कहावतों के विवेचन से इस बात का पता चलता है कि हिन्दी तथा कोंकणी दोनों भाषाओं में दर्शन एवं लोकाचार की बातों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है । दोनों भाषाओं में व्यक्तियों को अपने जीवन में आदर्श का पालन करने की सीख दी गई है । साथ ही संसार के शाश्वत तत्वों को पूर्णतः पहचान परख कर अपने जीवन को सार्थक बना देने का उपदेश भी कहावतों के माध्यम से दिया गया है जिससे समाज भी सुव्यवस्थित तथा सुरक्षित हो सकता है ।

धर्माचरण और सामाजिक संस्कार

पहले ही कहा जा चुका है कि हिन्दू समाज पूर्णतः एक धार्मिक समाज है। इस धार्मिक समाज में धर्मानुसार आचरण करने की सीख भी दी जाती है। धार्मिक आचरणों में संस्कार का बहुत बड़ा महत्व है। संस्कारों का जन्म वैदिक काल या उससे पूर्व ही हो चुका था। मानो संस्कारों का संबन्ध मानव जन्म से इतना ठोस रहा है कि संस्कारों के अभाव में मनुष्य अधूरा सा लगता है। मात्र मानव जीवन को ही नहीं, अपि तु समाज को भी सुव्यवस्थित रखने में भी संस्कारों का बड़ा योगदान है। कहा जाता है कि संस्कार मनुष्य को संस्कृत बना देते हैं और मनुष्य की शुद्धि तथा योग्यता के लिए ही ये किये जाते हैं। मनुस्मृति में बतलाया गया है कि द्विजजातियों के बीज तथा गर्भ से उत्पन्न पाप गर्भावस्था में किए जानेवाले होम के द्वारा और जन्म के पश्चात् किए जानेवाले जातकर्म, चौल मौंजि के द्वारा शान्त हो जाते हैं।[1]

मनुष्य के गर्भधारण से लेकर उस की मृत्यु तक के कई संस्कार होते हैं और इसी हेतु संस्कारों की संख्या के संबन्ध में मतभेद प्रकट किए गए हैं। अंगिरस ने संस्कारों की संख्या पच्चीस मानी है जबकि गौतम के अनुसार ये चालीस हैं।[2] लेकिन बहुमत से संस्कारों की संख्या सोलह मानी गई है और ये संस्कार यों हैं -- गर्भाधान, पुंसवन, सीमान्तोन्नयन जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, कर्णवेध, विद्यारंभ, वेदारंभ केशांत, उपनयन, समावर्तन, विवाह, अन्त्येष्टि।[3]

हिन्दू तथा जैनों दोनों समाज भारतीय धार्मिक धारणाओं पर ही आधारित हैं। दोनों समाजों में धर्म के साथ उसके और एक प्रमुख अंग, संस्कार को भी महत्व दिया जाता है। व्यक्ति के गर्भधारण से लेकर उसकी मृत्यु तक के काल में दोनों समाजों में समयानुकूल कई संस्कार संपन्न किए जाते हैं। इन संस्कारों के संपन्न करने से समाज में कई मान्यताएँ भी

---

1. मनुस्मृति - अ. 2 श्लो. 27-28 ([illegible])
2. जैन साहित्य के ग्रन्थों पर आधारित भारतीय संस्कृति 5 -- पृ 55
3. हिन्दू संस्कार -- डा. राजबली पाण्डेय

प्रचलित है और परंपरागत रूप से चलती आनेवाली, मान्यताओं के आधार पर ही ये संस्कार संपन्न किए जाते हैं। समाज में प्रचलित संस्कारों का उल्लेख तो सामाजिक अभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम मानी जानेवाली कहावतों में कहीं कहीं प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप में मिलता है जिससे इस बात का पता चलता है कि दोनों समाज संस्कार को किस दृष्टि से देखा करते हैं। हिन्दी की एक कहावत है -- 'छठी का खाया पिया सब निकल गया' ।। प्रस्तुत कहावत किसी भी किसी कार्य में असफलता की ओर ही संकेत करती है, तथापि इसमें बालक जन्म के छठे दिन किए जानेवाले संस्कार का भी उल्लेख हुआ है। इसमें घर के द्वार पर कोयले आदि बनाकर पितरों की शान्ति का आयोजन किया जाता है। संस्कार की समाप्ति पर आमन्त्रित औरतों तथा बच्चों को भोजन दिया जाता है। कोंकणी समाज में यह विश्वास रहा है कि छठे दिन सृष्टिकर्ता बच्चे के माथे पर उसका भविष्य लिख देता है और इसी के अनुसार ही उस बच्चे की नियति निर्धारित की जाती है। समाज में विश्वास करनेवाले लोगों का कहना है -- 'सटवे बरयेलें तें कोण काडीत ?' (छठवें दिन जो लिखा है उसे कौन मेट सकता है)। इस दिन हमारे भाग्य में जो लिखा जाता है, लाखों प्रयत्न करने से भी उससे कोई बच नहीं सकता जैसे हिन्दी की और एक उक्ति है -- 'छठी के लेख'। संक्षेप में मानव जीवन की शुरुआत को सूचित करनेवाला यह दिन हिन्दू समाज में बड़े महत्व का रहा है।

नामकरण तथा कर्णवेध

नामकरण तथा कर्णवेध संस्कार बालक जन्म के बारहवें दिन किया जाता है। नामकरण संस्कार शुभ तिथि को देखकर पुरोहित के द्वारा बालक का नाम रखने का संस्कार है। नाम मंगलसूचक ही रहा करता है। उसी दिन कर्णवेध संस्कार भी संपन्न किया जाता है। ये दोनों संस्कार उत्सव के रूप में मनाए जाते हैं और उस दिन सभी संबन्धियों और मित्रों को बुलाकर फल, मेवे, मिठाइयाँ आदि बाँटे जाते हैं। हिन्दी में इस संस्कार की ओर संकेत करनेवाली कहावत है -- 'वो गुड़ खाय जो कान छिदाय'। यह उक्ति प्रायः बच्चों को लक्ष्य करके कही जाती है। कान छेदते समय बच्चे दर्द से रोया करते हैं और उनसे कहा जाता है कि यदि कनछेदन हो जाय तो मीठा खाने को मिलेगा। इस कहावत में एक सामाजिक सत्य का उल्लेख भी मिलता है कि जो [illegible] कष्ट उठाता है उसे अच्छा फल मिलता है।।

अन्नप्राशन

बच्चा जब छः मास का होता है तो उसे भोजन देना आरंभ किया जाता है। प्रथम बार खिलाने की प्रक्रिया को संस्कार का रूप दिया गया है। इसे अन्नप्राशन कहा जाता है। भारतीय धारणा के अनुसार अन्न को देवता माना गया है। इसलिए वैदिक मन्त्रों को पढ़कर बच्चे को भात, दही, मधु और घी का मिश्रित भोजन दिया जाता है। कोंकणी समाज में एक कहावत भी मिलती है --' बच्चा उष्टि कोनथि) (अन्नप्राशन के कौर के समान न हो किसी महत्वपूर्ण कार्य को करते समय कभी उस कार्यविधि को लक्ष्य करके ऐसा कहा जाता है। अन्नप्राशन के संस्कार में प्रथम बार पिता पुत्र को भोजन देता है। उस समय छोटे बच्चे के मुँह में भोजन नहीं डाला जाता, वरन् उसे मुख फिराकर पीछे की ओर से हाथ घुमाकर मुँह में डाल दिया जाता है। अन्नप्राशन का यही विधान है। किसी महत्वपूर्ण कार्य को करते समय इस विधि को अपनाने से समय नष्ट होने की संभावना है। अतः इस कार्यविधि की कठिनाई को यहाँ सूचित है।

उपनयन

उपनयन संस्कार का संस्कारों में प्रमुख स्थान है। शिक्षा ही इसका प्रमुख प्रयोजन है और ब्राह्मण, क्षत्रिय, तथा वैश्य वर्ण के लोग ही इस संस्कार के अधिकारी माने जाते हैं। इस संस्कार में यज्ञोपवीत या जनेऊ पहनाया जाता है। माना जाता है कि इसी संस्कार के संपन्न होने से व्यक्ति दूसरा जन्म लेता है और इसीलिए उन्हें द्विज कहा गया है। उपनयन के बाद द्विज लोग अपने शरीर पर मन्त्रपूरित सूत धारण कर लेते हैं जिसे यज्ञोपवीत नाम से पुकारा जाता है। इसीकी ओर संकेत है, निम्नलिखित कहावत में --' बामन हुए तो क्या हुए गले लपेटा सूत '। ब्राह्मण लोग तो उच्च वर्ण के लोग हैं और वे द्विज भी हैं। इसलिए उपनयन संस्कार के बाद जनेऊ पहनना उनके लिए वांछनीय है। लेकिन मात्र जनेऊ पहनने से कोई ब्राह्मण नहीं होता। सच्चा ब्राह्मण तो वही होता है जो अपने लिए निर्धारित कर्मों का पालन करते हुए अपना जीवन बिताता है। अपने कर्म से विचलित होकर चलनेवाले ब्राह्मणों की हँसी उड़ाते हुए उपर्युक्त कहावत समाज में प्रचलित होती आई है। केवल जनेऊ गले में डाल देने से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता है, उसे तो ब्राह्मण के कर्म भी करने चाहिए। प्रस्तुत कहावत में सीधे न सही, व्यंग्य के रूप में उपनयन संस्कार और जनेऊ धारण की ओर संकेत मिलता है।

G3471

विवाह

संस्कारों में अधिक महत्व विवाह को ही दिया जाता है। व्यक्ति को गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट करा देना, देवकार्य करने का अधिकार प्राप्त कराना, तथा पुत्रानुक्रम के लिए संतानप्राप्ति कराना, यही विवाह का उद्देश्य रहा है। मनु के अनुसार विवाह के उद्देश्य है -- अपत्यजन्म, धर्मकार्यों को करने की क्षमता, उत्तम रति और पितरों और अपने लिए स्वर्गप्राप्ति।[1]

विवाह संस्कार को संपन्न कराने के कई विधान होते हैं जैसे वर वधू का चुनाव, उनकी योग्यताओं की परख, जन्मपत्री का मेल देखना आदि। वर वधू के चुनाव के साथ उनकी जन्मपत्री का मेल भी देखा जाता है। उनमें मेल देखने से ही विवाह का कार्य आगे बढ़ जाता है। लोगों का विश्वास है कि जन्मपत्री न मिल जाए तो विवाह के बाद पति पत्नी का जीवन शांतिपूर्ण नहीं रहेगा। इस प्रकार विवाह में जल्दबाजी करनेवालों को समाज की चेतावनी है - 'जन्मपत्र भी मिल ही मिला लो'। जल्दी न की जाए, पहले तो यह देखना है कि जन्मपत्रियों में मेल होगा या नहीं। जब उनके गुण ज्योतिष के अनुसार बराबर मिल जाते हैं तभी विवाह पक्का किया जाता है। जन्मपत्री देखे बिना विवाह तय नहीं करना चाहिए। हिन्दी के साथ ही कोंकणी समाज में भी विवाह तय करने के पहले जन्मपत्रियों का मेल देखने की प्रथा प्रचलित है। यहीं तो पति पत्नी के मेल को सूचित करनेवाली निम्नलिखित कहावत प्रचलित है -- ' बर्बिंदै म्हाक तेर्बिंदे बाबा '। (बारह बेर के बाबा को तेरह बेर की पत्नी) इसमें जन्मपत्री की बात सीधे नहीं बताई गई है, बल्कि व्यावहारिक जीवन में पति पत्नी की समता और समानधर्मिता का चित्रण उस ओर संकेत करता है।

जन्मपत्री देखने की तरह वर तथा वधू की उम्र पर भी विचार किया जाता है। प्रायः वधू वर से भी आयु में छोटी होनी चाहिए। तेरह वर्ष के बाद ही कन्या विवाहयोग्य हो जाती है। उससे भी छोटी आयु की कन्या से विवाह सफल नहीं होता। इस संबंध में हिन्दी की एक उक्ति है -- 'तिरिया तेरह मर्द अठारह'। जब कन्या तेरह वर्ष की और पुरुष अठारह वर्ष के होते हैं तभी वे विवाह के योग्य होते हैं। जब कभी कन्या आयु में वर से भी बड़ी होती है तो व्यंग्य की झलकी देते हुए कहा जाता है -- 'बड़ी बहू बड़ा भाग छोटे बनड़ो घणो सुहाग'।

---

1. मनुस्मृति - अ - 9 श्लो. 28

विवाह के दिन वरपक्ष की बारात कन्या के घर आती है। प्रायः उस बारात में दूल्हे के पीछे ही उसके सगे संबन्धी तथा मित्र चलते हैं। हिन्दी की निम्न कहावत में इसका उल्लेख भी हुआ है -- 'दूल्हा के पाछल बरात'। दूल्हा के चलने पर ही उसके पीछे बारात चलती है। यदि अव्यवस्था में कोई आगे चले तो हिन्दी समाज में कहा जाता है -- 'कोराल बतलम कोतकि बिसरोनु गेलि।' (जब बारात आगे चली तो दूल्हे को तब भूल गये।) अपनी ही कन्या के घर पहुँचने की सोच से सब यह भूल गए कि दूल्हा बारात के आगे है या नहीं। अर्थात् सभी को अपनी अपनी पड़ी है, दूसरों के संबन्ध में सोचना उनके बस की बात नहीं। यह कहावत भी बारात में दूल्हे के आगे आगे जाने के आचार की ओर संकेत करती है।

विवाह के लिए एक मंडप बनाया जाता है और उसी मंडप में दूल्हा दुल्हिन को बिठाया जाता है। उनके निकटसंबन्धी कोहबर में बैठ सकते हैं और वे भी बहुत कम। दूसरे लोग मंडप के बाहर ही बैठते हैं। विवाह के इस विधान की ओर संकेत करनेवाली एक कहावत भी मिलती है -- 'जितना मंडप में आवेला उतना कोहबर में न आवे'। सारा मंडप तथा उसके चारों ओर जितने लोग बैठ सकते हैं उतने लोग कोहबर में बैठ नहीं सकते। कोहबर वह स्थान होता है जहाँ विवाह के समय कुलदेवता स्थापित किए जाते हैं। इस स्थान पर केवल निकट संबन्धी ही बैठते हैं। इस कहावत में विवाह संबन्धी प्रथा की ओर संकेत किया गया है और इससे यह अर्थ भी निकलता है कि सभी स्थान सब आदमियों के बैठने योग्य नहीं होते। कहने का अर्थ है कि अपनी अपनी योग्यता के अनुसार ही व्यक्तियों को समाज में स्थान दिया जाता है।

विवाह में 'चौक चढ़ाना' ऐसी एक प्रथा है। जब कन्या मंडप में बिठलाई जाती है तो वरपक्ष की ओर से घर की माँ कन्या को वस्त्र तथा आभूषण पहनाती है। यह तो एक प्रकार से कन्या का आदर करना है। इस प्रथा का उल्लेख हिन्दी की निम्नलिखित कहावत में हुआ है यद्यपि यह कहावत प्रमुखतः मानव स्वभाव की ओर संकेत करती है। 'कुत्ता चौक चढ़ाए, चमड़ी चाटन जाए'। यदि कुत्ते को आदरपूर्वक चौक में बिठाया जाए तो भी वह हड्डी चाटने को जाता है। मनुष्य का नैसर्गिक स्वभाव तो कभी बदलता नहीं है।

विवाह का और एक अंग है वर वधू का एक दूसरे के हाथ का कंगन खोलना। यह कंगन लाल धागे का होता है। हिन्दी समाज में शादी के दिन पहने हुए कंगन की गाँठ तो विवाह के दिन खोली जाती है। इस नेग का उल्लेख निम्नलिखित कहावत में भी हुआ है -

'गाँठ खुले न बहुरिया दुलरब'। यह इसको सूचते है कि वर के साथ की गाँठ को नहीं खोल सकती है।

विवाह की धूम धमाका में दूल्हा दुल्हन के साथी लोग तो पूरी तरह मग्न रहते है। दूल्हा दुल्हन की अपेक्षा वे ही विवाह के दिन विभिन्न क्रियाएँ करते है, साथ ही वे विवाह के पूरा मजा भी उठाते है जिसे देखकर लगेगा कि विवाह तो उन्हीका हो रहा है। विवाह में उनकी जो तल्लीनता रहती है उस ओर संकेत करनेवाली कहावत है -- 'ब्याह न किया तो बारात तो गए है'। बारात में जानेवाले लोग तो अपने आप को बड़ा मानने का प्रयास करते रहते है। वे इस प्रकार का व्यवहार करते है कि विवाह तो खुद उनका हो है। कोंकणी समाज में ऐसी एक प्रथा है कि वर या वधू के साथ एक छोटे लड़के या छोटी लड़की को सहबाला कहकर बिठाया जाता है। उस लड़के या लड़की को कोंकणी में 'ओवळो' और 'ओवळि' कहा जाता है। हिन्दी में इसे विनायक बैठना कहते हैं। इस ओर संकेत करनेवाली कोंकणी की एक कहावत है -- 'ओवळल जालीना जल्यारीय ओवळि जालीत अस' (दुल्हन न बनी तो क्या, सहबाला तो बनी है) इस छोटे से लड़के को हिन्दी समाज में गणेश का प्रतिरूप माना जाता है जो विघ्नहारी माना जाता है।[1] विवाह की प्रमुख क्रियाओं के समाप्त होने तक यह आदर बना रहता है।

विवाह संस्कार में ब्राह्मण पुरोहित का बड़ा महत्व रहता है। विवाह के सफलतापूर्वक संपन्न होने में ब्राह्मण का बड़ा हाथ रहता है। जन्मपत्री देखने की क्रिया से लेकर विवाह-संबन्धी अनेक धार्मिक क्रियाओं में ब्राह्मण का विशेष महत्व रहता है। क्योंकि विवाह ऐसा एक मांगलिक अवसर है जो बिना किसी प्रतिबन्ध के आगे बढ़े और सफलतापूर्वक निर्विघ्न निर्वाह हो। ब्राह्मण पुरोहित इसमें सहायक रहता है। वह पत्रा देखकर अच्छा या शुभ समय निर्धारित करता है और विभिन्न पूजाक्रियाओं का निर्देश करता है जो विवाह को सफलतापूर्वक आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध हो।[2] हिन्दी की कहावत है -- 'जो बाभन की जीभ पर सो बाभन की पोथी में'। प्रस्तुत कहावत ब्राह्मण निन्दा के रूप में ही अधिकांशतः प्रचलित है, फिर भी यह विवाह में ब्राह्मण पुरोहित के प्रमुख स्थान की ओर अवश्य संकेत करती है।

---

1. Marriage, Religion and Society p. 79
2. do do do p. 130

किसी भी विवाह में ब्राह्मण पुरोहितों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। वह ब्राह्मण-दान से अनुमानित रहता है। गृहस्थ की आर्थिक स्थिति के अनुसार भिन्न प्रकार के दान ब्राह्मण को मिलते हैं। कन्या का दान इसमें बड़े महत्व का है। भोजपुरी कहावत - 'कोल्हू मोरो कोरेलु मोरो कट्टाति पीठ लट्टाबु पोठो' इस ओर संकेत करती है। प्रस्तुत कहावत भी ब्राह्मण भिक्षा को ही लेकर चलती है। लेकिन इसमें भी विवाह में ब्राह्मण पुरोहितों की महत्ता और उसे मिल जानेवाले दान की ओर संकेत मिलता है।

विवाह में दहेज प्रथा भी बड़ी प्रभावशाली रहती है। लड़की के ब्याह में देने के लिए पिता को बहुत कष्ट सहने पड़ते हैं। उसको बहुत अधिक खर्च करना पड़ता है। कभी कभी अपनी बेटी की शादी में अपना घर बार तक बेचने की नौबत कई पिताओं को आती है। दहेज प्रथा के इस दोष को समाज में इस तरह उभारा गया है। 'बेच बेच मेरो बछिया का ब्याह'। लड़की के ब्याह में प्रायः बहुत खर्च करने के लिए घर की संपत्ति बेचनी पड़ती है। लेकिन कोई गरीब पिता हो जिसके पास अपनी बेटी के लिए देने में कुछ नहीं रहता, उसका अपनी बेटी से कहना है --'अम्मन किसन मा मो पुवे किलेन धरि मा मालीक मालीक मार्नु बाबर सजीत जा'। (बेटी, मेरे पास तुम्हें देने के लिए कोई संपत्ति नहीं है। इसलिए तुम अपनी जिह्वा के बल पर अपने सास ससुर को अपने वश में कर ले) भोजपुरी समाज में दहेज की प्रथा प्रचलित रहते हुए भी वह तो इतनी प्रमुख नहीं मानी जाती। फिर भी लड़कियों को ब्याह में देते समय दहेज के रूप में कुछ देना ही पड़ता है। इस प्रकार देने के लिए किसी गरीब पिता के पास कुछ नहीं रहता तो वह उक्त कथन कह उठता है। इस कहावत के दो अर्थ निकाले जा सकते हैं - एक अर्थ है बेटी को पिता की सीख है कि अपनी मीठी बोली से तथा स्नेहपूर्ण व्यवहार से अपने सास ससुर को अपने वश में कर ले जिससे वे अपनी बहू को दहेज न मिलने के कारण सताएँ। दूसरा अर्थ है सास ससुर को डाँट फटकार ठीक करना।

विवाह का उद्देश्य परिवार का विस्तार माना जाता है। विवाह के बाद बहू अपने पति के परिवार से एकाकार हो जाती है। यह हिन्दी और भोजपुरी समाजों में समान रूप से होता है। विवाह के बाद अपने पिता और संबंधियों से उसका सारा बन्धन न टूट

जाता है ।[1] कोंकणी कहावत - '[illegible]' (पति के घर का सब कुछ नष्ट हो जाता है तो पिता की संपत्ति बढ़ी जाती है ।)

इस प्रकार विवाह संबन्धी मान्यताओं को अभिव्यक्त करनेवाली कहावतें हिन्दी तथा कोंकणी समाज में मिलती हैं यद्यपि उनकी संख्या कम रही है । दोनों भाषाओं की कहावतें कभी एक ही भाव को व्यक्त करती हैं तो कभी भिन्न भाव को ।

अन्त्येष्टि

हिन्दुओं के जीवन का अन्तिम संस्कार है अन्त्येष्टि जिसके साथ अपने ऐहिक जीवन का अन्तिम अध्याय समाप्त हो जाता है । यह तो एक धार्मिक विधान है । अन्त्येष्टि संस्कार इसीलिए किया करते हैं कि इस लोक के जीवन के बाद परलोक में भी मनुष्य की आत्मा का कल्याण हो जाय । मरणोत्तर होने पर भी इस संस्कार की महत्ता है क्योंकि हिन्दुओं के लिए इस लोक की अपेक्षा परलोक ही मूल्यवान तथा उच्चतर है । वैदिक काल से ही लोग अन्त्येष्टि क्रियायें करते आये हैं ।[2] प्राचीन काल में शव का जल-निखात या नदी अथवा समुद्र में शव को बहा देने की प्रथा थी और इसका प्रयोजन यही बताया गया है कि यही मृतात्मा की मुक्ति के लिए सरलतम उपाय है । इसके अतिरिक्त शव से छुटकारा पाना तथा उसे अपने जीवित संबन्धियों को पीड़ित करने के लिए लौट आने से रोकना भी है । कहा गया है कि जल में साधारणतः दुष्टात्माओं को भयभीत कर भगा देने की शक्ति है ।[3] लेकिन जब कालान्तर में यज्ञों को पूर्ण प्रतिष्ठा मिल गई तब अन्त्येष्टि भी यज्ञ समझी जाने लगी और यहीं से शव के दाह की प्रथा प्रचलित हो गई । मृत व्यक्ति की प्रेतत्व से मुक्ति की कामना इस प्रथा का प्रयोजन रहा है ।[4]

---

1. Marriage, Religion and Society p.112
2. हिन्दू संस्कार- डा राजबली पाण्डेय पृ 300
3. Encyclopaedia of Religion and Ethics Part 4 p. 241
4. हिन्दू संस्कार- डा. राजबली पाण्डेय पृ 306

अन्त्येष्टि क्रियाएँ कई प्रकार की होती है। वैदिक काल से ही विभिन्न वर्णों के लिए इस की विभिन्न व्यवस्थाएँ निर्धारित की गई है। हिन्दी तथा कौरवी दोनों समाजों में भी अन्त्येष्टि क्रियाएँ की जाती है और शव का दाह संस्कार ही इनके लिए प्रमुख है।

हिन्दी तथा कौरवी समाज में मरते हुए व्यक्ति को खाट से उतारकर नीचे लिटाया जाता है। खाट पर मरना अच्छा नहीं समझा जाता। नीचे लिटाकर उसे स्नान कराया जाता है औ दिया जलाकर भगवद्गीता जैसे पवित्र ग्रन्थों को पढ़ाया जाता है। उस व्यक्ति के मुख में तुलसी के दल में रखा हुआ गंगाजल भी पिलाया जाता है। 'मरे न मांचा ले'। प्रस्तुत हिन्दी कहावत में मरनेवाले को नीचे लिटाने की बात ही व्यक्त की गई है। कभी कभी ऐसा लि हुआ व्यक्ति जल्दी ही नहीं मर जाता। उस समय ही ऐसा कहा करते है कि न मरता है और न आराम से चारपाई पर ही लेटता है। खाट से नीचे लिटाये गये व्यक्ति के न जाने पर ही लोगों के मुँह से ऐसी उक्ति निकलती है।

मृत्यु के बाद शव के स्नान की व्यवस्था रहती है। स्नान के बाद शव को वस्त्र से आच्छादित करने का नियम भी है। इसके अनुसार उसको वस्त्र तथा मालाओं से ढक दिया जाता है। साथ ही शव के ऊपर कलावा, मखाना जैसे पुष्पहार है और शव को श्मशान ले जाने के पहले कुछ व्यक्तियों के संग संबंधियों से शव का जाता है। हिन्दी एवं कौरवी समाज में दाहक्रिया श्मशान में ही की जाती है। एक कहावत में श्मशान का उल्लेख भी हुआ है -- 'मरौंगो सोचि मसानु बसना (मरेगा ऐसा सोचकर क्या कोई पहले ही श्मशान में आकर बैठता है?) मरते व्यक्ति को श्मशान में ले जाया जाता है, न कि मरने के पहले। इस कहा भी उभर आता है कि जो नहीं हुआ है या होनेवाला है उसके लिए पहले ही जाती है।

जब शव को श्मशान में ले जाने का वक्त आता है तब कुछ व्यक्ति पहले से भी अधिक जोर से विलाप किया करते हैं। उनसे कहा जाता है नहीं आता'। विलाप करनेवालों को सान्त्वना दी जाती है कि मरे है क्योंकि जो एक बार मरता है, वह फिर नहीं लौट आता। इसी से निम्नलिखित कहावत के द्वारा भी व्यक्त किया गया है -- 'मैलौ

(क्या मुर्दा अब फिर उठकर भागेगा)। इन दोनों बातों की कहावतों में मनुष्य की नश्वरता की ओर संकेत किया गया है। इनमें दार्शनिकता की झलक भी मिलती है।

शव को जब श्मशान ले लिया जाता है तो मृत व्यक्ति के घर में, विशेषतः जिस कमरे में शव को लिटाया गया था, झाड़ू लगाया जाता है। घर में किसी बड़े बूढ़े की मृत्यु हो जाय तो उसकी बड़ी बहू को ही वहाँ झाड़ू लगाने का अधिकार होता है। इस क्रिया को स्पष्ट करनेवाली कहावत कोंकणी समाज में भी प्रचलित है -- 'सार्णि सोर्थि काडप ' (हाथ में झाड़ू और छाज लेना) झाड़ू से झाड़ू लगाकर कूड़ा छाज में रखकर झाड़ू और छाज दोनों बाहर फेंक आते हैं।

श्मशान में चिता तैयार की जाती है और इसी चिता पर शव को रखकर आग लगाई जाती है। इस प्रकार शव को चिता पर रखने की व्यवस्था का उल्लेख कोंकणी की निम्नलिखित कहावत में भी मिलता है -- 'चीटचेर दवर्तलोंय विसोर्नां ' (जो दुर्व्यवहार किसी के प्रति किया जाता है वह चिता पर रखने पर भी भूला न जायेगा।) अर्थात् लोगों का यह विश्वास है कि मर जाने के बाद हम सब भूल जाते हैं। जैसे जो कोई किसीके साथ कटु व्यवहार करे तो उस व्यक्ति का कहना है कि वह तो वह बात क्यों भूल नहीं पायेगा और चिता पर रख देने से जब उसका शरीर जल जायेगा तो भी वह याद उसकी आत्मा में क्यों रहेगी। । यहाँ पर अन्त्येष्टि संस्कार की ओर ही कहावत के द्वारा संकेत मिलता है।

जिस घर में मृत्यु होती है उस घरवाले तथा मृत व्यक्ति के सगे संबन्धियों के लिए सूतक रहता है। इसी कारण दूसरे लोग मृतक के घर से कुछ खाते पीते नहीं हैं। इस धारणा की ओर संकेत करनेवाली कोंकणी कहावत है - 'मेलेले घरि केन उदक पियुंक नज्ज '। (जिस घर में मृत्यु हुई है वहाँ से पानी तक नहीं पीना चाहिए)।

शवदाह के बाद जो लोग अर्थी के साथ श्मशान तक जाते हैं उनको स्नान करके अपने को पवित्र बनाने की प्रथा प्रचलित है। इस स्नान के अन्त में मृतात्मा की तृप्ति के उद्देश्य से उदकक्रिया या प्रेततर्पण करने का विधान है।[1] इसके बाद सगे संबन्धियों को अशौच का पालन करना पड़ता है। दूर संबन्धियों के लिए यह अशौचकाल निकट संबन्धियों की अपेक्षा

---

1. महाभारत - स्त्री पर्व अ. 26 श्लो. 44 वही अनुशासन पर्व अ. 168 श्लो. 19

अन्त्येष्टि क्रियायें कई प्रकार की होती हैं। वैदिक काल से ही विभिन्न वर्णों के लिए शव की विभिन्न व्यवस्थाएँ निर्धारित की गई हैं। हिन्दी तथा कोंकणी दोनों समाजों में भी अन्त्येष्टि क्रियायें की जाती हैं और शव का दाह संस्कार ही इनके लिए प्रमुख है।

हिन्दी तथा कोंकणी समाज में मरते हुए व्यक्ति को खाट से उठाकर नीचे लिटाया जाता है। खाट पर मरना अच्छा नहीं समझा जाता। नीचे लिटाकर उसे स्नान कराया जाता है और दिया जलाकर रामचरितमानस जैसे पवित्र ग्रन्थों को पढ़ाया जाता है। उस व्यक्ति को घर में गाय के दूध में रखा हुआ गंगाजल भी पिलाया जाता है। ' मरे न माचा ले '। प्रस्तुत हिन्दी कहावत में मरनेवाले को नीचे लिटाने की बात ही व्यक्त की गई है। कभी कभी ऐसा लिटाया हुआ व्यक्ति जल्दी ही नहीं मर जाता। उस समय ही ऐसा कहा करते हैं कि न मरता है और न आराम से चारपाई पर ही लेटता है। खाट से नीचे लिटाये गये व्यक्ति के बहुत दिन जीने पर ही लोगों के मुँह से ऐसी उक्ति निकलती है।

मृत्यु के बाद शव के स्नान की व्यवस्था रही है। स्नान के बाद शव को अच्छी तरह आच्छादित करने का नियम भी है। इसके अनुसार रेशमी वस्त्र तथा मालाओं से शव को ढक दिया जाता है। साथ ही शव के ऊपर नारियल, बतासा जैसे पुष्पमाल्य रखे जाते हैं और शव को श्मशान ले जाने के पहले मृत व्यक्तियों के सगे संबन्धियों से शव का प्रणाम कराया जाता है। हिन्दी एवं कोंकणी समाज में दाहक्रिया श्मशान में ही की जाती है। कोंकणी की एक कहावत में श्मशान का उल्लेख यों हुआ है --'मोर्लेलो म्होणु मसणांतु वचून असा वे ?' (मरेगा ऐसा सोचकर क्या कोई पहले ही श्मशान में जाकर बैठता है ?) मरने के बाद ही व्यक्ति को श्मशान में ले लिया जाता है, न कि मरने के पहले। इस कहावत में वह भाव भी उभर आता है कि जो नहीं हुआ है या होनेवाला है उसके लिए पहले ही तैयारी नहीं की जाती है।

जब शव को श्मशान में ले जाने का वक्त आता है तब मृत व्यक्ति के सगे संबन्धी पहले से भी अधिक जोर से विलाप किया करते हैं। उनसे कहा जाता है -'मरते के साथ मरा नहीं जाता'। विलाप करनेवालों को सान्त्वना दी जाती है कि मरे हुए के लिए रोना व्यर्थ है क्योंकि जो एक बार मरता है, वह फिर नहीं लौट आता। इसी भाव को कोंकणी समाज में निम्नलिखित कहावत के द्वारा यों व्यक्त किया गया है --'मेलेले मोडे उट्टायते वे ?'

कम रहता है। इसकी अवधि मृतक की आयु और लिंगभेद के अनुसार भिन्न भिन्न होती है। लेकिन साधारणतः यह बारह दिन के लिए रहता है और बारहवें दिन शुद्धिकर्म किया जाता है। अशौच की अवधि में पिण्डदान भी किया जाता है। यह अन्त्येष्टि क्रिया का अन्तिम भाग है। यह तो मृतक को भोजन देने और पितरों के स्थायी आवास की ओर उसके मार्गदर्शन के उद्देश्य से ही किया जाता है। मृत्यु के पश्चात् प्रथम दिन में भी मृतक के लिए पिण्डदान किया करते हैं। 'मेलोले अम्मा पिण्ड वाडप' (मृत माँ के लिए पिण्डदान) कोंकणी की प्रसुप्त उक्ति में पिण्डदान की ओर संकेत है। शिरपिण्ड तो चावल के गोले को ही कहा जाता है और वह प्रेत के शरीर या पिण्ड के अवयवों का पूरक माना जाता है।[1] इसे चावल के इस पिण्ड के साथ उसकी तृप्ति के लिए जल भी गिराया जाता है और प्रेत का नाम लेकर पुकारा जाता है। इस के बाद बारहवें दिन तक प्रत्येक दिन विशेष प्रयोजन के लिए खास प्रकार के पिण्डदान का विधान भी शास्त्रों में रहा है। इसके बाद तेरहवें दिन सभी संबन्धियों तथा दूसरे लोगों को बुलाकर भोजन दिया जाता है। उस दिन खास प्रकार के कई खाद्य पदार्थ भी बनाए जाते हैं। कोंकणी की एक कहावत में इसका उल्लेख भी हुआ है -- 'बापु मेलो म्हणु म्हाय रडता सीरो खावंचाक रडता' (बाबा मर गया, इसलिए नहीं रोता हूँ, रो रहा है तेरहवें दिन बनाये जानेवाले खाद्य पकवान 'सीरं' खाने के लिए)। तेरहवें दिन भोजन के लिए विशिष्ट अवसरों में उड़द की दाल से बनाया जानेवाला एक प्रकार का पकवान होता है। इस कहावत से यही भाव निकलता है कि अपने लोगों की मृत्यु पर नहीं, और मृ उसके बाद जो कुछ मिलनेवाला है उसे पाने के लिए ही लोग अधिक कोशिश करते हैं। संपत्ति का बँटवारा भी इसी संदर्भ में आता है।

मृतक के लिए श्राद्ध संपन्न करना भी एक मुख्य क्रिया है। श्राद्ध करने से मनुष्य पितृऋण से मुक्ति पा लेता है। श्राद्ध से पितरों की तृप्ति होती है जिसके फलस्वरूप श्राद्धकर्ता उत्कृष्ट सन्तान, उत्तम स्वास्थ्य तथा अटूट संपत्ति का अधिकारी भी बन जाता है। हिन्दी तथा कोंकणी समाज में भी श्राद्ध का महत्व रहा है जिसका उल्लेख उनकी कहावतों में

---

1. पारस्कर गृह्यसूत्र - 3-10-27,28

दिया जाता है। हिन्दी की कहावत है - 'जियत न माने पितृ और मुए करे श्राद्ध'। यह कहावत तो उस कपूत पुत्र की ओर व्यंग्य करते हुए भी समाज में प्रयुक्त होती है जो अपने जीवित पिता की ओर जिस पर ध्यान न दे और उसके मर जाने पर उसके लिए श्राद्ध व तर्पण करके अपने को बड़ा मानता है। कोंकणी समाज में भी ऐसे पुत्रों की कमी तो नहीं है। इसलिए उनकी हँसी उड़ाने के लिए समाज उनकी ओर ऐसे व्यंग्यबाण छोड़ता है -- 'जीवंतपणीं दिलेना दोना अन्न, मेलेल्यार पिंड दान' (जो जीवित है उसे मांगने पर भी खाने को नहीं देता और जो मृत है उसके लिए पिण्डदान या दान के साथ श्राद्ध भी करता है)। हिन्दी एवं कोंकणी की इन कहावतों में श्राद्ध करने का उल्लेख तो मिलता है तथापि ये कहावतें अधिकांशतः व्यंग्यभाव पर ही बल देती हैं।

निष्कर्ष

हिन्दी तथा कोंकणी समाज में प्रचलित धार्मिक धारणाओं का अध्ययन उनकी कहावतों के माध्यम से करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दोनों समाजों के धार्मिक आचरणों में एक प्रकार की समानता रही है। धर्म के व्यावहारिक स्वरूप को बतानेवाली कहावतें ज्यों हिन्दी भाषा में अधिक मिलती हैं त्यों कोंकणी भाषा में। फिर भी ईश्वरसंबन्धी तथा पाप-कर्मसंबन्धी कहावतें दोनों भाषाओं में खूब मिलती हैं। ऐसी कहावतें कभी एक ही भाव को व्यक्त करती हैं तो कभी भिन्न भावों को। संस्कारों के संबन्ध में दोनों भाषाओं में बहुत ही कम कहावतें मिलती हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि दोनों समाजों में संस्कारों को उतना महत्व नहीं दिया गया है। दोनों समाजों में षोडश संस्कारों का विधान तो मिलता है लेकिन इस का प्रतिफलन कहावतों में नहीं देखा जाता। वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि हिन्दी तथा कोंकणी दोनों समाजों का निर्माण भारतीय समाज की नींव पर ही हुआ है और इसलिए दोनों समाज धार्मिक रहे हैं। धर्मानुसार आचरण करने की सीख दोनों समाजों के लोगों को दी गई है। यह बात समाज में प्रचलित कहावतों के ज़रिये व्यक्त होती है। दोनों भाषाओं की धार्मिक कहावतों में जो ऊपरी तौर पर भाषागत भिन्नता दिखाई पड़ती है तथापि उनकी अन्तर्मुखी भावना एक ही रही है।

पाँचवाँ अध्याय

हिन्दी तथा डोगरी कहावतों में प्रतिबिम्बित नीति एवं व्यवहार

हिन्दी तथा तेलुगु कहावतों में प्रतिफलित नीति एवं व्यवहार

समाज और नीति

जीवन में नीति का बहुत बड़ा स्थान रहा है। जीवन तथा नीति के बीच एक अटूट संबन्ध भी है। नीति के पालन से मनुष्य का जीवन-स्तर उच्च बन जाता है। समाज में नैतिकता का प्रयोजन यही है कि नैतिकता ही समाज को व्यवस्थित रखने में सहायक होती है, परन्तु नैतिक मान्यताओं के प्रति समाज में अनास्था उत्पन्न होने पर सामाजिक सन्तुलन में प्रतिकूल व्यवधान आते हैं। अतः नैतिकता का पालन सभी वर्गों और व्यक्तियों के लिए समान रूप से अपेक्षित है।

प्राचीनकाल से ही नीति को सामाजिक जीवन में स्थान दिया गया है और 'नीति' शब्द के अर्थ का विवेचन करते हुए उसकी कई परिभाषाएँ भी दी गई हैं। नीति का अर्थ है 'आगे ले जाना'। मनुष्य के समस्त क्रिया-व्यापार, व्यवहार तथा ज्ञान, चाहे वे किसी भी क्षेत्र के हों, मनुष्य को आगे ले जाने में सहायक होते हैं। यही क्रियायें नीति के अन्तर्गत आती हैं। कहने का मतलब है कि मानव को अपने जीवन में आचरण करनेवाला जो तत्व है वही नीति है। नीति शब्द का प्रचलित अर्थ भी इसी तथ्य को प्रकट करता है। लोक-मर्यादा के अनुसार व्यवहारपद्धति, राज्य तथा राष्ट्र के संरक्षण एवं संवर्द्धन के लिए निर्धारित रीति या व्यवहार, राजविद्या, आचार पद्धति, धर्मभावना, जिससे निज हित हो और दूसरों को हानि न पहुँचे, किसी कार्य को ठीक ढंग से पूरा करने के लिए की जानेवाली युक्ति या उपाय, यह सब नीति के अन्तर्गत आता है। नीति के इस अर्थ को लेकर उसकी परिभाषा भी दी गई है -- 'देश काल तथा पात्रानुसार समाज की अभ्युन्नति, प्रगतिपूर्वक, व्यक्ति के नैतिक तथा अलौकिक अभ्युदय के लिए मान्यतात्मक आभ्यन्तर एवं बाह्य विधिनिषेधमूलक आचारविधान का नाम ही नीति है।' [1] व्यक्ति की चेतनता और नैतिकता में घनिष्ठ संबन्ध बताते हुए

---

1. तुलसीदास के काव्य में नैतिक मूल्य - डा. धरमलाल शर्मा पृ. 27

नीति के संबन्ध में कहा गया है कि नैतिक कार्य वही होते है जो केवल गुण से और कर्तव्य की भावना से किए गए हों ।[1] इन परिभाषाओं के अध्ययन से यही बात स्पष्ट हो जाती है कि धर्मानुसार आचरण करना, शिष्टाचार करना, आश्रम तथा धर्मानुसार जीवन यापन करना, प्रजा के सर्वांगीण उत्थान में राजा का सहयोग देना, धर्म के प्रतिकूल चलनेवालों को दण्ड देना आदि नैतिकता के प्रमुख तत्व होते है । इस दृष्टि से नीति का धर्म से अटूट संबन्ध है ।

समाज में नीति का महत्व

मानव-संस्कृति के विकास में सदाचार एवं सद्व्यवहार का अनादिकाल से महत्व रहा है । सदाचार के बिना सुसंस्कृत एवं सुशिष्ट सामाजिक जीवन असंभव होता है और वैयक्तिक जीवन में सुख और शान्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती । पुराणों ने भी सदाचार की महत्ता को स्वीकारा है ।[2] भारतीय समाज में प्राचीनकाल से ही सदाचार की महत्ता रही है । मनुष्य भी सामाजिक प्राणी है और समाज में वह दूसरों से हिल मिल जाता है, दूसरों से आदान-प्रदान करता है । आदान-प्रदान में सहकारिता की भावना का होना अनिवार्य है । आत्मीय विकास से ही यह संभव होता है सहकारिता की यह भावना व्यक्तिव्यवहार में प्रकट हो जाती है । यही व्यक्ति-व्यवहार समाज की प्रगति का मूलाधार है । ये व्यवहार सदाचार की भावना से जब असंपृक्त हो जाते है तब समाज की हानि होती है ।

सदाचार की इसी भावना को विकसित करनेवाले तत्व को समाज नियामकों ने नीति के अन्तर्गत रखा है । समाज कल्याण तथा मानव कल्याण को लक्ष्य कर के हुए उन्होंने कहा है कि मानव जीवन में नीति या सदाचार की अत्यन्त आवश्यकता है । उन्होंने उसकी व्यवस्था भी निर्धारित की है । मनुष्य सामाजिक प्राणी है, अतः वह समाज रूपी समष्टि से अपने को पृथक नहीं कर सकता । फिर भी उसके कुछ व्यक्तिगत कर्तव्य होते है जिनके पालन से वह समष्टि के प्रति अपने कर्तव्य को पूर्ण कर सकता है । समाज के प्रति व्यक्ति के जो कर्तव्य होते है वे उसके जीवन के बहिर्मुखी कर्तव्य ही होते है । अपने अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी कर्तव्यों के

---

1. भारतीय समाज का स्वरूप पृ.
2. विष्णुपुराण - भाग 2 अ. 11 पृ426

पालन के लिए व्यक्ति को जीवन में कुछ आचरणों को अपनाना पड़ता है । इन विविध आचार-विचारों के आधार पर समाज में नीति को जो महत्व दिया जाता है । अतः नीति के संबन्ध में कहा जाता है कि वह देशकालानुकूल होकर व्यक्ति तथा समाज का अभ्युदय करनेवाला आचारविधान है । कहने का तात्पर्य है कि जीवन में नीति तथा नीति के अनुकूल आचार व्यवहार वांछनीय ही नहीं , अपेक्षित भी है ।

जीवन में सदाचरण का महत्व

'आचारः परमो धर्मः' कहना स्वयं मानव जीवन में आचारों के महत्व को अभिव्यक्त करता है । आचारों में सदाचार ही की प्रमुखता रही है । यही स्वस्थ सामाजिक जीवन की नींव है । सदाचार के संबन्ध में कहा गया है कि जो सद् या साधु पुरुष होते हैं ,उनके आचरणों को सदाचार कहते हैं ।[1] कहने का अर्थ हुआ कि मनसा वाचा कर्मणा एक दूसरे की बुराई न करना , अपनी भलाई के लिए दूसरों की हानि की इच्छा न रखना आदि सदाचार के लक्षण हैं । समाज में व्यक्ति व्यक्ति, को अपना ही प्रतिरूप मानकर सबकी भलाई के लिए एक दूसरे से सद्व्यवहार करना ही मानव कल्याण तथा समाज कल्याण का एकमात्र साधन है । धर्म का प्रचार भी इसी सदाचार से होता है । क्योंकि सदाचार ही धर्म का यथार्थ तात्पर्य तथा मूल भी है । अहिंसा, सत्य, दया, क्षमा आदि सदाचार के जो विभिन्न अंग होते हैं उन्हीं के आधार पर किसी समाज में धर्म का अस्तित्व रहता है । सदाचार के पालन से व्यक्ति का आत्मिक विकास होता है और आत्मविकसित व्यक्तियों का सामाजिक जीवन ही आदर्शपूर्ण बन जाता है । सदाचार सभी पापों का विनाश कर देता है । सदाचारपालन की इस महत्ता को स्मृतियों में भी अभिव्यक्त किया गया है कि सदाचार से मनुष्य को बड़ी आयु प्राप्त हो जाती है और आचारों में कुशल होने पर अभीष्ट सन्तति की प्राप्ति, अक्षय धन का लाभ, दुर्लक्षणों का नाश आदि होता है ।[2] दुराचार का समाज में कोई स्थान नहीं है और बुरा आचरण करनेवाले समाज में निन्दित होते हैं । उन्हें अपने जीवन में दुःख भोगना पड़ता है । आचारहीन जनों या पतित जो समाज के लिए निरर्थक तथा भारस्वरूप होते हैं । सदाचार या सद्व्यवहार ही व्यक्ति का अन्त तक साथ देता है और इसी कारण से समाज में उचित अनुकूल स्थान के आधार पर व्यक्तियों

---

1. साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः । तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते ।।
-- विष्णुपुराण भाग - 2 अ. 11 पृ 426

2. मनुस्मृति - अ. 4 श्लो. 26

को सदाचार पालन की सीख भी आती है। कहावतों के दृष्टान्त बड़े आकर्षक से और प्रभावशाली ढंग से संपन्न किया जाता है। किसी भी समाज में प्रचलित कहावतों का यदि गहरे रूप से अध्ययन विश्लेषण किया जाय तो निःसन्देह यह बात स्पष्ट होगी कि सदाचरण से संबन्धित कहावतें ही उनमें अधिक संख्या में रहती हैं। ऐसी कहावतें व्यक्तित्व निर्माण को गढ़ने में अधिक सहायक होने के कारण प्रत्येक समाज में इनका बड़ा महत्व भी रहता है। हिन्दी तथा कोंकणी समाज इस के अपवाद नहीं हैं।

हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में प्रतिबिंबित सदाचरण का स्वरूप

हिन्दी तथा कोंकणी समाज में ऐसी अनेक कहावतें मिलती हैं जो सदाचार के महत्व की ओर संकेत करती हैं। व्यक्तियों के चरित्रगठन में सहायक होने के कारण जीवन में इनका बड़ा महत्व रहता है। समाज का हर व्यक्ति अपना जीवन आनन्दपूर्ण बनाना चाहता है। लेकिन वह यह नहीं जानता कि जीवन में आनन्द कैसे मिले? इसलिए समाज उसकी सहायता के लिए सामने आता है। इस बात की ओर निम्नलिखित हिन्दी कहावत संकेत करती है। 'जो साधु की माने बात, रहे आनन्द वह दिन रात'। संस्कृत की 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' उक्ति में भी इसी तथ्य के दर्शन होते हैं। साधु या 'महाजन' अनुभवी होते ही हैं। इसलिए उनकी बात मानने से जीवन में आनन्द मिलता है। कोंकणी में भी इस बात की ओर संकेत करनेवाली कहावत इस प्रकार मिलती है। 'व्हड्ल्यांची उतर इमान जेदुक' (बड़ों की बात को मानना चाहिए) यह सदाचरण की ओर बढ़ता कदम है। इसी प्रकार अन्य कई कहावतें भी मिलती हैं जैसे- 'अक्कल का दुश्मन आदमी और हाथ का दुश्मन पत्थर क्यों नहीं सीखता'। कोंकणी कहावत है -- 'मेल्लोलो वेळु इल्लोन घोड्डियाचेरीय रखुना' (बीता अवसर हाथी से खिंचवाने पर भी लौट नहीं आता)। इन कहावतों में समय के मूल्य के साथ साथ उचित समय पर किये जानेवाले सत्कर्म की ओर भी संकेत मिलता है।

समाज व्यक्तियों का समूह है। यहाँ हर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से किसी न किसी प्रकार संबन्ध रखता है और एक दूसरे के आपसी व्यवहार में अनेक ऐसी बातों का ध्यान रखना होता है जिससे वह दूसरों पर सद्भाव डाल दे। मुँह को बोल उसमें सर्वप्रथम है।

'निहुरले कहीं तालो निहुरले निकलजाला' 'बाणी संयम का उचित इसी ओर संकेत करती है। इसी का यथार्थ हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में निम्नलिखित रूप से उतर आया है -- 'कमान से निकला तीर और मुँह से निकली बात फिर नहीं आती'। एक बार भी शब्द मुँह से निकल गया वह लौटा नहीं लिया जा सकता। वैसे कोंकणी में भी कहते हैं -- 'तोण्डांतु सुटलें उतर परतुन येयना' (मुँह से निकली बात फिर लौटा नहीं ली जा सकती)। ये कहावतें इसी बात की ओर संकेत करती हैं कि व्यक्ति को दूसरों से सद्व्यवहार करना चाहिए और हितकर वचन बोलना चाहिए।

उपदेशों का स्वरूप

वातावरण से संबन्धित कुछ ऐसे तत्व भी समाज में मिल जाते हैं जिनसे व्यक्ति स्वयं अपने को सुधारता है। उपदेश इनमें बड़े महत्व के हैं। कहावतों के रूप में ऐसे अनेक उपदेश हिन्दी तथा कोंकणी समाज में प्राप्त होते हैं जिनका अनुसरण करके व्यक्ति अपने जीवन में उन्नति पाता है। कोंकणी में एक कहावत है -- 'शेतांतीर बैसोलो मोनु पीयि उदकूक पावना' (खेत पर खड़ा हुआ भी घास नहीं तोड़ सकता)। अर्थात् व्यक्ति कितने भी ऊँचे स्थान पर पहुँच जाय उसे सदाचार की सीमा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। कोंकणी में ही और एक कहावत है -- 'दोनि नौकेरि पायु दोवरूक नज्य' (दो नावों पर एक साथ पैर न ही रखे जा सकते।) यदि रखे भी जावें तो जो व्यक्ति ऐसा करेगा वह अवश्य ही डूब जायगा।

व्यक्ति को जीवन में आत्मनिर्भर रहना चाहिए। यही गुण उसे जीवन में सफल बनाता है। हिन्दी में कहावत है -- 'अपना तोशा अपना भरोसा'। जो व्यक्ति आत्मनिर्भर रहता है उसे किसी का मुँह ताकने की जरूरत नहीं पड़ती। कोंकणी में भी यही बात निम्नलिखित कहावत में व्यक्त हुई है -- 'अपणालो हातु अपणाले उशाक' (अपना हाथ अपने तकिये के नीचे दबा रखना चाहिए)। व्यक्ति कितना ही आत्मनिर्भर क्यों न हो, उसके लिए भी कुछ सीमाएँ निर्धारित की गई हैं। उन्हीं के अन्तर्गत वह कार्य कर सकता है। इसीलिए हिन्दी में कहा जाता है 'जितनी चादर देखो उतना ही पैर पसारो'। कोंकणी में यही बात 'पेलनु जीव

राम मोट भेतूक' वाली कहावत में व्यक्त की गई है। चूंकि समाज व्यक्तियों का समूह है और व्यक्तियों को समाज में व्यवहार करना पड़ता है, इसलिए उसको इस बात का ध्यान अवश्य रखना पड़ता है कि वह दूसरों को अपने कार्यों से दुःख न पहुँचावे। समाज में तरह तरह के व्यक्ति होते हैं जिनमें खूबियाँ और कमियाँ भी रहती हैं। किसी की कमियों को देखते हुए उसकी निन्दा करना व्यक्तिधर्म के अन्तर्गत नहीं आता। ऐसा करनेवाले व्यक्तियों के लिए भोजपुरी समाज की चेतावनी है --'निन्दा कईलें अपनामुवाले लछन' (निन्दा करना अपनामु-वालों का लक्षण है)।

वैसे ही समाज में जीने के लिए व्यक्ति जितना ही उदार और क्षमाशील बन सकता है उतना ही अच्छा रहता है। क्षमाशील व्यक्ति अपने को सतानेवाले लोगों को भी हानि करने से दूर रहता है। उसका यह बर्ताव समाज के लिए कल्याणकारी होता है। समाज का कोई व्यक्ति यदि भूल कर बैठता है तो उस भूल को सुधारना ही व्यक्तिधर्म है। भोजपुरी की कहावत- 'मारल बाछि ओनु बछरू मारबे का ?' (गाय को मार डाला फिर बछड़े को भी क्यों मार डालो?) इसी औचित्यपरक धर्म की ओर संकेत करती है। इस कहावत में यही उपदेश व्यक्त है कि भूलों का सुधारा हो जाय, और भी भूल न कर बैठे। वैसे तो धन कमाने और उसे खर्च करने में भी कई तरह के नियम होते हैं। कई व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपनी आमदनी से भी अधिक खर्च करते हैं। हिन्दी में 'अठ्ठी की आमदनी चौराठी का खर्च' वाली कहावत तो ऐसे ही व्यक्तियों की ओर संकेत करती है। लेकिन भोजपुरी समाज में ऐसे व्यक्तियों को उपदेश भी दिया जाता है --'आवातु पोमीनु खर्चु करें' (आमदनी के अनुसार ही खर्च करना चाहिए)।

समाज में उच्च नीच कई तरह के व्यक्ति होते हैं और इनके कार्यक्षेत्र भी सीमित रहते हैं। ऊँचा व्यक्ति ऐसे बहुत से कार्य कर सकता है जो निम्नस्तर के व्यक्ति के लिए असंभव भी होता है। इसलिए अपने अपने सीमित क्षेत्र के अन्तर्गत ही व्यक्ति को कार्यनिरत रहना चाहिए। अनुकरण हमेशा कल्याणकारी नहीं होता। भोजपुरी की एक कहावत उपर्युक्त बात को सुन्दर अभिव्यक्ति देती है --'आक उड़त भोनु राय उड़त्यादि भोवराचे रखहीर पड़ती'[1] (आक के बीज को उड़ते देखकर यदि पंख भी उड़ जाय तो राख के ढेर पर आ पड़ेगा)। पंख तो आक के

----

1. आक उड़त भोनु राय उड़त्यादि पड़ती ढेमा सोहनु

चोंच से कहीं भारी होता है कि वह उड़ने लगे तो नीचे पड़ जायगा । यदि वह भी बाज के चोंच की तरह उड़ना चाहे तो कुछ समय के बाद नीचे गिर पड़ता है । हिन्दी समाज में भी ऐसे अन्धानुकरण को निन्दनीय माना है । 'ऊँट तो कूदे पर बोरी पर कूदे ' । हिन्दी की प्रस्तुत कहावत भी अनुकरण करने से होनेवाले दुष्परिणाम की ओर संकेत करती है । तेलुगु की और एक कहावत में भी इसी तथ्य की चर्चा हुई है -- 'पिल्लोडु चलता कोनु कोलाहलन चन्दोनु नक्कयि कालुनु बोल्लोलो' (धूप में शेर चलता है, ऐसा सोचकर केकुआ भी चले तो वह जल जाता है) । अनुकरण करने से कोई भी दूसरे की समानता नहीं कर सकेगा । प्रत्येक व्यक्ति का अपना अपना व्यक्तित्व है और धर्म भी है । कहा जाता है -- 'खाल उढ़ाये सिंह की स्यार सिंह नहोय'। सियार और सिंह दोनों एक दूसरे से बिलकुल भिन्न है । सिंह की खाल ओढ़ने से सियार का जन्मजात व्यक्तित्व सिंह जैसा नहीं रहता और वह स्वभाव कभी कभी प्रकट भी होता है जिससे सियार भी जल्दी पहचाना भी जाता है । तेलुगु के निम्नलिखित कहावत में भी यह बात व्यक्त हुई है -- 'काकी नेमलीपिंछ पेट्टुकोनु नेमलु कादगा' (मोरपर पर बैठा कौआ कभी मयूर नहीं बन सकता) । लेकिन अनुकरण भी तब प्रशंसनीय माना जाता है जब वह सज्जनों के स्वभाव का अनुकरण हो । यह सत्संगति के द्वारा ही संभव है । सत्संगति से सदाचरण की प्रेरणा मिल जाती है । सत्संगति से संबन्धित बातें हिन्दी तथा तेलुगु की अनेक कहावतों में चित्रित है ।

सत्संगति का स्वरूप

सामाजिक व्यवहार प्रमुखतः दो प्रकार के मिलते हैं, जैसे सदाचार और दुराचार । यह तो समाज की देन रूपाएँ, व्यक्ति के स्वभाव के आधार पर ही होता है । व्यक्तियों के जो स्वभाव या गुण समाज के लिए हितकर है उन्हें सत् स्वभाव या सद्गुण कहा जाता है और सद्गुणवालों का व्यवहार भी सद्व्यवहार होता है, जब कि दुर्गुणवालों का दुर्व्यवहार या दुराचार होता है । सामाजिक कल्याण के लिए सद्व्यवहार ही अपेक्षित है । इसी कारण समाज व्यक्तियों को सद्गुणवालों की संगति में रहने का आह्वान देता है । इस बात पर इतना बल इसलिए दिया जाता है कि मानव जीवन में संगति का बड़ा ही महत्व है । अपनी संगति की पहचान से ही मनुष्य की पहचान होती है । [1] अर्थात् संगति के माप पर ही मनुष्य नापा जाता है ।

1.

अतः मनुष्य को किसी संगति में पड़ जाने के पहले उसकी ठीक रूप से पहचान करनी चाहिए । दुर्जनों की संगति से सदा अपने को बचाये रखना चाहिए । क्योंकि कुसंगति में पड़कर सज्जन भी धोखा खा जाते, उससे प्रभावित हो जाते हैं । सच्चरित्र व्यक्ति भी दुराचारियों से मिलकर अपने चरित्र को बिगाड़ देते हैं । इससे समाज का अवनति संभव हो जाती है । कुसंगति का प्रभाव इतना रहता है कि लाखों प्रयत्न करने पर भी उसमें पड़नेवाला व्यक्ति अपने को सुधार नहीं सकता । हिन्दी में एक उक्ति यों है -- काजल की कोठरी में कैसहु सयानो जाय

एक लीक काजल की लागी है पै लागी है ।

कोंकणी की निम्नलिखित कहावत में कुसंगति की निन्दा की गई है -- 'गोड्डाचे अवनांतु हातु घालीर गेले पुणि लेग्गिलाशी रस्तुनुया' (गुड़ के ढेरों में हाथ डाले तो थोड़ा तो सही अवश्य चाट लिया जायगा) । एक बार बुरी संगति में पड़ने पर कोई भी उससे प्रभावित न हुए बिना नहीं रहता । दुर्जनों की बुरी आदतों में पड़ जानेवाला व्यक्ति भी उन आदतों को फिर नहीं छोड़ता । इस तथ्य का प्रतिपादन कोंकणी की और एक कहावत में यों हुआ है -- 'सुकलो रुक्साक शेतु रना' (एक बार सूखा वृक्ष फिर सजल नहीं होता) । सूखे हुए पेड़ से कोई फूल व फल नहीं निकलते । वैसे ही नीच व्यक्ति के साथ व्यवहार करने से अच्छे लोगों X का भी नाश होता है और समाज में उनका सम्मान भी कम हो जाता है । हिन्दी की कहावत है 'ओछे के संग बैठके दुसरो की पत जाए' । 'अशनावसपोणेन सम्बन्ध सीदितावः' वाली संस्कृत की उक्ति भी इसी बात को प्रकट करता है । कोंकणी कहावत -- 'धारे पेडलो शिवाळ फि उचेक नजुत्या' (जिस बात में हक जाती है उसे फिर मुट्ठी में नहीं लिया जा सकता) से भी कुसंगति से बचते रहने की शिक्षा दी गई है । कुसंगति में पड़ने पर फिर समाज में सज्जनों की प्रतिष्ठा नहीं होती । संस्कृत की एक उक्ति इस तथ्य को भी व्यक्त कर देती है, 'पयोऽपि शौण्डिकीहस्ते वारुणीत्यभिधीयते' । शराब बेचनेवाले के हाथ में दूध भी शराब हो माना जाता है । इसलिए कुसंगति से बचना अपने को कलंक से बचाना है । नहीं तो कितने ही अच्छे कार्य करने पर भी व्यक्ति का सम्मान नहीं होता । हिन्दी कहावत, 'दूध कलारी कर गहे मद समझे सब ताहि' में इसी तथ्य को व्यक्त किया गया है । कहने का अर्थ यह नहीं है कि समाज में मात्र दुर्जन ही रहते हैं और उनकी संगति का प्रभाव सज्जनों पर पड़ता है । दुर्जनों के साथ साथ सज्जन भी रहते हैं । उनकी चारित्रगत विशेषताएँ ही उन्हें समाज में

सम्मान प्राप्त होने का सबल माध्यम है । इनमें कोई भी बुरी आदत नहीं रहती । वे दूसरे व्यक्तियों के कोई भेद नहीं देखते । सच्चरित्रता का भी एक ही कार्य होता है । इस बात को कोंकणी की निम्नलिखित कहावत में स्पष्ट किया गया है --'गोड्डा मुंडियेक कांट दोड ना' (गुड़ के गोले का कोई अलग कार्य नहीं होता ।) सज्जनों के लिए सभी व्यक्ति एक समान है और सभी से एक ही जैसा व्यवहार भी वे करते है । जैसे कुसंगति का बुरा असर होता है वैसे ही सत्संगति का अच्छा परिणाम भी निकलता है । अतः व्यक्ति को किसी संगति में हिल मिल जाने के पहले संगति के असर की ओर ध्यान देना चाहिए । हिन्दी की निम्नलिखित उक्ति में भी लोगों की सोच हो जाती है ---

उत्तम से उत्तम मिले मिले नीच से नीच
पानी से पानी मिले मिले कीच से कीच ।।

भले व्यक्ति तो सज्जनों की संगति की खोज में जाते है जबकि दुष्ट या नीच दुष्टों की खोज में जैसे कि पानी के साथ पानी का मिलन ही होता है , न कि कीच का । कीच कीच से ही मिलता है । अर्थात् एक ही स्वभाववाले व्यक्ति ही आपस में मिलते है । सज्जन सज्जनों की संगति में रहते है जबकि दुर्जन दुर्जनों की संगति में । कोंकणी कहावत , 'कुसल्ले मसोल्या पिसल्लेल्या शीत' (सड़ी हुई मछली के लिए बासा पके हुए चावल) इसी ओर संकेत करती है । सज्जन अपने सच्चरित्र के द्वारा सभी को प्रभावित करते है , यद्यपि वे अपने सद्गुणों को अत्यों की भांति सभी के सामने प्रस्तुत करके प्रचार नहीं करते । कोंकणी कहावत , 'फुलांनी फुलाक दोगोंडु उर्वाल्ली रावता वे ? (क्या खिले फूल को महक अलग किया नहीं रहेगी ?) में सज्जनों की इस विशेषता की ओर संकेत मिलता है कि सज्जनों के गुणों की प्रशंसा समाज में होती ही रहती है और उनके गुणों की चर्चा संपूर्ण समाज में होती है । जैसे ही जैसे फूल की चारों ओर फैलती है । ऐसी ही कोंकणी की और एक कहावत में भी इस तथ्य की ओर भी संकेत किया गया है --'कस्तूरि पेटूंतु दवर्लारीयि वोर्वोंडु संगता वे ?'(कस्तूरी को ढंककर रखने से क्या उसकी सुगंध भी ढंके रहेगी ?)

सत्य का महत्व

सामाजिक व्यवहार में सत्य मानव जीवन का अविभाज्य अंग माना जाता है। वैदिक कालीन सामाजिक व्यवहार में भी सत्य को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। सत्य की प्रमुखता की चर्चा ऋग्वेद में मिलती है।[1] असत्य बोलनेवाला कभी भी उन्नति की सीढ़ियाँ नहीं चढ़ सकता। वह अवनति के गर्त में सब कुछ खोकर डूब जाता है। समाज में उसका सम्मान भी नहीं रहता इसलिए कहा जाता है -- 'झूठ की नाव मँझधार डूबती है'। झूठ का अन्त अन्त में पश्चाताप होता है। असत्य बोलकर कोई भी तरक्की नहीं कर पाता। असत्य बोलनेवाले का अन्त में कर्ज़ के मूल जाने पर सब कुछ नष्ट हो जाता है। भोजपुरी कहावत 'लोटेक बेपारि कहँ लागु (झूठ बोलनेवाले को महरियल की खोपड़ी ही मिलती है।) में इस बात की ओर संकेत मिलता है कि अधिक लाभ उठाने के लिए झूठ बोलें तो लाभ भी नहीं मिलता, अपितु मूल भी नष्ट हो जाता है। 'झूठे को नहीं पतीयाते' हिन्दी कहावत भी इसी ओर संकेत करती है। सत्य के महत्व को स्वीकार करते हुए यह कहा जाता है कि असत्य भाषण जैसा कोई पाप इस दुनिया में दूसरा नहीं है। हिन्दी की कई कहावतें इस बात की ओर संकेत करती हैं। जैसे 'झूठ बोलना और पाप करना बराबर है', 'झूठ बराबर पाप नहीं' आदि। असत्य बोलने से पाप चढ़ जाता है। किन्तु सभी वेदों का अध्ययन करने से और सभी तीर्थों के पुण्य से जो फल मिलता है, वह मात्र सत्यभाषण के सोलह में से एक अंश से भी कम है। महाभारत में सत्य की इस महत्ता को यों व्यक्त किया गया है --

सर्ववेदाधिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् ।
सत्यस्यैव च राजेन्द्र कलां नार्हति षोडशीम् ॥

कहने का अर्थ है कि सत्य कहने से बढ़कर और कोई भी बात श्रेष्ठ नहीं है और इसी कारण सत्य की कभी भी हार नहीं होती। सत्य कभी भी काल के पहिये में दब भी नहीं जाता। भोजपुरी समाज में सत्यसम्बन्धी एक कहावत है -- 'सत्यक सोरह बरिस' (सत्य हमेशा सोलह वर्ष का होता है) इसी बात को इसमें स्पष्ट किया गया है कि सत्य में शक्ति एवं युवत्व रहता है, यानी सत्य का महत्व कभी घटता नहीं है। सभी जगह उसीकी जय होती है। हिन्दी कहावत 'सत्य की जय होती है, झूठ की नहीं' में सत्य की अजेयता की ओर प्रकाश डाला गया है। सत्य की इस श्रेष्ठता की चर्चा पद्मपुराण में भी हुई है --

1. ऋग्वेद - 1.5.5

सत्येन लोकं जयति सत्यं तपस्तथा परं ।

यथा भूता प्रभाई नु सत्यमाहुर्मनीषिणः ॥[1]

अपनी बोल निश्चित होने के कारण सत्य बोलनेवाला निश्चिन्त रहता है जब कि एक बार हो सही झूठ बोलनेवाले के मुख पर कालिमा रहती है जो उसकी आन्तरिक क्षोभ को अभिव्यक्त देती है । इसी तथ्य को अभिव्यक्त करनेवाली हिन्दी कहावत है -- 'झूठ का मुँह काला सत्येन बोला' लेकिन सत्य कड़ुआ होता है । सत्य बात को सुनते हुए लोग नाराज होते हैं । बंधु लोग भी शत्रु बन जाते हैं । इस तथ्य का कहावतें हुए यों मिलता है, 'यथार्थवादी जनविरोधी'[2] । इसलिए सत्य बोलनेवालों को अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और इन परेशानियों से ऊबकर कई व्यक्ति कह उठते हैं, 'झूठ कहे तो लड्डू खाय सांच कहे तो मारा जाय' । आज के ज़माने में झूठों की ही जय है । लेकिन सत्य पर अटल रहनेवाले व्यक्ति की समाज में कमी नहीं है, यद्यपि सत्यवादियों को कई तरह के कष्ट झेलने पड़े । लेकिन यह बात स्पष्ट है कि सामाजिक व्यवहार में असत्य की अपेक्षा सत्य को ही प्रधानता है । सत्यमार्ग पर चलनेवाले लोग बाधाओं की परवाह न करते हुए आगे चले तो जीवन में निष्कंटक सफल हो सकते हैं ।

लोकव्यवहार और लोकनीति

सदाचरण और व्यावहारिक नीति के अन्तर्गत लोकव्यवहार एवं लोकनीति का बड़ा महत्व है । लोकनीति एवं लोकव्यवहार के अन्तर्गत लोगों के लिए उपदेश तथा चेतावनियाँ भी रहती हैं और यथार्थ का बड़ा महत्व रहता है । समाज में अच्छी, बुरी, खोटी, सच्ची, ऐसे कई तरह की वस्तुएँ तथा व्यवहार हुआ करते हैं । इन सबका विवेचन करना उतना आसान नहीं है । इसलिए लोगों को चेतावनी दी जाती है -- 'चमकनेवाला सब सोना नहीं' । सोने का अविभाज्य गुण है चमक । लेकिन कई अन्य वस्तुएँ भी सोने के समान चमकती हैं जिनकी चमक से धोखे में आकर लोग अपने को नष्ट कर देते हैं । ऐसी वस्तुओं से लोगों को दूर रहना चाहिए ।

---

1. पद्मपुराण भाग - 2 पृ 12
2. यथार्थवादी लोकविरोधी

उन लोगों के यह समझ सकते नहीं है, मात्र बाहरी ही होते है। इस पर मोहित नहीं होना चाहिए। कोंकणी में दो वही उक्ति इस प्रकार मिलती है। 'कण्ट्रोकेंवि कण भांगार नहंय' (चमकनेवाला सब सोना नहीं है)। कोंकणी समाज में धोखेबाज व्यक्तियों से सावधानी बरतने की सीख निम्नलिखित कहावतों के जरिये दी जाती है --'धवें दिसून सगुळें दूद नहंय'[1](सफेद दीखनेवाला सब दूध नहीं होता)। कभी कभी धोखा देनेवाले देवता का आचरण रखकर दूसरों को धोखा देते है। कोंकणी कहावत 'मायवे पाय बगोलो बापु'(माथ को माल रखना हुआ बाप)। माथ बहुत सीधा सादा मालबदू होते है, लेकिन पाप हुए है। लोग उससे डरते है जब कि माथ को पवित्र मानते है। जब बाप माथ का कपड़ा ओढ लेता है तो बाहर से भोला भाला दीखता है। लेकिन अन्दर से धोखेबाज रहता है। वैसे ही बाहरी स्नेह दिखानेवालों का असली रूप तभी व्यक्त होता है जब उससे निकटतम संबन्ध स्थापित किया जाता है। कोंकणी की कहावत है --'चवाडोन्तुले घोलाक आनि दुस्मानाच्या उजवाक पतेयेवं नज'(बरसात की धूप और शत्रुओं की बात पर विश्वास नहीं करना चाहिए। इस कहावत में व्यक्तियों को धोखेबाजों से सतर्क किया गया है। बरसात की धूप बहुत देर के लिए नहीं रहती। वैसे ही शत्रु लोगों की मीठी बोलियों में भी अपने को नहीं फँसा देना चाहिए। इन सभी कहावतों में समाज में व्याप्त धोखेबाजों का तथा उनसे दूर रहने के उपदेशों का प्रतिफलन हुआ है।

जीवन में कोई बात स्थिरस्थायी नहीं है। आज जिसके पास धन होता है वह कल का भिखारी होता है। आज जो वस्तु किसका है कल वह किसका हो जाता है। कोई यह बात नहीं कह सकता कि कल क्या हो सकता है। इस लोकसत्य को चित्रित करनेवाली कहावतें हिन्दी तथा कोंकणी समाज में मिलती है। 'आज है सो कल नहीं', 'आज का बनिया कल का सेठ' आदि हिन्दी कहावतें और 'आजि आसल्लो फाल्यां नासत', 'आज्जे भिकारी फाल्यां राजु' आदि कोंकणी कहावतें इसी ओर संकेत करती है। जीवन सुख दुःख दोनों बातों से भरपूर रहता है जिसके बीच सुख की एक दो किरणें चमकती रहती है। इन किरणों तक पहुँचने के लिए भिन्न प्रकार की बाधाओं का सामना करना पड़ता है। इन बाधाओं को पार करते ही सफलता मिलती है। लेकिन यह एक सत्य है कि कर्मनिरत व्यक्ति को कठिनाइयों में ही झेलना पड़ता है

---

1. धवें आसल्लें सगळें दूद नहंय, गोरे आसल्ले सगळे बरे मनुष्य नहंय

कभी वह सफलता प्राप्त करता है, कभी नहीं प्राप्त करता। सफलता न मिलने पर उसे मायूस नहीं बनना चाहिए। बल्कि बार बार प्रयत्न करते रहना चाहिए। हिन्दी की कहावतें 'आदमी ठोकर खाकर ही सीखता है', 'जो तैरेगा वो डूबेगा' आदि इसी ओर संकेत करती हैं। तेलुगु में भी ऐसी ही कहावतें मिलती हैं। 'देब्बलु तिन्न रायि पूज्यमवुनु' (आदमी ठोकर खाकर ही सीखता है) 'ईतनेर्चिन मोनगाडे मुनुगुतांडु' (जो तैरेगा वो डूबेगा)। इसके अतिरिक्त और भी कई ऐसी कहावतें मिलती हैं जो लोकसत्य और लोकनीति को प्रकट करती हैं। तेलुगु की कहावत -- 'अतिरेक अमृतमैन विषमे' इस बात की ओर संकेत करती है कि किसी भी चीज की अधिकता लाभ के बजाय हानि भी ही पहुँचाती है। यह एक लोकसत्य है कि अमृत भी मृत होने से बचाता है पर वो अधिक होने पर मृत्यु का ही कारण बन जाता है। वैसे ही किसी के साथ संबन्ध बढ़ जाता है तो अक्सर ही वह शिथिल हो जाता है और शत्रुता का कारण बन जाता है। हिन्दी में ऐसे ही भाव की कहावत मिलती है -- 'जो जित हद से प्यारा हुआ वह मरा हुआ'।

वैसे ही समय का सदुपयोग करने की सीख भी लोकनीति के रूप में दी जाती है। कहा जाता है -- 'अनि कोर्ये पनि रूपक मोनु रेम्पोर्थेन' (आज जो करना है उस काम को कल के लिए न टाल दें)। जो भी काम करना है वह ठीक वक्त पर किया जाना चाहिए। दूसरे दिन के लिए टालने पर उस दिन काम और भी बढ़ जाता है जो करने के लिए बाद में दूभर हो जाता है। बीता नहीं समय का भी तो मूल्य रखता है। इसलिए कहा जाता है - 'गतिंचिन वेळ एनुगुलतो लागिंचिना रादु' (गया वक्त हाथी से खिंचवाने पर भी नहीं लौटता) हिन्दी में भी इस प्रकार समय के मूल्य को चित्रित करनेवाली कहावतें भी मिलती हैं -- 'अवसर का चूका आदमी और डाल का चूका बन्दर नहीं संभलता'।

पाप, निन्दा, ईर्ष्या आदि समाज के विनाश के लिए हानिकारक माने जाते हैं। यह एक लोकसत्य है कि पाप छिपाये नहीं छिपता और लोगों को पाप से दूर रहना चाहिए। छिपकर किया गया पाप भी अपने आप प्रकट हो जाता है। 'पाप छिपाये ना छिपे जस लहसुन की बास' में इसी सत्य की अभिव्यक्ति हुई है। जिस प्रकार से लहसुन की गन्ध कभी छिपती नहीं है उसी प्रकार किसी का दुर्व्यवहार भी छिपाये नहीं छिपता। तेलुगु में इसी बात

को व्यक्त करनेवाली कहावत भी मिलती है -- 'बुगड केलेल्या मस्तीर सोल ' (जिसने डोंगा बनाया उसके सिर पर छिलका) इस प्रकार ईर्ष्या की प्रवृत्ति को दूर नहीं की जा सकती । कोई उसे सुधार नहीं सकता । क्योंकि यह व्यक्ति के मन के अन्दर में रही प्रवृत्ति है जिसे वह से उखाड़ फेंका संभव नहीं है । कोंकणी में कहावत है - 'अल्प्याक वोखद ना' (जलनखोर रोग के लिए कोई दवा नहीं है । वैसे ही दूसरों की निन्दा करना भी बुरी आदत है । यह व्यक्ति धर्म के विरुद्ध है । ऐसी बुरी आदत से छूट जाने के लिए लोकनीति के अन्तर्गत यह उपदेश दिया जाता है --निन्दा कोर्री अन्यायुवाली लक्षण (निन्दा करना अन्यायवाली का लक्षण) अक्सर ही अपनी भूल को देखे बिना दूसरों की भूलों की निन्दा करते हैं । वे यह नहीं समझ पाते कि दूसरे लोग क्यों उनकी भी निन्दा करेंगे और उनके दोषों का भी विवेचन करेंगे । दूसरों की निन्दा करने से कोई फायदा नहीं मिलता । यदि निन्दा करने के बजाय कोई दूसरा काम करेंगे तो उससे लाभ उठाया जा सकता है । इस तथ्य की ओर संकेत करनेवाली कोंकणी कहावत है -- 'हेवाराक मेल्यारि होले ,पराक्षु मेल्यारि कामि' (निन्दा करनेवाले को दूसरों की गालियाँ मिलेंगी , काम करनेवाले को लाभ मिल जाएगा) ।

राजनीति का स्वरूप

व्यावहारिक नीति और लोकनीति के साथ समाज में राजनीति एवं अर्थनीति की चर्चा भी होती है । राजनीति राज्य की नीति से संबन्धित है । प्राचीन काल में राजा को देवता जैसा सम्मान दिया जाता था । उनकी सभी आज्ञाओं का पालन अक्षरशः होता था । अतः राजा को 'प्रत्यक्षदेवता' कहा गया है । अपनी आज्ञानुवर्ती प्रजा की सुरक्षा ही राजा का ध्येय रहता था । राजा अपनी प्रजा के कल्याण तथा हित के अनुसार राज करता था । इसलिए उस काल में ऐसी उक्ति चल पड़ी थी -- 'राजा प्रकृतिरंजनात्' । राजा को अपनी प्रजापालन पर बहुत ही ध्यान देना पड़ता था । क्योंकि राजा की प्रत्येक हरकत पर प्रजा की ध्यान रहती थी । कहने का अर्थ है कि प्रजा राजा का अनुकरण करती थी । राजा का जिस ओर ध्यान जाता था उसी ओर प्रजा का भी जाता था । अतः यह उक्ति यहाँ प्रसिद्ध रही -- ' यथा राजा तथा प्रजा' हिन्दी में इसी तथ्य की ओर संकेत करनेवाली कहावत है -- 'जैसा राजा वैसी प्रजा' । कोंकणी में राजनीति से संबन्धित बातें बहुत ही कम मिलती हैं । यहाँ पर मंत्रियों का उल्लेख बहुत ही

बना हुआ है। वे अधिकांशतः पुरोहिताई और व्यापार में ही लगे रहते हैं और इसीलिए राज्य और राजनीति से बहुत ही दूर रहते हैं। फिर भी उनके बीच बड़े ही श्रेष्ठ एवं महान व्यक्तियों की कमी नहीं है। अनेक लोगों ने भैरव की पदवी को भी स्वीकारा है। जिस प्रकार राजा का अनुसरण तथा अनुकरण प्रजा लोग किया करते हैं वैसा ही लोगों द्वारा कोंकणी समाज में इन व्यक्तियों का अनुकरण किया जाता है।

कभी कभी अपने स्वार्थ के लिए राजा लोग अपनी प्रजा को सताते भी थे। वहीं वे 'राजा प्रकृतिरंजनात्' वाली उक्ति को भूल जाते थे। विरोध प्रजा उनके दण्ड का शिकार बन जाती थी। ऐसे राजाओं के संबन्ध में प्रजा कहावतों के रूप में कहा करती है -- 'हाकिम की अगाड़ी और घोड़े की पिछाड़ी खड़ा न रह।' घोड़े की आदत है कि वह पिछली टांगों से ही लात मारता है। इसलिए घोड़े के पीछे नहीं रहना चाहिए। वैसे ही राजा के आगे भी क्योंकि क्रोध आने पर राजा उसी पर अपनी नाराजगी उतारता है जो उसके आगे खड़ा होता है। इसी बात की ओर कोंकणी की निम्नलिखित कहावत में भी संकेत किया है -- 'घोड्या फाटीं कसो रावूंचे नांय राजा मुखार रावूंचे (घोड़े के पीछे और राजा के आगे खड़ा नहीं रहना चाहिए)।

अर्थनीति का स्वरूप

समाज में अर्थ का बहुत बड़ा महत्व रहा है। आज कल के ज़माने की समाज रचना मुख्यतः अर्थप्रधान होती है। अतः धनराशि को सामाजिक प्रतिष्ठा का सर्वोत्तम साधन माना जाता है और इस अर्थ या धन के अभाव में समाज का कोई भी काम नहीं चलता। किसी युग में धन से बढ़कर सद्गुणों का सम्मान और सद्गुणियों की सामाजिक प्रतिष्ठा होती थी। किन्तु युग के बदलने के साथ चिन्तनशक्ति में भी परिवर्तन के चिह्न मिलने लगे। गुणों की प्रतिष्ठा का स्थान संपत्ति ने ले लिया है। अब पैसे का खेल बढ़ गया है। धन ने एक बहुत बड़ी शक्ति का रूप ले लिया है जिसे अच्छे काम में लगाने पर समाज कल्याण, राष्ट्रकल्याण या धर्मकल्याण के कई कार्य सफल हो जाते हैं, जब कि बुरे कामों में लगाने पर वह सारे सामाजिक जीवन को खोखला कर देता है। इसीलिए स्त्री तथा धन दोनों को सभी प्रकार के आकर्षणों का मूल बताया गया है। सभी लोग धन के दास होते हैं। अतः संस्कृत हिन्दी तथा कोंकणी में कई उक्तियाँ मिलती हैं। 'अर्थस्य पुरुषो दासः', 'सर्वे कांचनमाश्रयन्ति' आदि संस्कृत उक्तियाँ

धन की महत्ता को स्पष्ट कर देते है । धन का अर्जन व्यक्ति के लिए अपेक्षित है क्योंकि जीने के लिए धन की आवश्यकता है । मगर धनोपार्जन का मार्ग सही होना चाहिए । उसके लिए बुरे कर्म करके अपने को बरबाद नहीं करना चाहिए । कई लोग समाज में ऐसे है जो धन की इच्छा में अपने परिवार की तो नहीं , खुद अपनी जान की भी परवाह नहीं करते । बोडो की कहावत है -- 'दुहुइ थोनु थोइ जोनलाय'(धन के लिए जान नहीं छोड़नी चाहिए) इसमें उक्त बात की ओर संकेत मिलता है । धन बटोरने की इच्छा में अपने को ही बलिदान करने की प्रवृत्ति से कोई फायदा नहीं । क्योंकि धन की प्राप्ति के बाद उसे भोगने के लिए व्यक्ति नहीं रहेगा तो वह धन नष्ट हो जाता है । किन्तु मनुष्य यह नहीं सोचता कि उसके मर जाने पर उस धन का क्या होगा या उसका भोग कौन करेगा । अतः अपना सम्पूर्ण जीवन धनोपार्जन में ही व्यतीत करके अपने जीवन को मनुष्य व्यर्थ कर देता है । अपने जीवन को सार्थकता प्रदान करने का प्रयास करने की तथा धन के मोह से दूर रहने की चेतावनी देनेवाली बोडो कहावत है -'थैनाय दुहुइ लाखर हाय ?'(मरते समय क्या धन ले जाया जाता है ?) फिर भी धनी लोगों का ही समाज में सम्मान होता है । धनिक लोगों के कई रिश्तेदार और मित्र होते है । व्यक्ति का स्वभाव किसी भी तरह का हो , पर यदि उसके पास संपत्ति है तो सब कहीं उसका ही आदर सम्मान होता है । 'जिसके हाथ कोई उसका सब कोई ' ।[1] प्रस्तुत हिन्दी कहावत में इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है । बोडो समाज भी इसका अपवाद नहीं है । धनी लोगों को यह सोचे बिना ही प्रतिष्ठा दी जाती है कि उसका धन कैसा है , उसने यह धन किस तरह जोड़ लिया है । इस बात को बोडो कहावत में भी व्यक्त किया गया है -- 'थाखु गोनांगानो मानु'(जिसके पास धन है उसका सम्मान होता है) 'थाखु गोनांगानो सोम्फ़ोर बांगो'[2](जिसके पास धन हो उसके कई रिश्तेदार होते है) । प्रस्तुत कहावत में भी धन तथा धनी लोगों को दिये जानेवाले सम्मान की ओर संकेत किया गया है । 'पैसा जिसकी गाँठ में उसके ही सब यार' वाली हिन्दी कहावत में भी यही बात उद्घाटित हुई है । बोडो में ऐसी और भी कहावतें मिलती है , जैसे 'गोड़ गोंथालो गोदो गुर्ति मोगु गोंथालोगो गुदु '(जहाँ गुड़ हो वहाँ चींटियाँ और जहाँ धन हो वहाँ मक्खी रहेगी) धनिक अपनी इच्छा के अनुसार कुछ भी कर सकता है । क्योंकि उसके धन के बल में होकर कोई भी उसका प्रतिवाद नहीं करता है । इस तथ्य को स्पष्ट करनेवाली बोडो कहावत है -

---

1. A full purse never lacked friends.
2. खावय जेवय असर जन्थाइ सोंदाइ खुब ।

'पण्णाचे ईर्वारि पैणि उब्बना' (धन के ऊपर बाज भी नहीं उड़ सकता)। माना जाता है कि बाज ही आकाश में सबसे ऊँचा उड़ता है। लेकिन धन की महत्ता उससे भी बढ़कर है। वहाँ बाज भी नहीं उड़ सकता। वैसे तो धनिक लोग कुकर्म करते हैं भी नहीं छिपते क्योंकि कोई भी उनकी संपत्ति की दीवार को तोड़नेवाला नहीं है। हिन्दी कहावत है -- 'अपने हिय देखा तो पराया आसरा क्या ?'[1] धनी व्यक्ति को किसी का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं रहती 'पाणु आसिनायाक कोणाक भीवूंक ?' (जिसके पास धन है वह क्यों दूसरों से डरे ?) वाली कोंकणी कहावत भी इसी तथ्य पर जोर देती है। धनी व्यक्ति अपनी सभी इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है। उससे पूछनेवाला कोई नहीं रहता। इस बात की ओर निम्नलिखित कोंकणी कहावत संकेत करती है -- 'पैशु आसिनायाक हैंच्या म्हाका व्हानुयात'[2] (जिसके पास धन हो वह किसी की तरह उसे खींच सकता है)। ऐसे व्यक्ति उन्हींसे संबन्ध जोड़ना चाहते हैं जिनके पास काफी धन हो। इस प्रकार धन धन ही को खींच में आता है। 'पाणु आसिलाले कडे पाणु वोल्ता' (जहाँ धन है, वहीं पर धन बढ़ता रहता है)। प्रस्तुत कोंकणी कहावत में ऊपर उद्धृत तथ्य पर प्रकाश डाला गया है। हिन्दी की एक कहावत में भी इसी बात का उल्लेख भी हुआ है -- 'माल की बेटी माल हो के आती है'। (प्रस्तुत कहावत प्रत्यक्षतः अभिव्यक्ति से संबन्धित है तो भी उसमें निहित आन्तरिक अर्थ धनी लोगों के आपसी संबन्ध की ओर ही संकेत करता है।) यों तो संपत्ति जुटाने में सभी लोग व्यस्त रहते हैं। लेकिन इसके बाद भी व्यक्ति को चैन नहीं मिलता। संपत्ति मिल जाने पर उसके मन में कई तरह की चिन्ताएँ रहती हैं। कहने का तात्पर्य है कि धन से कई हानियाँ भी होती हैं। व्यक्ति व्यक्तियों के बीच शत्रुता उत्पन्न कराने का साधन भी धन ही होता है। विश्वयुद्ध का कारण भी यही होता है। जिसके पास धन है मुसीबतें हमेशा उसका पीछा करती रहती हैं। इस तथ्य की ओर संकेत करनेवाले हिन्दी कहावत हैं -- 'बड़ी भैंस बड़ी रंग', 'जितनी दौलत उतनी मुसीबत' कोंकणी की कहावत है -- 'पाणु आसिनायाक कष्ट चड' (जिसके पास धन है उसे सबसे बढ़कर परेशानी भी है)। इस कहावत में अर्थ से होनेवाली हानि पर भी संकेत मिलता है।

---

1. Money makes many things
2. पैश आसिनायाक सातोंय दिवसान चहुयात

दरिद्रता

किसी भी समाज में सब धनी ही नहीं रहते । वर्तमान समाज में अधिकांश लोग गरीबी में अपना जीवन गुजारते है । वे उच्चवर्गीय समाज से कोसों दूर रहते है । कोई भी उनसे नाता जोड़ना नहीं चाहता । गुणवान होने पर भी दरिद्र को कोई नहीं मानता । समाज उनकी उपेक्षा ही करता है । अतः हिन्दी की कहावत है -- 'गरीब तेरे तीन नाम, झूठा, पाजी, बेईमान' ।[1] दरिद्रता व्यक्ति के सद्गुणों को नष्ट कर देती है । संस्कृत की एक उक्ति इस बात को स्पष्ट करती है -- 'दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी' । कहने का अर्थ है कि दरिद्रता मनुष्य के लिए एक अभिशाप है । इसीलिए वह कहीं भी जाय दुर्भाग्य उसे छोड़ता नहीं है । 'दरिद्र वेळितो कडे नेलकावि होरि' (दरिद्र जहाँ जाता है वहाँ उसे कुएँ के पीछे की ओर ही ढ मिलती है ।[2]) प्रस्तुत तेलुगु कहावत में दरिद्रता से पीड़ित मनुष्य के वास्तविक जीवन पर प्रकाश डाला गया है । निर्धन कहीं भी जाय उसे दुत्कार ही मिलती है । पैसों का अभाव सारे गुणों को दूषित कर देता है । वह जो भी अच्छे कार्य करे तो भी उसका कोई देखनेवाला या सुननेवाला नहीं होता । तेलुगु कहावत -- 'दरिद्रि तुम्मितो दब्बा पोट्टकु, राजु तुम्मितो दब्बा औषधानिकि' (दरिद्र यदि छींकता भी है तो कहते है भूख के लिए जब कि राजा छींक भी दे तो कहते है दवा के लिए) । इसमें उपरिलिखित बात की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है । धनी और निर्धन लोग एक ही कार्य करें तो भी धनी का ही सम्मान होता है, निर्धनों का नहीं । निर्धनों के लिए समाज में कोई चारा नहीं, कोई गति नहीं । उसका अस्तित्व भी किसीको मालूम नहीं होता । उसकी अस्मिता का कोई स्थान है ही नहीं । 'गरीब आदमी पैदल बराबर' वाली कहावत गरीब को समाज में दिये जानेवाले स्थान को बड़ी मार्मिकता के साथ चित्रित करती है । आज के जमाने में गरीब व्यक्ति की कोई कदर नहीं होती । उसकी जवानी काम करते करते समाप्त हो जाती है, जैसे गर्मियों के दिनों में कहीं धूप का कोई मूल्य नहीं रहता और जाड़े की रात की चाँदनी में आनन्द निरर्थक है । निर्धन अपनी जीवन नैया को दरिद्रता के सागर में डुबो देता है और स्वयं नष्ट हो जाता है । इस तथ्य की ओर इंगित करनेवाली हिन्दी कहावत है -- 'गरीब की जवानी, गरमी की धूप, जाड़े की चाँदनी

---

1. A light purse is a heavy curse

2. [illegible] ।

असफल बार' । गरीबों को अपनी भूख मिटाने को भी कुछ नहीं मिलता । कोंकणी की निम्नलिखित कहावत में उनकी निस्सहायता की ओर भी संकेत किया गया है -- 'कल्पदोधिं पोटूस वट्टोली कल्पीर केल्ले कर्ताधिं करोंक ओट्टे' (बड़ी जगह भूख के लिए आटा थोड़ा भी नहीं सबे में ही छेद पड़ गए हैं ।) 'हांडी के घर में नोन बन्धन' वाली हिन्दी कहावत में भी दरिद्रता का चित्र उभर आता है । इन कहावतों में धनी तथा गरीब व्यक्तियों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए समाज में दोनों के प्राप्त स्थान की ओर भी संकेत मिलता है ।

कर्ज की बुराइयाँ

भूख मिटाने के लिए गरीब लोग धनी लोगों पर निर्भर रहते हैं । लेकिन अपने कर्ज को सूद के साथ चुकाने के वक्त उनको अपना सब कुछ भी देना पड़ता है । कर्जदार जो होते हैं वे दुगुना तिगुना सूद लगाकर गरीबों को लूट लेते हैं । इस आफत से बचाने के लिए समाज की ओर से लोगों को कहावतों के रूप में चेतावनियाँ दी जाती हैं । कोंकणी की एक कहावत है -- 'धन ना जल्यारीय रीण नाका' (यदि पैसे नहीं हैं तो भी कर्ज नहीं लेना चाहिए) । 'रीण घेवन सुख दितना रडो' (ऋण लेते समय सुख का अनुभव होता है जब कि देते समय रो है) ।[1] प्रस्तुत कोंकणी कहावत में इस तथ्य की ओर संकेत किया गया है कि जब पैसा हाथ में आ जाए, चाहे वह कर्ज में लिया क्यों न हो तो भी मनुष्य को इतना सन्तोष होता है कि वह यह बात बिलकुल भूल जाता है कि कर्ज में लिया धन वापस सूद के साथ देना है । जब ऋण चुकाने का वक्त आएगा तो रोने से कोई फायदा नहीं ।

अर्थनीति से संबन्धित इन कहावतों के अध्ययन से हिन्दी तथा कोंकणी समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता और उससे बिगड़ी हुई आर्थिक नीति का परिचय भी मिलता है । दोनों समाजों में अर्थ की प्रमुखता देखी है ।

---

1. रीण घेतलेलो गोड फारीकतलो कोडू

हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में प्रतिफलित व्यक्तिव्यवहार का स्वरूप

समाज भिन्न स्वभाववाले व्यक्तियों का समूह है और व्यक्तियों के स्वभाव के अनुसार उनके व्यवहार में भिन्नता रहती है । व्यक्तिस्वभाव के भिन्न पहलुओं को लेकर हिन्दी तथा कोंकणी समाजों में प्रयुक्त होनेवाली अनेक कहावतें मिलती हैं जिनमें सामाजिक व्यवहार का जो रूप मिलता है उसमें व्यावहारिक नीति का अंश भी रहता है । इनमें से कोई कहावतें व्यक्तिव्यवहार को समझकर उसके अनुकूल व्यवहार करने की सीख भी दिए जाती हैं । प्रस्तुत अंश के विश्लेषण के पहले समाज में दिखाई पड़नेवाले भिन्न प्रकार के व्यक्तिस्वभाव का विवेचन करना होगा ।

समाज में व्यक्ति का स्वरूप -- जन्मजात स्वभाव और उसमें सुधार

पहले ही कहा जा चुका है कि समाज में विविध स्वभाववाले व्यक्ति देखने को मिलते हैं और उनके स्वभाववैविध्य के अनुसार उनके व्यवहार में ? भी भिन्नता रहा करती है । समाज का एक व्यक्ति स्वार्थी एवं कंजूस होता है तो दूसरा व्यक्ति निःस्वार्थ एवं उदार होता है । कोई कर्मठ रहता है तो कोई आलसी । समाज में कुटिल लोगों के साथ साथ सत्यशील और दयावान व्यक्ति भी होते हैं । इनका व्यवहार भी भिन्न भिन्न रहता है । हिन्दी तथा कोंकणी समाज में व्यक्तियों के स्वभाव को व्यक्त करनेवाली कहावतें मिलती हैं । इनमें आचरणसंबन्धी खूबियाँ और कमियाँ देखने योग्य हैं । सामाजिक जीव होने के कारण मनुष्य पर अपने सहयोगी का प्रभाव अवश्य पड़ता है । ऐसा होते हुए भी उसका जन्मजात स्वभाव अपना अलग होता है । जन्म से प्राप्त यह स्वभाव मरण तक उसका साथ देता है । कोंकणी की कहावत -- 'जल्मताली स्वभावु मेल्या बगेर वचना' (जन्मजात स्वभाव मिटता नहीं है) । किसी व्यक्ति के बुरे स्वभाव को सुधारने के लिए किए जानेवाले सारे प्रयत्न भी व्यर्थ हो जाते हैं । इसी लिए तो कहा जाता है -- 'कुत्ते की दुम बारह वर्ष नल में रखो तो भी टेढ़ी की टेढ़ी '

कुत्ते की दुम हमेशा टेढ़ी होती है । उसके टेढ़ेपन को दूर करने के लिए कोई उसकी दुम को बारह वर्षों तक नली में डालकर उसे सीधा करने का प्रयास करे तो भी वह टेढ़ी की टेढ़ी ही रहती है । 'कुत्र्या वाल नोंळियान्तु घाली म्होनु सीद आवत वे ?' (कुत्ते की दुम नली में रखने पर क्या सीधी हो सकती है ?)[1] कोंकणी की प्रस्तुत कहावत में भी ऊपर उद्धृत अनुभूत सत्य की ओर संकेत मिलता है । कुत्ते की दुम जैसे व्यक्ति के स्वभाव का टेढ़ापन भी बहुत सा प्रयास करने पर भी वैसे का वैसा ही रहता है । 'कारातें साकरेंतु घोळयारीय कोडूच'[2] (करेला गुड़ में भूनने पर भी कड़ुआ ही रहता है) । करेला कड़ुआ होता है और गुड़ मीठा । कड़ुआ करेला गुड़ में मिलाकर भूनने पर भी उसका कड़ुआपन दूर नहीं होता । करेले का सहज गुण है कड़ुआपन और वह क्यों भी किसी भी प्रकार उसे पकाने पर मिट नहीं जाता । वैसे ही दुर्गुणवाले व्यक्तियों का सज्जनों की संगति में रहने पर भी कोई सफलता नहीं होता । हिन्दी में कहा जाता है -- 'अड़सठ तीरथ कर आई तुमड़ी तऊ न गई कड़वाई ' कोंकणी की 'कोडू दुदीर गंगेन्तु बुडयल्यारीय गोडू जात वे ?' (गंगा में डुबो देने पर भी क्या कड़ुआ कद्दू मीठा बन सकता है ?) वाली कहावत भी प्रस्तुत सत्य की ही अभिव्यक्त करती है । फिर पापों से मुक्त होकर पुण्य की प्राप्ति के लिए ही तीर्थों में जाया जाता है । लेकिन अड़सठ तीर्थ न हो अपने घर ही किसी के मन में पाप बसा रहता है तो वहीं कर सकते ।

जाको जौन स्वभाव जाय नहिं जू से
नीम न मीठा होय सींचे गुड़ घी से ॥

जिसका जो जन्मजात स्वभाव है वह तिल भर भी दूर नहीं होता, चाहे उसे सुधारने का कितना ही प्रयास क्यों न करें ॥ जिस प्रकार नीम का पेड़ घी और गुड़ से सींचने पर भी कड़ुआ ही रहता है वैसे व्यक्ति का स्वभाव भी किसी भी हालत में बदलता नहीं है । कोंकणी समाज में इसी सत्य की ओर संकेत करनेवाली एक कहावत भी मिलती है -- 'निम्बा रुकु अमृतान शिंपिल्यारीय गोडू जायना' (अमृत से सींचने पर भी नीम का पेड़ मीठा नहीं होता ।) वैसे ही कोंकणी की और कहावत है -- ' कारातीचे बी दुदान्तु घालयारीय कोडूच ' (करेले का बीज दूध में डाल दे पर भी कड़ुआ ही रहता है ।) उपर्युक्त कहावतों में व्यक्ति के जन्मजात स्वभाव की स्थिरता प

---

1. कुत्र्याचे शेपुट वाकडे ते वाकडेच (मराठी)
2. तेल में तळी तरी कारले, तूप में तळी तरी कारले (मराठी)

स्पष्टतया पर ही बल दिया गया है । जन्म से जो स्वभाव उसमें रहता है उसकी अच्छाई या बुराई उसके पूरे जीवन को प्रभावित कर ही जाती है ।

व्यक्ति का जन्मजात स्वभाव कभी टलता नहीं है, इस तथ्य से अवगत समाज में लोगों को यह बोध हो जाता है कि 'जित्याची स्वभावु जैत्या कौर तजना' [1] (जिसका जो जन्मजात स्वभाव है वह उसके मर जाने तक वैसे ही रहता है ।) समाज में रहनेवाले लोगों एवं सभी व्यक्ति के सुधारात्मक प्रयत्न जब विफल हो जाते हैं तो अक्सर इस कहावत का प्रयोग होता है । लेकिन इसके अन्तर्गत यह शिक्षा भी निहित है कि व्यक्तिस्वभाव को सुधारने का प्रयास बचपन से ही प्रारंभ करना चाहिए । व्यक्ति अपने बचपन में जो कुछ सीखता और अनुभव करता है, उसीके आधार पर वह अपने जीवन में आगे बढ़ता है । अतः जन्म से ही स्वभाव गठन का प्रयत्न किया जाना चाहिए । यह बोध बचपन में ही हो जानी होगी । अन्यथा बाद में यह असंभव रह जाते हैं, क्योंकि व्यक्ति जब बड़ा होता है तो उसकी अपनी आदत पड़ जाती है । वह दूसरों की नहीं मानता । फिर उसके स्वभाव को बदलने में बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है । तेलुगु में इस ओर संकेत करनेवाली कहावत है -- 'कनक अंगना कोंटोन्मु तेच्चोर्चित मद्दिह तो कयारि कोंटोन्मु तेन्चोकुल चवनम' (कुत्ते को गोद में रखा जा सकता है, लेकिन उसका पेट तो वैसे नहीं रखा जा सकता) । प्रस्तुत कहावत में बचपन से ही व्यक्तिस्वभाव में सुधार लाने के प्रयास करने की ओर संकेत मिलता है ।

उपर्युक्त हिन्दी तथा तेलुगु भाषाओं की कहावतों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि व्यक्तियों का अपना अपना निजी स्वभाव होता है और यह स्वभाव सभी में एक ही प्रकार का नहीं होता । इसलिए समाज में भिन्न भिन्न स्वभाववाले लोग मिलते हैं और उनके स्वभावानुसार समाज में विभिन्न प्रकार के आपसी व्यवहार भी मिलते हैं । समाज में व्यक्तियों के स्वभाव की विविधता के कारण समाज को नीति के तत्व अपनाने पड़ते हैं । अतः सामाजिक व्यवहार को चालू करने का श्रेय नीति को ही है और व्यक्तिस्वभाव के साथ ही नीति की चर्चा भी कभी कभी लोकनीति के रूप में हुआ करती है ।

---

1. जित्याचि खोड मेल्याशिवाय जात नाही (मराठी)

व्यक्ति का स्वार्थ और उसे दूर करने के उपाय

व्यक्ति के जन्मजात स्वभाव में स्वार्थ भी एक है और वह मानव जीवन का अविच्छेद्य अंग है । दुनिया भर में ऐसा कोई भी व्यक्ति शायद ही मिलेगा जो स्वार्थ के परे से परे होकर त्यागमय एवं सर्वप्रिय जीवन बिताता हो । यह स्वार्थ व्यक्तिगत स्वार्थ से लेकर पारिवारिक जातिगत, समाजगत, देशगत, राष्ट्रगत आदि कई प्रकार का होता है । जब स्वार्थ सामाजिक स्तर से ऊँचा हो जाता है तब वह मानव कल्याण की भावना को अपनानेवाले विशाल स्वार्थ में परिणत हो जाता है । स्वार्थ के कारण व्यक्तियों के बीच कटुता एवं मनमुटाव उत्पन्न हो जाता है जिसके फलस्वरूप समाज में झगड़ा, फसाद आदि होते रहते हैं । इससे समाज की जड़ें भी हिलने लगती हैं । स्वार्थी मात्र अपनी तरक्की के उद्देश्य से सामाजिक जिम्मेदारियों को एकदम भूल जाता है । इस प्रकार वह दूसरों को हानि पहुँचाता है । ऐसे लोग समाज में निन्दनीय हैं । लोगों के इस स्वार्थ से दूर रहने के लिए समाज में कहावतों के जरिये कई अभिव्यक्त होते जाते हैं । हिन्दी में कहा जाता है -- 'जो अपने काम न आये सो चूल्हे भाड़ में जावे' । स्वार्थियों को मात्र अपने सुख की चिन्ता रहती है, दूसरे दुःख भोगें या किसी संकट में पड़ जायें इससे उनका कोई काम नहीं रहता । कोंकणी में कहा जाता है 'जो अम्बाचि रेवो समस लग्ना' (वह सागर में जाकर डूबे मुझे कुछ नहीं) । प्रस्तुत कहावत में भी व्यक्ति के स्वार्थ की ओर संकेत किया गया है । स्वार्थी अपना काम दूसरों से कराते हैं और उसका फल भुगतने के लिए स्वयं आ बैठते हैं । कोंकणी समाज ऐसे व्यक्तियों पर व्यंग्य करते हुए चुटकीले शब्दों का प्रयोग भी करता है -- ' जोरे अपणा विक्वान तन्या'[1] (प्रत्येक अपनी दिशा में ही मिट्टी खींचता है ।) बचपन से जब मिट्टी खींचे जाते हैं तो प्रत्येक जिस ओर मुहा रखता है उसी ओर मिट्टी भी खींचे जाते हैं । स्वार्थी लोग हमेशा अपनी ही भलाई चाहते हैं, इसी तथ्य को प्रस्तुत कहावत में कही गई है । ऐसे ही स्वार्थी लोगों की निन्दा अन्य कई कहावतों में भी प्रकट होती है । कोंकणी में एक कहावत है --' 'अपणाले कार्य महाकार्य पेरगाल्ले कच्चुके' (अपना कार्य महान होता है दूसरों का कार्य तुच्छ) कोंकणी की यह कहावत समाज की स्वार्थता की ओर ही संकेत करती है । इसमें किए गए शब्दों का प्रयोग उस समाज के अन्य लोगों के मन में स्वार्थी व्यक्ति के प्रति जो दुर्भाव है उसे व्यक्त करता है । हिन्दी में भी लोगों के स्वार्थ की ओर संकेत करनेवाली कहावतें अनेक मिलती

---

1. Every miller draws the water to his own mill.

है, जैसे -- 'अपने से बचे तो औरों को दे'। पहले स्वार्थ फिर परार्थ। इसी भाव को कोंकणी कहावत में भी व्यक्त किया गया है। '[illegible] 'कव्ळ्याक सामना खोंप और कव्ळे केनाक दिवचो' (कौए को ही पेट भरने के लिए मिले तो वह फिर किसको ?) यहाँ कौए को लेकर अन्योक्ति के द्वारा प्रस्तुत कहावत में स्वार्थी की जो निन्दा की गई है उसमें मानव को स्वार्थ से दूर रहने की शिक्षा अन्तर्लीन है। कहावतों के रूप में दी जानेवाली स्वार्थी लोगों की ये घुड़कियाँ निःसन्देह व्यक्तिस्वभाव के सुधार में भी कुछ हद तक सहायक बन जाती हैं।

धोखेबाज और उनसे बचाव

स्वार्थी लोगों के मन में सिर्फ अपनी प्रगति की ही धुन रहती है। इसी धुन में वे दूसरों को धोखा देने के लिए तैयार रहते हैं। वे बड़ी ही चतुरता से दूसरों को मीठे वचनों से अपने फन्दे में फँसा लेते हैं और अपनी स्वार्थसिद्धि के बाद उन्हें धक्का मारते हैं। ये लोग बाह्य रूप से अपने को बड़ा धर्मात्मा मानते हैं, लेकिन उनके भीतर बड़ी ही नीच स्तर की होती है। ऐसे स्वार्थी एवं धोखेबाज लोगों के संबन्ध में समाज में कहा जाता है -- 'मुँह में राम राम बगल में छुरी'। इसी तथ्य की ओर संकेत करनेवाली कोंकणी कहावत है -- 'तोंडान्तु बरें पोट्टान्तु पोसपो पोंको' (मुँह में मीठा बोले पेट में विषैला हुआ)। ये लोग उन विषैले साँपों के समान हैं जिनके विषैले दाँत बाहर नहीं दिखाई देते, मुँह के अन्दर छिपाये रखे जाते हैं। प्रस्तुत कहावत के द्वारा समाज को चेतावनी है कि धोखेबाज भी समाज में होते हैं, सज्जन लोग उनसे बचे रहें। कोंकणी की एक कहावत है -- 'मात्‌ठाचे मुँझेन मस्सो काटय'[1] (मुँह से मच्छा काटता)। जैसे ही धोखेबाज व्यक्ति बाह्य रूप से बहुत ही सीधा सादा लगेगा। लेकिन उसका मन इतना क्रूर होगा कि वह दूसरों को क्षति पहुँचाने में तिल भर भी हिचकेगा नहीं। कोंकणी की और एक कहावत -- 'हवे भराते भितरि कोंडु' (बाहर से सफेद दिखनेवाला कछुआ भीतर से काला होता है।) इसी तथ्य को अभिव्यक्त करती है। 'मन उजला तन साँवला' वाली हिन्दी की कहावत में भी लोगों की धोखेबाजी की ओर संकेत मिलता है। इसी तरह के भाव को कोंकणी समाज में और एक रूप भी दिया गया है -- 'वर्णन गोरो भितरि काळो'

---

1. मोत्‌ठोचे मुँझेन मार्चटो मोठप

(बाहर से गोरा लेकिन भीतर से काला) । धोखा देनेवाले तो ऊपरी तौर पर बहुत ही संपूर्ण व्यवहार करते है लेकिन उनके जैसे दुष्ट स्वभाववाले दुनिया में कोई नहीं रहते । ऐसे धोखेबाज लोगों से दूर रहने के लिए समाज में प्रचलित तथ्य से भरी हुई कई चेतावनियाँ कहावतों के रूप में दी जाती है ।

कंजूस व्यक्ति

स्वार्थ के साथ व्यक्तियों में कंजूसी भी रहती है । स्वार्थ की मात्रा अधिक हो जाने पर कंजूसी भी बढ़ जाती है । अपने स्वार्थ की पूर्ति की धुन में वे दूसरों की विवशता को और समझने की ध्यान नहीं देते और आर्थिक व्यवहार में भी कंजूसी दिखाते है । ऐसा स्वार्थयुक्त कंजूस व्यक्ति अपनी एक कौड़ी भी दूसरे की सहायता में खर्च नहीं करता । उसकी कंजूसी की निन्दा समाज में कहावतों के द्वारा की जाती है -- 'जूठे हाथ से कुत्ता भी नहीं मारता' कई व्यक्तियों की कंजूसी इतनी अधिक रहती है कि वे जूठे हाथ से कुत्ते को भी नहीं मारते । क्योंकि वे अपने हाथ की जूठन भी व्यर्थ छोड़ना नहीं चाहते । 'उप्पे हस्तान काकूताक अन्नुत' (जूठे हाथ से कौए को भी नहीं भगाता) में भी व्यक्तियों की कंजूसी ही प्रतिबिंबित होती है । कंजूस लोग एक कौड़ी भी व्यर्थ व्यय नहीं करते । एक कौड़ी भी क्यों न मिलनेवाली हो तो उसे प्राप्त करने के लिए कितने ही कष्ट क्यों न उठाने पड़े, वे उसकी चिन्ता नहीं करते । उन्हें तो किसी न किसी तरह पैसा कमाने का ही विचार है । इस तथ्य की ओर संकेत करनेवाली तेलुगु कहावत है -- 'मुक्कलोलो पुड्डु धन्याल कोट्टुनु नद्दुला' (मुँह में पड़ी कौड़ी चाटी से ले लेता है) प्रस्तुत कहावत में कंजूस व्यक्तियों पर तीव्र व्यंग्य किया गया है । दूसरे की सहायता करने से बचने के लिए लोग अपने आप को दरिद्र दिखाते है और सहायता माँगनेवाले के सामने अपनी विवशता दिखाते है । यही नहीं धन बचाने के लिए वे अपने लिए आवश्यक चीजें भी नहीं खरीदते और ठीक तरह खाते पीते भी नहीं है । किन्तु कभी कभी इन कंजूस व्यक्तियों का कुछ न कुछ नष्ट भी हो जाता है । वे प्रायः छोटी से छोटी चीजों के खो जाने में बहुत ही सावधानी रखते है पर कि कभी बड़ी चीजें उनकी आँखों में पड़े भी बिना ही नष्ट हो जाती है । अतः तेलुगु कहावत भी प्रयुक्त होती है -- 'छलि तन्नूनु पाला गुमराये तेक ? करता' (हाथी हो

बड़ी वस्तु एक ओर से सभी जाती है तो दूसरी ओर से मकड़ी को भी निगलो करता है) हाथी तो इतना बड़ा है कि उसे दूर से ही देखा जा सकता है । मच्छर तो इतने छोटे रहते है कि कभी कभी वे दिखाई भी नहीं पड़ते । इसी भाव की सिन्धी की निम्नलिखित कहावत में भी अभिव्यक्ति हो गई है । 'अशर्फियाँ लुटे और कोयलों पर मुहर' । कहने का तात्पर्य है कि व्यक्ति कंजूसी दिखाने पर भी कभी कभी कुछ नष्ट ही कर देते है ।

आलसी मनुष्य

कई कंजूस लोगों का यह भी आम स्वभाव रहा है कि वे एकदम चीजें बचाना चाहते है लेकिन काम दूसरों से करा लेते है । ये लोग कंजूस होने के साथ साथ बड़े ही आलसी भी होते है । दूसरों से कष्ट उठवाकर उसका मजा लेने में ये पटु होते है । इनके आलस्य को चित्रित करनेवाली कोंकणी कहावत है -- 'जेवक आपाक जाण अप्पयाय , कामाक दुसऱ्याक अप्पयाय ' (खाने के लिए मुझे बुलाओ , काम करने के लिए दूसरों को बुलाओ) । आलसी लोग काम करना नहीं चाहते । किन्तु खाने के लिए सबसे पहले तैयार होते है । ऐसे व्यक्ति तो केवल खाना और सोना ही जानते है । इनकी हँसी उड़ाते हुए कोंकणी समाज में एक कहावत यों मिलती है -- 'रोसयेतु चलि , पोट्टाक आर्ग , कन्तुळेक चडि'(रोसक में चलो , पेट को आरती और चटाई पर लोट) खाने के समय रोप नाली ही आलसी के पेट में चूहे दौड़ने लगते है और चटाई देखते ही उसे नींद भी आ घेरती है । आलसी सदा सुविधाओं के पीछे रहता है । उसे चीजों की सुविधा भी चाहिए है । 'नाही को देख नाही के पाँव सूजे' वाली सिन्धी कहावत में यही भाव प्रतिबिंबित हुई है । कोंकणी की और एक कहावत में भी आलस्य का सुन्दर चित्रण हुआ है -- 'आस कम्बलि उब्बा होंं ना कम्बलि थिन्ना हों'(चादर है तो ठंड है , नहीं तो वह भाग जाती है) । जब कम्बल पास है तो आलसी को ठंड लगती है यदि कम्बल न हो तो वह ठंड से डरता है । कहने का अर्थ है कि जहाँ कहीं भी थोड़ा चैन मिलने का मौका है तो आलसी व्यक्ति उसका पूरा मजा उठाने का प्रयास करते है । इसी संदर्भ की ओर इंगित करनेवाली कोंकणी की और एक कहावत है -- 'अट्टयानीचलल्या चाँव म्हणि , तो म्हण्टा हन्गी केल्या तर चार'(आलसी से कटहल के बीज भूनने को कहा , वह कहता है कभी बीज ही स्वादिष्ट होते है ।) काम करने से बचने के लिए आलसी कुछ भी खाने के लिए तैयार होता है और बुरी चीजें भी उसे अच्छी लगती है ।

कर्मठ व्यक्ति

समाज में सभी व्यक्ति आलसी नहीं होते । कई कर्मठ व्यक्ति भी समाज में देखने को मिलते हैं । वे अपने कर्तव्य का पालन करते हैं । इन्हीं के कारण समाज की उन्नति होती रहती है, परन्तु इनके अभाव में समाज अवनति की ओर जाता है । ऐसे व्यक्ति बहुत ही अध्यवसायी होते हैं और इसी कारण वे कुछ न कुछ करते ही रहना चाहते हैं । वे दिन रात अपने काम में जुटे रहते हैं और वे 'कोल्हू का बैल' वाली हिन्दी की उक्ति को सार्थक बनाते हैं । कोंकणी में इसी तथ्य की ओर इंगित करनेवाली उक्ति है -- 'घाण्याक बांदिल्लो बइलु' (कोल्हू का बैल) । कर्मनिरत व्यक्ति कभी काम करके थकता नहीं है । प्रायः आलसी लोग इस विचार में रहते हैं कि कब रात होनेवाली है ताकि वे जल्दी से लेट सकें । लेकिन कर्मठ व्यक्ति इसी पर चिन्तित रहते हैं कि कब रात खतम हो जायेगी जिससे कि सुबह होने पर वे अपना काम शुरू कर सकें । इस ओर इंगित करनेवाली कोंकणी की कहावत है --' 'आळश्याक दीसु वरसा, कष्ट करतल्याक रात्ति सांणि जायना' (आलसी के लिए दिन समाप्त ही नहीं होता और परिश्रम करनेवाले के लिए रात कम नहीं होती) आलसी को दिन अच्छा नहीं लगता क्योंकि दिन के समय वह काम नहीं करता । चुपचाप बैठे रहने से उसको दिन लम्बा सा लगता है । लेकिन कर्मठ व्यक्ति की रात छोटी नहीं होती । दिन भर काम करते रहने के कारण समय जल्दी चला जाता है और दिन भर परिश्रम करते रहने के कारण वह रात को सुख की नींद सोता रहता है ।

दुष्ट व्यक्ति

आलसी व्यक्ति प्रायः काम करने से मुँह मोड़ता है । काम करने से बचकर वह अपना समय व्यर्थ ही दूसरों से मजाक उड़ाकर बिताता है । वे आलसी दूसरों की निन्दा करके उनकी हँसी उड़ाने में पटु होते हैं । लेकिन वे खुद अपनी कमियों को एकदम भूल जाते हैं और दूसरों की छोटी से छोटी कमियों को भी घूरकर देखते हैं । हिन्दी तथा कोंकणी दोनों भाषाओं में ऐसे निन्दकों की कमी नहीं है । इन व्यक्तियों के संबन्ध में कई कहावतें मिलती हैं । हिन्दी की एक कहावत है -- 'अपना टेंटर देखे नहीं दूसरे की फूली निहारे' । कोंकणी में 'अपणाल्या पायां पोंदाकुले कुसके पोंनु दुसऱ्याल्या पायां कुर्नाकुले सवाय दोळ्यांसा' (अपने पैरों के नीचे पड़े

कुबड़े को छोड़कर दूसरों के पैरों के नीचे पड़ी राई को देखता है) कोंकणी की प्रस्तुत कहावत में भी निन्दकों की दूसरों के दोषों को खोज निकालने की प्रवृत्ति को अत्यन्त रोचक ढंग से अभिव्यक्त हुई है। कुबड़ा तो स्वयं कहता है कि राई उसके सामने कुछ भी नहीं है। नीचे पड़ी राई कभी दिखाई नहीं पड़ती जब कि कुबड़ा किसी को आँखों से आसानी से पड़ जात है। किन्तु निन्दक अपने बड़े दोषों को स्वयं छिपाने का प्रयास करते हुए दूसरों की छोटी गलतियों को ढूँढकर उनकी हँसी उड़ाते हैं। कोंकणी की ओर एक उक्ति है -- 'अप्पण मोठो दुसोर्याक म्हणत पोटो' (स्वयं अंगहीन है, दूसरे को लंगड़ा कहता है।) हिन्दी में इसी ओर संकेत कर देनेवाली कहावत है -- 'चलनी दूसे सूप को जिसमें बहत्तर छेद'। चलनी में तो सूप या अन्न से भी अधिक छेद होते हैं। फिर भी चलनी सूप में दोष देखती है। समाज में कई ऐसे व्यक्ति रहते हैं जो अपने दोषों को ढककर दूसरों का दोष चाहे वह बहुत ही ~~ह~~ कम हो, उसे लेकर निन्दा करने बैठते हैं। निन्दकों की यह विशेषता भी रही है कि वे दूसरों की खिल्ली उड़ाते समय कुछ छिप कर ही बातें करते हैं। किसी के पीछे रहकर ही वे उसकी निन्दा करने लगते हैं। उस वक्त वे बड़ी सावधानी बरतते हैं कि कोई दूसरा उनकी बात न सुन पावे वे अपनी ही मंडली के लोगों से कहा करते हैं -- 'दीवार के भी कान है इस बात को कोंकणी की निम्नलिखित कहावत में भी स्पष्ट किया गया है -- 'वण्टारांकयि कान अस्तांथ'[1] (दीवार के भी कान होते हैं)। निन्दक अपनी गलतियों को छिपाने का सर्व प्रयत्न करते हैं। इस प्रयास में वे अपनी गलतियों को दूसरों के माथे मढ़ देने में भी हि नहीं हैं। अपने दोष को स्वीकारने को भी वे तैयार नहीं होते। अतः उनकी इस प्र के स्पष्टीकरण में कहा जाता है -- 'अपना पैसा खोटा तो परखैया का क्या दोष ?' जब पैसा खोटा तो दूसरों पर आक्षेप लगाना ठीक नहीं है। वैसे ही अपने स्वभाव या व्यव कोई भूल हुई हो तो उसके दुष्परिणाम पर दूसरों को दोषी बताना उचित नहीं है। इ की ओर संकेत करनेवाली कोंकणी कहावत भी मिलती है -- 'स्वःमेलो दुडडु दुडो कप्पाक दुकानदाराक उत्तीक किताक ?' (जब अपना पैसा खोटा तो दुकानदार को क्यों हटि) इस प्रकार हिन्दी तथा कोंकणी, दोनों कहावतों में अभिप्रेत दूसरा व्यक्ति-स्वभाव का चित्र खींचा गया है।

---

1. कमला हिडिमेकींच और कानु अन्न

कुबड़े को छोड़कर दूसरों के पैरों के नीचे पड़ी राई को देखता है) कोंकणी की प्रस्तुत कहावत में भी निन्दकों की दूसरों के दोषों को खोज निकालने की प्रवृत्ति को अत्यन्त रोचक ढंग से अभिव्यक्त हुई है । कुबड़ा तो स्वयं कहता है कि राई उसके सामने कुछ भी नहीं है । नीचे पड़ी राई क्यों दिखाई नहीं पड़ती जब कि कुबड़ा किसी की आँखों में आसानी से पड़ जाता है । किन्तु निन्दक अपने बड़े दोषों को स्वयं छिपाने का प्रयास करते हुए दूसरों की छोटी गलतियों को ढूँढ़कर उनकी हँसी उड़ाते हैं । कोंकणी की ओर एक उक्ति है -- 'आपण मोटो दुसऱ्याक म्हणता पोटो' (स्वयं अनाड़ी है , दूसरे को लंगड़ा कहता है ।) हिन्दी में इसी ओर संकेत कर देनेवाली कहावत है -- 'चलनी दूसे सूप को जिसमें बहत्तर छेद' । चलनी में तो सूप या छाज से भी अधिक छेद होते हैं । फिर भी चलनी सूप में दोष देखती है । समाज में कई ऐसे व्यक्ति रहते हैं जो अपने दोषों को ढककर दूसरों का दोष चाहे वह बहुत ही ~~अ~~ कम हो , उसे लेकर निन्दा करने बैठते हैं । निन्दकों की यह विशेषता भी रही है कि वे दूसरों की खिल्ली उड़ाते समय कुछ छिप कर ही बातें करते हैं । किसी के पीछे रहकर ही वे उनकी निन्दा करने लगते हैं । उस समय वे बड़ी सावधानी बरतते हैं कि कोई दूसरा उनकी बात न सुन पाये वे अपनी ही मंडली के लोगों से कहा करते हैं -- 'दीवार के भी कान हैं ' इस बात को कोंकणी की निम्नलिखित कहावत में भी स्पष्ट किया गया है -- 'वणटांकय कान आसात '[1] (दीवार के भी कान होते हैं) । निन्दक अपनी गलतियों को छिपाने का भारी प्रयत्न करते हैं । इस प्रयास में वे अपनी गलतियों को दूसरों के माथे मढ़ देने में भी हिचकते नहीं हैं । अपने दोष को स्वीकारने को भी वे तैयार नहीं होते । अतः उनकी इस प्रवृत्ति के स्पष्टीकरण में कहा जाता है -- 'अपना पैसा खोटा तो परखैया का क्या दोष ?' जब अपना पैसा खोटा तो दूसरों पर आक्षेप लगाना ठीक नहीं है । वैसे ही अपने स्वभाव या व्यवहार में कोई भूल हुई हो तो उसके दुष्परिणाम पर दूसरों को दोषी बताना उचित नहीं है । इस तथ्य की ओर इंगित करनेवाली कोंकणी कहावत भी मिलती है -- 'आपणेलो दुड्डु खोटो जाल्यार दुकानदाराक उलोवन कित्याक ?' (यदि अपना पैसा खोटा तो दुकानदार को क्यों डांटे) । इस प्रकार हिन्दी तथा कोंकणी , दोनों कहावतों में अपेक्षित दृष्टान्त व्यक्ति-स्वभाव का सुन्दर चित्र खींचा गया है ।

---

1. [illegible]

बुद्धिमान एवं बुद्धिहीन

समाज में दूसरों की निन्दा करनेवाले अपने दोषों को छिपाकर कुछ सज्जन बन बैठते हैं। उन्हें कितने ही समझा देने पर भी वे अपने स्वभाव को छोड़ते नहीं हैं। यह तो उनकी बुद्धिहीनता या मूर्खता का लक्षण है। ऐसे मूर्ख लोग तो हिन्दी तथा कोंकणी समाज में विरले नहीं हैं। व्यक्तियों की इस मूर्खता को धक्का देने के लिए दोनों समाजों में कहावतों का कुछ आश्रय लिया गया है। बुद्धिहीन व्यक्ति के हाथों से किया गया कोई भी कार्य सफल नहीं होता यह तो 'ऊसर खेत में केसर' वाली बात हो जाती है। ऊसर भूमि में कोई भी बीज उग नहीं आता तो केसर वहाँ कैसे पैदा किया जावे लेकिन मूर्ख व्यक्ति इस बात को न समझकर ऊसर खेत में ही केसर उत्पन्न करने का प्रयास करता है, यद्यपि उसका कोई लाभ नहीं होता। इससे उसकी हानि ही हो जाती है। कोंकणी की एक कहावत है --'ओमें कोळ्यारि उदक' (उलटे घड़े पर पानी)। यदि घड़े में पानी भरना है तो उसे सीधा रखना चाहिए। यदि उसे उलटा रखकर उसमें पानी भरने का प्रयास किया जाय तो किया गया प्रयत्न सब व्यर्थ हो जाता है। कई बुद्धिहीन व्यक्ति ऐसे भी देखने को मिलते हैं जो नासमझ होने के कारण स्वयं आपत्ति मोल लेते हैं। कोंकणी समाज में इस ओर इंगित करनेवाली कहावत है --'बसपीर बैसुनु बसो कातरप' (जिस डाली पर बैठे उसी को काटे)। इससे कोई लाभ नहीं होता, उलटे हानि ही होती है। लेकिन मूर्ख व्यक्ति इस बात को नहीं समझ पाता और इसीलिए कुछ आपत्ति का शिकार बन जाता है। फिर जो बुद्धिहीन व्यक्ति अपने को दोषी नहीं समझता और दूसरों का कहना भी नहीं मानता। अतः कहते हैं --'स्वतःचे बुद्धि ना, दुसऱ्याक आयकना' (स्वयं बुद्धि भी नहीं, दूसरों की सुनता भी नहीं।) समझदार तो मूर्ख को सुधार सकता है। लेकिन वह अपने को बुद्धिमान मानता है और दूसरों की सुनना भी नहीं चाहता ऐसे व्यक्तियों की निन्दा करते हुए समाज में कहा जाता है --'अंधों में काना राजा'। कोंकणी कहावत है --'कुड्ड्यांनु काणो राजु' (अन्धों में काना राजा)। इसमें भी मूर्खों की हँसी उड़ाई गई है। उनकी मान्यताओं के संबन्ध में कहा जा सकता है कि उनकी बुद्धिहीनता तो जन्मजात है और इसी कारण वे दूसरों के समझाने पर भी अपने को सुधारने का प्रयास नहीं करते। उन्हें समझा देने का प्रयास विफल रह जाता है। इस बात को अभिव्यक्त करनेवाली कहावत

है -- 'गदहे को पीटे घोड़ा नहीं बनता'। कोंकणी समाज में ऐसी ही उक्ति भी मिलती है -- 'गाढवाक बडयलीर घोडो जायना'(गधे को पीटने से घोड़ा नहीं बनता) । गधा तो सबसे मूर्ख जानवर माना जाता है । उसे पीटकर या पीसकर घोड़ा बनाने का काम भी व्यर्थ ही जाता है । वैसे ही जन्म से ही नासमझ और बुद्धिहीन जो है , उन्हें सुधारने का प्रयास विफलता में परिणत हो जाता है । बुद्धिमान व्यक्ति को इस प्रकार की सीख देने की आवश्यकता नहीं रहती । किसी विषय के बारे में एक बार इशारा कर दे तो वह आसानी से समझ जाता है । हिन्दी कहावत है -- ' पढ़े के आगे टोकरा डाला , उसने कहा उतनी भी मैया ' । प्रस्तुत हिन्दी कहावत में व्यक्ति की बुद्धिमत्ता को ही प्रतिफलित किया गया है । इसी तथ्य की ओर संकेत करनेवाली कोंकणी कहावत है -- 'दुमेटी हलोवृत्यारीचि रावणु कळता '(केवल अंगूठा हिलाने से ही रावण का चित्र खींच लेता है) । किसी की पूर्ण रूप से देखे बिना उसका चित्र खींचना किसी के बस की बात नहीं है । लेकिन बुद्धिमान व्यक्ति यह भी कर सकता है । अपना कार्य वह किसी न किसी प्रकार कर ही लेता है , चाहे उसके लिए कितनी ही यातनाओं का सामना क्यों न करना पड़े । उसे कहीं जाना है और उस जगह की पहचान नहीं है तो वह किसी से पूछकर वह कर सकता है । इस ओर संकेत करनेवाली कहावत है -- 'तोंड आसा जाल्यारि काशीकु वोचुयेत'(मुंह में जीभ हो तो काशी तक भी जा सकते हैं)बुद्धिमान को कोई काम असंभव नहीं है । वैसे ही बुद्धिमान व्यक्ति क्रोध नहीं करता । क्योंकि क्रोध व्यक्ति को नाश की ओर ले जाता है । इस तथ्य को अभिव्यक्त करनेवाली कोंकणी कहावत है - 'कोपु हणता नाकु सन्तोषु वेण्णुयाक नाकु'(क्रोध अपनी ही हानि कर देता है और सन्तोष दूसरों को सुखी बनाता है) । इसी प्रकार क्रोध में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए । कोंकणी की कहावत है -- 'एक फेण्णान वींयु उडोक जाल्यारि है कोपु वय्यारीचि उंचारि एवुना'(एक बार क्रोध से कोई कुएं में कूदा जाय तो सौ बार क्रोध करने पर भी ऊपर नहीं आ सकते ।) इन कहावतों में बुद्धिमान व्यक्तियों को शान्त स्वभाववाले के रूप में चित्रित किया गया है ।

ढोंगी एवं अल्पज्ञ व्यक्ति

व्यक्ति नासमझ होने के कारण बहुत ही ढोंगी भी होते हैं। वे थोड़ा सा ऐश्वर्य देखकर अपने को ही भूल जाते हैं। झूठी शान दिखाने में वे समर्थ होते हैं। थोड़ा सा धान्य मिलने पर वे सब कुछ भूल जाते हैं। कोंकणी समाज में ऐसे व्यक्तियों के बारे में कहा जाता है -- 'अल्पाक धान्य अव्यारि मध्यरातिं छत्री धरतलों'[1] (अल्पज्ञ को धान्य का लाभ हो तो वे आधी रात को छाता लेकर घूमते हैं।) आधी रात या चाँदनी रात में छतरी की आवश्यकता नहीं। लेकिन जो अल्पज्ञ होते हैं वे अपने धन को दिखाने के लिए रात के समय भी छतरी लेकर घूमते हैं। हिन्दी समाज में भी इसी बात की ओर इंगित करनेवाली कहावत भी मिलती है। 'थोड़े धन में खल इतराय'। थोड़ा धन मिलने पर भी मूर्ख लोग गर्व करते हैं। पल भर का धान्य भी उनके लिए इतना महत्वपूर्ण है कि उस क्षणिक धान्य में उनसे जो किया जाता है वह सब वे कर बैठते हैं। उनका धान्य भी स्थिर नहीं रहता। इस प्रकार क्षणिक धान्य में अभिमान दिखानेवालों के लिए समाज में कहा जाता है -- 'अढ़ाई दिन के मेले में भी बादशाह कर लो।' कोंकणी समाज भी हठात् उन्नति पाकर रोब दिखानेवाले व्यक्तियों को देखकर चुप नहीं बैठता। ऐसे व्यक्तियों पर व्यंग्य करते हुए कोंकणी में एक कहावत मिलती है -- 'देढ़ दिसाचें धान्य' (डेढ़ दिन का धान्य)। कोंकणी की और एक कहावत है -- 'अर्द भरिलें कोळशी हलतो चड'[2] (अधभर गगरी छलकत जाय) जब घड़ा पूर्ण रहता है तब उससे पानी छलककर जाने की कोई आवाज नहीं निकलती। इसके विपरीत जब घड़ा पूर्ण रूप से भरा नहीं रहता तो उसमें से पानी के छलकने का आवाज सुनाई पड़ती है। कहने का अर्थ यह है कि अल्पज्ञ सदा अपने को ज्ञानी कहलाता है और अपने ज्ञान को दूसरों के सामने प्रस्तुत करके खुद अपनी प्रशंसा करना चाहता है। इस प्रकार सभी के सामने अपने ज्ञान को प्रदर्शित करनेवाले प्रायः मूर्ख ही होते हैं। हिन्दी की निम्नलिखित कहावत में भी इसी बात की ओर इंगित मिलता है। 'अधजल गगरी छलकत जाय)। यह तो एक लोकसत्य भी है जिसकी चर्चा दिनभर के समाजों में होती रहती है। अपने पास कुछ न होने पर भी ये लोग बड़ी शान दिखाते हैं। ये दूसरों को

---

1. अल्पाक ऐश्वर्य अव्यारि मध्यरात्रि छत्री धरता
2. ज्ञान अल्पजानु गर्जो चीड । रिते भोवारि कोळशो चवु ।।

यह दिखाना चाहते हैं कि वे बड़े धनी हैं और उनके पास सारी सुख-सुविधाएँ रहती हैं। इस प्रकार झूठी शान दिखानेवालों की निन्दा हिन्दी कहावत में भी हुई है -- 'ऊँची दुकान, फीका पकवान'। बाहर से शान दिखाने से कोई लाभ नहीं होता। दुकान बाहर से देखने पर अच्छी लगे और भीतर जाने पर वहाँ के पकवान फीके हों तो वहाँ पकवानों की माँग नहीं रहेगी। कहने का अर्थ है कि बाहरी दिखावे से कोई काम नहीं चलेगा। कोंकणी में भी इसी तथ्य की ओर ध्यान देनेवाली कहावत प्रचलित है। 'कोंब्ये असा रान, हांगु कपूल ना थान' (जंगल तो बना है, ... के लिए जगह नहीं) जंगल है तो वहाँ कई पेड़ और उन पर पत्तों का होना ज़रूरी है। लेकिन ... छोटी चीज़ रखने के लिए जगह नहीं मिले तो वह जंगल किस काम का?) वैसे ही व्यक्ति बाहरी और पर अपने को बड़ा माने तो भी उसे आन्तरिक रूप से भी अपना विकास कर लेना है। समाज में ऐसे लोग भी मिलते हैं जो अपने घर में कुछ न होने पर भी समाज में शान लेकर घूमते फिरते हैं। इनके संबंध में समाज में कई कहावतें भी प्रचलित हैं। कोंकणी की कहावत है -- 'घरान्तु ना देखेक ... बायर ... विशेषांक हुर'[1] (घर में खाने को नहीं, बाहर जाते वक्त मूँछों पर घी लगाता है)। ये व्यक्तियों की झूठी शान की अभिव्यक्ति देती है। इसमें समाज में पकवान दिखानेवाले व्यक्तियों की हँसी उड़ाई गई है, जो अपने घर की हालत पर ध्यान नहीं देते हैं। इसी बात की चर्चा 'छाती पर बाल नहीं रुपोड़ी पर नाव' वाली हिन्दी कहावत में भी हुई है। ऐसे ढोंगी लोगों के संबंध में हिन्दी की और एक कहावत है -- 'आपकाज महा काज पर को टट्टो कूले'। समाज में ऐसे व्यक्ति भी देखने को मिलते हैं जो समाज में नाम पाने के लिए सब कुछ करने के लिए तैयार होते हैं जब कि अपने परिवार को संभालने के दायित्व से स्वयं अपने को बचा लेते हैं। कोंकणी की कहावत है -- 'घर ... नीपु ...'[2] (घर को ऐसे बिना ... को देखता है) अपने परिवार का ध्यान न रखकर दिखावट के लिए दूसरों की भलाई के लिए प्रयत्न करनेवाले का समाज में कोई स्थान नहीं रहता। ऐसे व्यक्तियों की भी निन्दा करनेवाली कोंकणी कहावत है --

---

1. विशेषांक हुर, ... ।
2. ... ना, ... उद्धरण ...

'पोवा [illegible] पिळमनिस्तल्याक [illegible] [illegible] [illegible]' (जिसने चिउड़ा ही नहीं देखा उसके लिए कुरमुरी [illegible] ही सब कुछ है।)
हिन्दी की कहावत है -- 'उजड़ गाँव में गुरार महतो' जिसमें भी झूठे अभिमान करनेवालों के संबन्ध में चर्चा की गई है। कोंकणी की अन्य कई कहावतों में भी इस ओर संकेत मिलता है। 'मिरी पिळमनिस्तल्यान [illegible] [illegible] (जिसने [illegible] भी नहीं देखी उसको बात ही मिल गया) कई व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो दूसरों के यहाँ जाकर रोब दिखाते हैं। हिन्दी कहावत है -- 'खूँटे के बल बछड़ा कूदे', जिसमें किसी के घर जाकर अपने को बड़ा माननेवाले या बड़े लोगों से मिलकर अपनी सच्ची हालत छिपाते हुए खुद अपने में बड़ी शेखी करनेवाले व्यक्तियों की हँसी उड़ाई गई है। इस बात की ओर ध्यान देनेवाली कोंकणी कहावत है -- 'राण्यांली मेळ्यांतु कुण्या राव'[1] (अंधों के बाजार में काना जैसा छोटा व्यक्ति राजा बन गया है)।

कृतघ्न व्यक्ति

समाज में एक साथ रहने के कारण व्यक्तियों को एक दूसरे की सहायता करनी पड़ती है। अर्थात् एक दूसरे का उपकार करना व्यक्तियों का समाजगत धर्म है। एक दूसरे को किये गये उपकार को भूलना बहुत ही निन्दनीय बात है। परोपकार संबन्धी हिन्दी की एक कहावत है -- 'देनेवाले से दिलानेवाले को ज्यादा श्रेय है; परोपकारी की अपेक्षा परोपकार करानेवाले को अधिक पुण्य मिलता है। लेकिन किसी का उपकार करने के लिये जो प्रेरणा दे उसको अधिक भी पुण्य मिलता है। किसी का उपकार करके उसके मन को [illegible] नहीं करनी चाहिए। एक बार किसी का उपकार करके बाद में उसे भूलना चाहिए। यह सोच हिन्दी समाज में कहावत के रूप में भी दी गई है। 'नेकी कर और दरिया में डाल'। किन्तु समाज में ऐसे लोग ही अधिकतर मिलते हैं जो किसी से किये गये उपकार को कभी भूल जाते हैं और कभी उसके प्रति कृतघ्नता भी दिखाते हैं। अपने हित उपकारी व्यक्तियों का भी उपकार करने में वे हिचकते नहीं हैं। ऐसे कृतघ्न व्यक्तियों की ओर व्यंग्यबाण छोड़नेवाली हिन्दी कहावत है -- 'गोदी में बैठ के आँख में उँगली'[2] गोदी में बिठानेवाले की आँखों में उँगली डालकर उसे सताना नहीं चाहिए। ऐसा करना तो उसके प्रति अन्याय होता है। ऐसे कृतघ्न व्यक्तियों की ओर संकेत कोंकणी कहावत भी करती है -- 'कन्धारि बैसुनु कानु कण्णटि' (कांधे पर बैठकर कान काट लेना) वैसे ही कोंकणी

---

1. रण्याली मेळ्यांतु कुण्याली देश
2. गोदी में बैठके दाढ़ी नोचे
3.

की ओर एक कहावत है -- 'मत्थाईर थेनु तेल्लिनु छग्गळा' (सिर पर चढ़कर मुँह में रक्त करना) ये व्यक्ति उन कृतघ्न सांपों के समान हैं जो दूध पिलाने पर भी डंसते हैं। इस तथ्य की ओर संकेत करनेवाली हिन्दी कहावत है -- 'सांप को दूध पिलाइए, वह विष ही उगलेगा। सांप को दूध पिला कर उपकार ही किया जाता है। लेकिन सांप उसे भूलकर कभी दूध देनेवाले व्यक्ति को ही डंस लेता है दूध पीने पर भी उसके विष में कोई कमी नहीं आती। 'सर्पाक दूध पियेल्यारीय थोर वोखिच्या(सांप को दूध पिलाने पर भी वह विष ही उगलता है)। कोंकणी की इस कहावत में भी व्यक्तियों की कृतघ्नता की चर्चा हुई है और उन कृतघ्न व्यक्तियों की तुलना विषैले सांप से की गई है।

समाज में व्यक्तियों को कृतघ्न न बनने की सीख नीतितत्व से भरी हुई कहावतों के द्वारा दी जाती है। हिन्दी की एक कहावत है, 'जिस पत्तल में खाना, उसी में छेद करना'। वैसे ही जिसने उपकार किया है उसीको हानि पहुँचाना उचित नहीं है। इसी तथ्य की ओर संकेत करनेवाली कोंकणी कहावत है -- 'जेवोले पत्ताईर हगु नज्ज'[1] (जिस पत्तल में खाया है उसमें हगा नहीं करना चाहिए) कोंकणी की और भी कहावतें हैं, 'दोळ्यांनी पळोवंक मीत घालचनाका' (जिन आँखों से देखा है उसमें मिट्टी नहीं डालनी चाहिए।) तथा 'मोट केलेलें मीठ मैत्र'[2] (नमक खाया है तो उसकी कृतज्ञता भी दिखानी है)। इन कहावतों के अध्ययन से यही बात स्पष्ट हो जाती है कि सामाजिक व्यवहार में परोपकार का बहुत बड़ा स्थान है और परोपकारिता की भावना के प्रति कृतज्ञता दिखाने की सीख भी व्यक्तियों को दी जाती है। इसका प्रयोजन है समाज कल्याण।

मित्रता का स्वरूप

भिन्न स्वभाववाले होते हुए भी समाज में रहने के कारण व्यक्ति एक दूसरे से संबन्धित रहता है। व्यक्तियों के इस पारस्परिक संबन्ध की न्यूनाधिकता के अनुसार उनमें शत्रुता तथा मित्रता का भाव रहता है। कहावतों में व्यावहारिक जीवन के अनुभवों का प्रतिफलन होने के कारण मित्रता एवं शत्रुता के भाव बहुत मात्रा में दिखाई पड़ते हैं। व्यक्तिसंबन्ध एवं पारस्परिक आचरण को दिखानेवाली अनेक कहावतें हिन्दी तथा कोंकणी समाज में प्रचलित हैं। जब समाज में व्यक्ति व्यक्ति का संबन्ध निकटतम हो जाता है तो मित्रता में परिणत हो जाता है।

---

1. जेवोले पत्ताईर हगुनज्ज   2. मोत केलेल्या मैत्र

अनादिकाल से भारत में मित्रता का महत्व रहा है। पंचतंत्र की कहानियों में मित्रसंबन्धी कई उक्तियाँ मिलती हैं जिनमें जीवन में मित्र की आवश्यकता का उल्लेख मिलता है। मानव जीवन में उसके सुखदुख में साथ देनेवाला व्यक्ति ही मित्र होता है। विशेषतः विपत्तियों में सहायता पहुँचानेवाला ही सच्चा मित्र होता है। हिन्दी की कहावत - 'वक्त पड़े पर जानिए, को बैरी को मीत' में सच्चे मित्र को परख करने की ओर संकेत मिलता है। तेलुगु में भी इसी तथ्य को व्यक्त करनेवाली कहावत है -- 'आपत्कालमु आदुकोने वाडु मित्रुडु'[1] (आपत्ति में सहायता पहुँचानेवाला ही सच्चा मित्र है।) पंचतंत्र की कहानियों में भी ऐसी ही उक्ति देखने को मिलती है। 'आपदि च परित्राणं शोकसन्तापभेषजम्'[2] अर्थात् आपत्ति में रक्षा करनेवाला तथा दुःख में सान्त्वना देनेवाला ही सच्चा मित्र है। हिन्दी की और एक कहावत -- 'अपना वही जो आवे काम' में इस बात की ओर संकेत किया गया है कि अपना उपकार करनेवाला ही मित्र है। '[illegible]'[3] वाली उक्ति में भी इसी तथ्य का उद्घाटन हुआ है। एक दूसरे से मित्रता का संबन्ध जोड़ते समय इस बात पर ध्यान देना भी आवश्यक है कि मात्र सुख के दिनों में साथ देनेवाले मित्रों से सदा दूर रहें। ऐसे मित्र किसी के धन को देखकर उससे नाता स्थापित करने के लिए आगे आते हैं, लेकिन दुःख के दिनों में मुँह मोड़कर चले जाते हैं। इस लोकसत्य को निम्नलिखित तेलुगु कहावत में यों व्यक्त किया गया है --'[illegible]' (खाने के लिए हो तो कितने यार व मित्र बहुत अधिक होते हैं)।

लेकिन सामाजिक प्राणी होने के नाते समाज में मित्रता से वंचित कोई भी व्यक्ति नहीं रह सकता। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि किसी से मित्रता स्थापित करने के पहले इस पर विचार करना चाहिए कि कहीं बुरी संगति में न पड़े। मित्रता हमें उन्नति की ओर भी अग्रसर करती है। साथ ही अवनति की ओर भी ले जाती है। बुरी संगतिवाले मित्रों के

---

1. A friend in need is a friend indeed
2. पंचतंत्र - मित्रसंप्राप्ति-श्लो. 61
3. ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति। भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्॥
--पंचतंत्र -मित्रसंप्राप्ति- श्लो. 50

साथ रहकर सज्जन लोग भी बुरी राह से चलने लगते हैं । इस तथ्य की ओर संकेत करनेवाली हिन्दी की उक्ति है -- काजल की कोठरी में कैसहु सयानो जाय

एक लीक काजल की लागी है पै लागी है ॥

दुर्जनों की मित्रता में रहकर कोई भी बुराई का बोझ लिए बिना नहीं रहता, चाहे वह बुराई से अपने को बचाने के लिए कितना ही प्रयत्न क्यों न करे । कोंकणी कहावत है -- 'गोडाचे अधूदनान्तु हातु घातलारि बोटि लेंबताली रचुल्ला' (गुड़ के बरतन में हाथ डाले तो थोड़ा ही सही गुड़ चाटे बिना नहीं रह सकता ।) । उपर्युक्त कहावत में भी बुरे मित्रों की संगति से दूर रहने की सीख दी गई है । दूसरों के प्रति दुर्व्यवहार करनेवालों से कभी मित्रता नहीं रखनी चाहिए । क्योंकि वह कब धोखा देगा, यह नहीं बताया जा सकता । लेकिन सभी मित्र धोखेबाज नहीं होते । कई मित्र इतना मिलजुलकर रहते हैं कि उन्हें एक दूसरे से पृथक करना असंभव है । ऐसे मित्रों की प्रशंसा करते हुए समाज में कई कहावतें प्रचलित हैं । हिन्दी की एक कहावत है - 'एक आम की दो फाँकें' । एक ही आम के टुकड़े किये जायें तो उनके रंग या स्वाद में कोई भेद नहीं रहता, क्योंकि एक ही आम के साथ सभी फाँकों में एक ही रहती है । कोंकणी समाज में भी इसी ओर संकेत करनेवाली कहावत भी मिलती है -- 'एक हातांचि बोटां' (एक ही हाथ की उँगलियाँ) । एक ही हाथ की उँगलियाँ एक ही प्रकार की होती हैं । उनमें बहनेवाला रक्त एक ही प्रकार का होता है । वे एक दूसरे से बँधे रहते हैं । वैसे ही दो घनिष्ठ मित्र अपनी मित्रता में एकाकार हो जाते हैं । उनके बीच किसी तरह का मनमुटाव नहीं रहता । वे एक दूसरे पर आई आपत्ति को समान रूप से झेलते हैं । वे सुख तथा दुःख में एक दूसरे का भागीदार होते हैं ।

उपर्युक्त कहावतों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती है कि सामाजिक जीवन में मित्र व मित्रता का क्या स्थान होता है और मित्रों का चुनाव कैसे करना है ।

व्यावहारिक जीवन के कुछ अंग

भोजन का स्वरूप

मानव जीवन में भोजन और जलपान का विशेष महत्व है। अपने जीवन यापन के लिए ही व्यक्ति अपना खून पसीना एक कर देता है। जीवन में भोजन अत्यन्त आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। अपने पेट के लिए मनुष्य कुछ भी कर सकता है, यहाँ तक कि कभी कभी चोर डाका भी कर लेता है। अतः संस्कृत की यह उक्ति अत्यन्त प्रचलित हो है -- 'उदरनिमित्तं बहुकृतवेषम्'। प्राचीनकाल से ही मानव जीवन में भोजन को महत्व दिया जाता था और भोज्यपदार्थों का विवेचन और वर्गीकरण भी हुआ था। इसके अनुसार भोज्यवस्तुएँ निम्न प्रकार की है --(अ) वनस्पति वर्ग से प्राप्त अन्न, फल, फूल, साग, पत्र, शाक, तेल गुड़, शक्कर मिठाई, मसाले आदि। (आ) प्राणिवर्ग से प्राप्त - मांस, मछली, दूध, घी, अंडा, मधु आदि। (इ) खनिज तथा जल से प्राप्त लवण। इन्हीं वस्तुओं से पाँच प्रकार के आहार बनते थे। जैसे भोज्य, भक्ष्य, चोष्य, लेह्य, पेय।[1] लेकिन स्वाद के लिए मनुष्य अपनी खाद्य वस्तुओं का चुनाव अपने आप करता था और आज भी कर रहा है। किन्तु वह चुनाव केवल उन्हीं वस्तुओं में से किया जाता है जो आयुर्वेद की दृष्टि से स्वास्थ्यवर्द्धक सिद्ध हो चुके है।

हिन्दी तथा कोंकणी समाज में भी भोजन एवं भोज्य पदार्थों की ओर प्राचीन युग से ध्यान दिया जाता है। दोनों समाजों में मांस को वर्ज्य माना है। लेकिन कुछ वर्ग तथा अन्य पेशेवार जाति के लोग मांस को अपने भोज्य पदार्थों में विशेष स्थान देते है। गेहूँ, चावल, मटर, दाल, तिल, आदि भी उनके मुख्य खाद्य अन्नों में से है। दूध, घी, मक्खन, छाछ, जैसी वस्तुओं को भी भोज्य पदार्थों के अन्तर्गत रखा गया है। दोनों समाजों में विशेष अवसरों - पर्व, त्योहार, आदि पर अलग प्रकार के पकवान बनाए जाते हैं और षड्रसयुक्त भोजन का इनमें विशेष महत्व रहा है। वैदिककालीन भोजन विधि के अनुसार ही दोनों समाजों में भोजन की प्रक्रिया होती रहती है। किन्तु दोनों के पकवानों में तो अन्तर भी रहता है, जो उनके स्वाद पर आधारित रहता है।

---

1. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका - रामजी उपाध्याय पृ.

भोजन मानव जीवन का अनिवार्य अंग है। भोजन के मामले में लज्जा करने की कोई बात नहीं। यदि खान पान में लज्जा कर बैठेंगे तो पेट नहीं भरेगा। इस तथ्य की ओर संकेत करनेवाली हिन्दी उक्ति है --'आहारे व्यवहारे लज्जा न करे'। कोंकणी कहावत है -- 'लजेक भेल्यारि पेटेक मुट्टु' (यदि लज्जा करें तो भोजन मिलना कठिन हो जाता है)। इसमें इस बात की ओर संकेत है कि यदि लज्जा न करेंगे तो मन भर खाने को मिल जायेगा। भोजन या प्रेम में लज्जा न करेंगे तो व्यक्ति को स्वादिष्ट भोजन की प्राप्ति भी हो जायेगी। कोंकणी की एक कहावत है -- 'जिभेक लज्जा ना जल्यारि तोण्डाक चाण्या जाय'[1] (यदि जिह्वा लज्जा न करेगी तो मुंह सदा पानवाला रहता है)। हिन्दी में इसी तथ्य की ओर संकेत करनेवाली कहावत है --'जिसने की शरमाई उसने खायी दूध मलाई'। यहाँ तक भोजन की बात है तो ठीक है। लेकिन भोजन देनेवाले के बारे में भी तो सोचना चाहिए। कोंकणी समाज कहता है -- 'पंच पक्वान्न खानु मानु दवरीं गुलाम आर्वेक' (स्वादिष्ट भोजन देकर अन्त में आचमन के लिए मूत दे देना)। ऐसा व्यवहार नहीं किया जाता है बहुत कम लोग ही इसे पसन्द करेंगे। प्रस्तुत कहावत में कोंकणी समाज में प्रचलित चतुरतापूर्ण भोजन की ओर संकेत अवश्य मिलता है। साथ ही यह कहावत उन व्यक्तियों पर भी संकेत करती है जो समाज में सत्यानुष्ठ रहते हुए भी दुर्व्यवहार करते रहते हैं।

हिन्दी तथा कोंकणी समाजों में गेहूँ, चावल, मटर, दाल, आदि खाद्य वस्तुओं में प्रमुख हैं। कोंकणी समाज में भात ही मुख्य आहार है। धान कूटकर निकाले गये चावल का भात तथा खीर, दोनों रूपों में लोग प्रयोग करते हैं। इस प्रक्रिया की ओर संकेत करनेवाली कोंकणी कहावत है --'भात कांडूक मनु खीरि रांदपाक मनु' (धान कूटने के लिए मनु, खीर बनाने के लिए मनु)। प्रस्तुत कहावत में धान की उपयोगिता के साथ साथ समाज में व्याप्त शोषण की ओर भी संकेत मिलता है। 'घरान्ते शीत आसा जल्यारि भायले शीत आसा' (घर में खाना हो तो बाहर भी खाना मिलेगा)। यह कहावत इस बात की ओर संकेत करती है कि समाज में भात ही की प्रधानता रही है। भात का ही और एक रूप है 'पेज' जिसमें भात के साथ मांड को मिला रखते हैं। इसकी ओर संकेत करनेवाली कोंकणी कहावत है -

---

1. जिभेक लज्जा ना जल्यारि तोण्डाक चाण्या आसा

परन्तु ना पेज्जेक बाट , बाबर बजवान किरीक्ष्यांक तुप' (पर मेंढ़ेप' भी नहीं है और बाहर वाले बस पूंछी पर ही लगाता है) । इससे कोल्मी समाज के सबसे बड़े आहार 'पेज'(मंडियुक्त अन्न) की ओर संकेत मिलता है । यह तो कुछ पुर के निर्धनी का तथा पोवार लोगों का ही आहार है । भात के साथ साथ दाल का भी प्रयोग होता है । इस दाल को लेकर भी कहावत चलती है -- 'मंबकेले मानांगु तुम्मीत दाळि सिन्नुना' (हमारे गाँव में तुम्हारी दाल नहीं पकेगी) यह कहावत समाज में दाल की उपयोगिता की ओर भी संकेत करते है । शाकाहारी को छोड़कर कोल्मी समाज में अन्य वर्गों के लोग मांस और मछली का भी प्रयोग करते हैं । खाद्यवस्तुओं में इसका भी अपना अलग स्थान है । इन वस्तुओं को लेकर भी कहावतें चलती हैं' -- 'कुसाले मझोक तिनकील चीच' (सड़ी हुई मछली के लिए पकी हुई इमली) । प्रस्तुत कोल्मी कहावत एक ओर समाज में मछली के प्रयोग पर संकेत करती है तो दूसरी ओर इसका प्रयोग वहीं भी होता है जहाँ समान दुष्ट स्वभाववाले दो व्यक्ति आपस में मिल जायें । समाज में मांसाहार की ओर संकेत करनेवाली कहावतें हैं -- 'धुनट केलेत्या मज्झारि तोल ' (जिसने तोता खाया उसके सिर पर छिलका रहता है) और 'कुम्ड केलेत्या मज्झारि पाक'(जिसने मुर्गी खायी उसके सिर पर पंख रहता है) । इन कहावतों से व्यक्त है कि कोल्मी समाजों में मांसाहार का भी प्रचलन था ।

शाक के अन्तर्गत करेला , बैंगन , कुम्हड़ा, आदि चीजें खाई जाती हैं और इन चीजों का उल्लेख कोल्मी तथा हिन्दी की कुछेक कहावतों में मिलता है । 'अंबल्याले पच्या पोतान्गुले कुम्हडी पोनु दुसेक्काले पच्या कुम्हन्गुले बचाय मोत्तिता' (अपने पैरों के पीछे पड़ा कुम्हड़ा छोड़कर दूसरों के पैरों तले पड़ी राई खोजता है) । ऐसी ही एक कहावत हिन्दी समाज में भी यों प्रचलित है -- 'राई का दाना ढूंढते हैं खोया हुआ कुम्हड़ा नहीं ' । ~~[illegible]~~ 'करोते कान्गु कम्माराती पेंडुचि(करेला गुड़ में भुनने पर भी कडुआ होता है) 'कडे करो ते निमडीर पेंडु' (कडेक करेला बाहर कडुआ रहता है () । 'पचे करराते कलीप पजुबे एक्काडे यान पे ?' (कडेक करेलों के खेत पर क्या हरे रंग की चिड़िया दुराई होगी ?) ऐसी कोल्मी कहावतों में

करेला , शिमलामिर्च और तरकारियों का उल्लेख हुआ है जिससे पता चलता है कि बोलनी समाज में शाकाहार के अन्तर्गत इन्हें भी लिया जाता है। हिन्दी समाज में प्याज को तरकारियों के साथ प्रयुक्त किया जाता है। एक कहावत है -- 'जो प्याज काटेगा वो रोयेगा'। जब प्याज काटा जाता है तो उससे निकलनेवाला रस आँखों से पानी निकलता है। लेकिन प्रायः इस सत्य बात को छिपाकर कर्मफल पर जोर देने के लिए इसका उल्लेख कहावत रूप के रूप में किया जाता है।

वैसे ही कई तरह के फल , आम, अंगूर आदि भी कहावतों में आते हैं। हिन्दी की कहावतें हैं -- 'आम खाने या पेड़ गिनने ?' , 'एक आम की दो फाँकें' , 'आम बोओगे आम खाओगे इमली बोओगे इमली खाओगे' -- इन कहावतों में आम जैसे फल के उल्लेख के साथ साथ विभिन्न सामाजिक तथ्यों का प्रतिपादन भी हुआ है। वैसे ही बोलनी कहावतें हैं -- 'आमों बोइतमिट चोप उपजना '(आम का पेड़ बोने पर इमली का पेड़ नहीं उगता) 'बोलपाल परतेव अंकुरित'(विचार के अंकुर फूटे होते हैं।)।

विभिन्न पकवान
============

पर्व, त्योहार तथा दूसरे धार्मिक अवसरों पर हिन्दी एवं बोलनी समाज में विशेष प्रकार के मीठे तथा अन्य पकवान बनाये जाते हैं। 'पलोरि रोटि हिम्मारि रोटि'(पर्व पर रोटी बनायी जाती है और जिसे पर रोटी खायी जाती है) 'परब' नामक पर्व पर मूँग की दाल गुड़ से मिला कर खास प्रकार का पकवान बनाया जाता है। इसे बोलनी में 'रोटि' कहा जाता है। वैसे ही गुड़ की चटनी के बिना चावल और उड़द को पीस कर कटहल के पत्तों में पकाए जानेवाले पकवान को 'इड्डु' कहते हैं। बोलनी की एक कहावत है -- 'इड्डु रोलु एडु मलोली , बोलिल पालुरि पड्डलि' (इड्डु और रस मिल जायेंगे और कटहल के पत्तों से बनाया गया पकवान-'बोलिल' बाहर फेंक दी जाती है)। प्रस्तुत कहावत में विशेष प्रकार के पकवान के उल्लेख के साथ ही पारिवारिक संबन्धों की ओर भी संकेत किया गया है। हिन्दी समाज में दूध-मलाई का विशेष स्थान है। यह मीठे पकवानों में प्रमुख है। हिन्दी की कहावत है -- 'जिसने की सेवकाई उसने खाई दूध मलाई '। इस कहावत में एक सामाजिक तथ्य की ओर भी संकेत है कि जो किसी की प्रतीक्षा करे उसे हमेशा अपनी मनचाही चीजें मिलती हैं। वैसे ही हिन्दी

तथा कोंकणी समाज में विशेष पर्व या व्रत के दिन खीर बनाई जाती है । 'अपना के पिठो पिठो , दूसरों को खीर पुरी' । प्रस्तुत कहावत में पुरी के साथ खीर खाने की रीति की ओर संकेत मिलता है । अपने घरवालों को न पूछकर दूसरों के लिए कुछ भी करने को तैयार होनेवाले लोगों के प्रति भी यह कहावत प्रयुक्त करते हैं । कोंकणी की कहावत है --'खाल कापून कणु और खांर्धुकल कणु ' (खाल फूटने को कणु , खीर खाने को कणु ')

कोंकणी समाज में श्राद्ध तथा मृत्यु के तेरहवें दिन उड़द की दाल से पकौड़ा जैसा पकवान बनाया जाता है जिसे 'व्र 'वडें' कहा जाता है । 'बापु मेलो म्होणु म्होण रडना , वडेचो खांर्धुकल रडता' (बाप मर गया , इसलिए नहीं रोता , मगर रोता है पकौड़ियों के लिए) । प्रस्तुत कहावत मुख्यतः अन्त्येष्टि संस्कार को ही प्रतिफलित करती है । फिर भी उसमें उल्लिखित पकवान के नाम से उस समाज के खाद्य वस्तु पर भी प्रकाश डाला गया है ।

भोजन में नमक का महत्व

भोज्य पदार्थों में नमक की प्रमुखता रही है । वैदिक काल से ही भोजन को स्वादिष्ट बनाने के लिए नमक का प्रयोग होता आ रहा है । बताया गया है कि प्रागैतिहासिक युग में नमक की कमी के कारण उसका भाव बहुत अधिक होने से भी अधिक महंगा रहा है ।[1] 'मीठ खेलेलि बेमान'(नमक खाने पर कृतघ्न) । प्रस्तुत कोंकणी कहावत में किए गए उपकार के प्रति कृतज्ञ रहने की सीख दी गई है । लेकिन इसमें भोजन में नमक का महत्व भी उल्लिखित है । कोंकणी की और एक कहावत --'मीठ खेलोलो उप्रान्त विसरलो' (जिसने नमक खाया है , वह बाद में भूल गया) में भी नमक की प्रधानता देखी जा सकती है । इन कहावतों से स्पष्ट है कि कोंकणी समाज में नमक की विशेष प्रधानता रही थी जिसके कारण वह कहावतों में भी स्थान पा सका है ।

मद्यपान

वैदिककालीन समाज में मद्यपान का उल्लेख मिलता है । यज्ञों में देवताओं के एकत्र होकर सोम ग्रहण करने की रीति है और देवताओं का आवाहन करने के लिए अग्निदूत का काम करता है । दूत वहीं अभीष्ट व्यक्तियों को नियत समय पर आने के लिए कहता है लेकर वहीं सोम

---

1. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका - रामजी उपाध्याय पृ.

अपने अपने आसनों पर बैठकर यथाक्रम भोजन करते हैं। संभवतः इसी विधि से वर्तमान समाज में सहभोज चलता है। आज श्राद्ध, विवाह, यज्ञ, जैसे धार्मिक कृत्यों और उत्सवों के अवसर पर सहभोजन होता है। 'कुम्पाळे तीम्बाडु पुडिच्च कल्याणि कणक्काणें कल्प ' -प्रस्तुत कोंकणी कहावत में उत्सव के अवसर पर चलनेवाले सहभोज का उल्लेख मिलता है।

भोजन का महत्व

भोजन में अन्न एक अनिवार्य घटक है। अपना पेट भरना मनुष्य का मुख्य धर्म होता है। पेट भरने के बाद ही उसे कोई भी बात सूझती है, चाहे वह बात कितनी ही महत्वपूर्ण क्यों न हो। यहाँ तक कि अपना कर्तव्य हो या ईश्वर की श्रद्धापूर्वक पूजा हो, माता-पिता और बन्धुओं के प्रति सौहार्दपूर्ण व्यवहार हो, पेट भरने पर ही इन सब बातों पर विचार किया जाता है। इस संबन्ध में कई उक्तियाँ मिलती हैं जैसे 'पहले पेट बाद में सब कुछ' ईश्वर तथा पितरों का विचार भी पेट के बाद हो आता है। 'खीर और भोजन सब पेट पिछारें'। कोंकणी में भी कहावत भी है -- 'आदूंय पोटोबा मगीर विठोबा ' (पहले पेट की पूजा बाद में ईश्वर की पूजा)। उपर्युक्त कहावतों में भोजन के महत्व पर बल दिया गया है। लेकिन कहीं कहीं ऐसी कहावतें भी मिलती हैं जो अतिभोजन को व्यर्थ सिद्ध करती हैं। भोजन को पचाये रखने में भोजन का बड़ा महत्व अवश्य है। लेकिन इस पर नियन्त्रण अवश्य रखना चाहिए क्योंकि तो निम्न कहावत में व्यक्ति को यह तथ्य समझा दिया जाता है कि 'कन्ना पाडि अधिक पोट्टा चाडि चडुंकेले नातो चडुंकल ' (का   और पेट को जैसे बढ़ाया जाय वैसे ही बढ़ते जाते हैं)। इसने का अर्थ है कि नियमपूर्वक भोजन न करने से व्यक्ति पेटू बन जाता है। इसलिए व्यक्ति को यह उपदेश दिया जाता है -- 'अल्पाहारी सदा सुखी'। हाँ, आहार तो कम हो, लेकिन वह उचित वर्ग का हो। अर्थात् उस आहार का स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव न पड़ जाय। परिमाण में अधिक होते हुए भी स्वास्थ्य को खराब करनेवाला भोजन हमेशा व्यर्थ है। हिन्दी और कोंकणी में ऐसी कहावतें हैं जो इस ओर संकेत करती हैं। खाद्य वस्तुओं में सस्ती चीजों को स्थान नहीं देना चाहिए। 'जितना सस्ता उतना खराब'।

---

1. समाजरचना का सहभोज

खाने की चीज जितनी अच्छी होती है पेट के लिए उतनी ही खराब होती है। कोंकणी की कहावत है -- 'चवदायेचे खाण हयकोल म्हारक' (स्वादिष्ट भोजन पेट के लिए खराब है) प्रस्तुत कहावत भी इसी तथ्य की ओर संकेत करती है। वैसे ही वर्ज्य वस्तुएँ भी नहीं खानी चाहिए। कोंकणी समाज प्रसूतों के लिए कोई मछली आदि भोजन वर्ज्य माना जाता है। इसलिए भोजन के संबंध में कोंकणी समाज में ऐसी एक कहावत भी मिलती है जिसमें यह तथ्य प्रतिफलित होता है -- 'पोट्टाक ना म्होणु सुनट खच्चु वाडुंक नका' (पेट खाने को कुछ भी नहीं मिले तो भी कवली सुनकर नहीं खाई जाती)।

वस्त्र एवं आभूषण

मानव जीवन में अन्न के बाद कपड़े को दूसरा स्थान दिया जाता है। हिन्दी तथा कोंकणी दोनों समाजों में स्त्रियों के लिए साड़ी तथा चोली और पुरुषों के लिए धोती और कुरता पहनने का रिवाज है। खाने पीने को न होने पर भी मनपसन्द तथा दूसरे को आकर्षित करनेवाले कपड़े पहनने की चाह सभी लोगों के मन में रहती है। लोगों की यह चाह निम्नलिखित कहावत में भी व्यक्त हुई। 'आपरु मनभाता, पहनिये जग भाता।' हम जो खाते हैं वह कुछ भी हो, दूसरों को दिखाई नहीं पड़ेगा। लेकिन जो पहनते हैं वह दूसरे लोग देखते हैं। इसलिए अच्छे और साफ कपड़े पहनने की ओर ध्यान देना चाहिए। कोंकणी की एक कहावत है -- 'नेसूंक ना जल्यारि पट्टव्याचे' कापड' (जिसके पास पहनने को नहीं है तो रेशमी कपड़ा पहनना चाहिए)। रेशमी कपड़े प्रायः उत्सव, विवाह आदि खास अवसरों पर ही पहने जाते हैं। लेकिन जब पहनने के लिए अन्य कपड़े नहीं हैं तो रेशमी कपड़े भी पहने जा सकते हैं। प्रस्तुत कहावत में पहनावे का महत्व व्यक्त हो गया है।

वस्त्रों के साथ आभूषणों का भी जीवन में बड़ा महत्व है। खासकर स्त्रियाँ गहनों से अपने को सजाने का भारी प्रयास करती हैं। अपने पास पैसा न हो तो भी वे चूड़ियाँ पहनना चाहती हैं। उसके संबंध में कहा जाता है -- 'एक कौड़ी गांठी, चूड़ा पहनूँ कि माठी'। गाँठ में भले पैसा न होते हुए भी तरह तरह के गहने पहनने की इच्छा स्त्रियों में रहती है। प्रस्तुत कहावत ऐसी ही स्त्रियों की ओर संकेत करती है। स्त्रियाँ गहनों की ओर इतनी आकर्षित

रहती है कि वे यह नहीं सोचती कि कौन सा आभूषण उनके लिए शोभनीय रहेगा । इसीलिए कोंकणी समाज में उनकी हँसी उड़ाते हुए कहा जाता है --'[illegible]' (बन्दर को लटकन का बोझ अधिक है) । हिन्दी में भी इसी अर्थ की कहावत मिलती है --'दुलारी चिड़िया ईंट का लटकन' । प्रस्तुत हिन्दी कहावत में भी स्त्रियों के आभूषण-प्रेम की ओर संकेत मिलता है ।

निष्कर्ष

हिन्दी तथा कोंकणी के आचार-व्यवहार व नीति को प्रतिबिंबित करनेवाली प्रस्तुत कहावतों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दोनों समाजों में जीवन व्यवहार कुछ हद तक समान रहा है । दोनों समाजों का एक स्पष्ट सा चित्र प्रस्तुत कहावतों में प्रतिबिंबित होता है । समाज की व्यवहारकुशलता का परिचय दोनों भाषाओं की कहावतों से मिलता है । क्योंकि संस्कृति, [illegible], नैतिक व्यवहार के बोध आदि का प्रतिफलन इनमें अधिकांशतः समान बातों को लेकर हुआ है, यद्यपि कहीं इनके बीच छोटी खाई भी दिखाई देती है । दोनों भाषाओं की कहावतों से यह ज्ञात होता है कि दोनों समाज जीवनादर्श को बड़ा महत्व देते हैं और नैतिक व्यवहार पर भी बल देते हैं । वस्तुतः हिन्दी तथा कोंकणी समाज में प्रचलित कहावतें दोनों समाजों की जीवनदृष्टि की ओर संकेत करती हैं और दोनों के दृष्टिकोणों में समानता रहती है ।

छठा अध्याय - उपसंहार

हिन्दी तथा कोंकणी कहानियों में प्रतिबिंबित समाज - एक मूल्यांकन

हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में प्रतिबिंबित समाज - एक मूल्यांकन

लोकमानस और कहावतें

कहावतें चिरकाल से लोकमानस की उपज के रूप में समाज में प्रचलित होती आ रही हैं। इनमें अखिल लोकमानस के अनेक भाव भी आते हैं जो परम्परागत रूप से जनसमाज के मन में निहित रहते हैं। मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार मानव मन के दो स्तर होते हैं -- चेतन और अचेतन। पूर्वजों से दाय के रूप में मिली प्रवृत्तियाँ अवचेतन मन में ही रहा करती हैं। ऐसे मन को सहज अवचेतन कहा जाता है और यही सहज अवचेतन मन लोकमानस है। कहने का अर्थ है कि मनुष्य की सहज प्रतिक्रियाओं का प्रतिफल है लोकमानस। दाय के रूप में मिली ये प्रवृत्तियाँ किसी जातिविशेष की नहीं होतीं, बल्कि जनसमाज की होती हैं। युगयुग, अनेकयुग और सभ्य-असभ्य मानव समाज में इन्हें देखा जा सकता है। यहाँ देशगत, कालगत और भाषागत अन्तर नहीं रहते। यह प्रवृत्ति हर कहीं समान रूप से देखी जाती है। बाह्य रूप में थोड़े परिवर्तनों के होते हुए भी इसका आन्तरिक रूप अपरिवर्तित रहता है।

लोकसाहित्य में कहावतों का विशेष स्थान है। लोकमानस से उद्भूत लोकसाहित्य में इस प्रकार अखिल मानव की प्रवृत्तियाँ या उनमें निहित लोकतत्व विद्यमान रहता है। लोकमानस में लोकतत्व का समावेश इसलिए हुआ है कि वह मात्र व्यक्ति, वर्ग या जातिविशेष से नहीं, अपितु समस्त मानव समाज से संबन्धित रहता है। लोकसाहित्य के अन्तर्गत आनेवाले कहावती साहित्य का भी सभी मानव एवं समाज से अटूट संबन्ध रहा है। यहाँ पर भावों की प्रमुखता रहती है। हिन्दी और कोंकणी कहावतों की दृष्टि से देखा जाय तो यह स्पष्ट हो है कि दोनों समाजों के पीछे काम करनेवाला लोकमानस एक ही है। यहाँ सांस्कृतिक एकता भी यही हो सकता है। इस कारण से अखिल मानव का स्वरूप एक दूसरे के और अधिक निकट देखा जा सकता है। कोंकणी भाषाभाषियों का मूल तो उत्तर भारत में ही खोजा जा सकता है और इस दृष्टि से प्राचीन हिन्दी तथा कोंकणी समाज का रूप बहुत अधिक समानता लिए हुए है। सामाजिक ढाँचा, वर्णाश्रम, आचारविचार, सब बातें दोनों समाजों में समान रूप से रहती हैं। समाज के धरातल से उत्पन्न होने के कारण कहावतों में भी इनका

रूप स्पष्टतः अंकित मिलता है ।

समाज और कहावतें

समाज व्यक्तियों और उनके संबन्धों से बनाया गया एक संगठन है और इस संगठन में प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से घेरे हुए है । व्यक्ति व्यक्ति की मानसिक स्थितियों के अनुकूल उनका व्यवहार भी होता है । अपने व्यावहारिक जीवन में अनुभूत सत्य दूसरों तक प्रसारित कर देने की प्रवृत्ति मानव में सहज ही रहती है । इस प्रकार किसी एक का अनुभूत सत्य समस्त मानवजाति के लोकसत्य के रूप में परिणत होता है । सत्य को दूसरों के सामने अभिव्यक्त करने के लिए एक सरल, सशक्त, चिरस्मरणीय एवं सुन्दर माध्यम की आवश्यकता रहती है । इसी आवश्यकता के परिणामस्वरूप कहावतों की उत्पत्ति हुई है । कहावतें मानवजीवन के अनुभूत सत्य को सुन्दर अभिव्यक्ति देने की सशक्त माध्यम हैं । मानव के व्यवहार एवं अनुभवों को कहावतें अपने में समेटकर उन्हें एक नया रंग रूप देकर समाज के सामने प्रस्तुत करती हैं । इससे स्पष्ट हो जाता है कि समाज और कहावतों का अटूट संबन्ध रहा है । अर्थात् समाज में जो कुछ घटित होता है उसे वाणी देनेवाली कहावतें ही होती हैं । ये साधारण जनता की उक्तियाँ हैं जो किसी विशेष घटना-शृंखला को विशेष रूप में ढालती हैं । कहावत एक प्रसंगविशेष के साथ संपृक्त सांकेतिक तत्व है जिससे वह घटना और उसकी प्रतिक्रिया समान हो जाता है । समाज में किसी एक व्यक्ति का कोई अलग अस्तित्व नहीं है क्योंकि व्यक्ति समाज में रहकर ही अपने को विकसित कर पाता है । व्यक्ति की जो विचारधाराएँ होती हैं वे एक दूसरे से होकर समस्त समाज में प्रसारित हो जाती हैं । प्रत्येक समाज का अपना लोकसाहित्य भी रहता है । समाज से संबन्धित हर एक तत्व का प्रतिफलन साहित्य में होता है और शिष्ट साहित्य की अपेक्षा लोकसाहित्य ही समाज को पूर्णतः प्रतिफलित करने में सक्षम है । लोकसाहित्य का अविच्छेद्य अंग, कहावत अन्य लोकविधाओं से भी बढ़कर समाज को प्रतिफलित करने में अत्यन्त सफल रहा है । क्योंकि अधिक से अधिक अर्थ और भाव को कम से कम समय और छोटे छोटे वाक्यों में प्रस्तुत करने की क्षमता रखनेवाला एक ही विधा है कहावत ।

समाज में कहावतों का महत्व

जैसे कि पहले कहा जा चुका है समाज और कहावतों के बीच चोलीदामन का संबन्ध रहा है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। लोकसाहित्य की इस सबसे सबल विधा को प्रत्येक समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त है। इसका मुख्य कारण यही है कि वह मानव जीवन को सहज रूप में चित्रित करने का साधक है। कहावतें मानव जीवन के विभिन्न सत्य को चित्रित करती हैं। यही नहीं, किसी भाषा के, चाहे वह सभ्य या असभ्य हो, अध्ययन में कहावतें ही उसका पथप्रदर्शन करती हैं। क्योंकि ये साहित्य जनता की उक्तियाँ हैं जिनमें उनका अनुभवसिद्ध ज्ञान ही निहित रहता है। दूसरे शब्दों में भी कहिए, किसी के अनुकूल तथ्य या ज्ञान के कथन में कहावतों के प्रयोग से तीव्रता और प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। इससे भाषा में बल आ जाने के साथ साथ श्रोताओं का हृदय भी बदल जाता है। अतः संसार भर में कहावतों का इतना प्रमुख स्थान रहता है कि शायद ही संसार की कोई ऐसी भाषा होगी जिसमें कहावतों का प्रयोग न हुआ हो तथा उनके महत्व को स्वीकार न किया गया हो। कहावतों के प्रायः इस महत्व पर विचार करते हुए कहा गया है कि जनता की विचारधारा कहावतों और मुहावरों के द्वारा ही व्यक्त होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। कहावतें और मुहावरे जीवन जनता की संपूर्ण सामाजिक और ऐतिहासिक अनुभूतियों के संक्षिप्त रूप हैं। अतः इनके अध्ययन से लेखक बहुत कुछ सीख लेता है और अपनी कृतियों में भी इन्हें व्यक्त करने में सफल होता है। यही न कहावतें जीवन में व्याप्त व्यथाओं के लिए मूल औषधि के रूप में मानी गई हैं।[1]

इस प्रकार कहावतों का बहुत बड़ा महत्व रहा है। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि समाज किन वस्तुओं को लेकर इनका प्रमुख स्थान रहा है। समाज व्यक्तियों का समूह है। व्यक्ति के लिए समाज में कई सीमाएँ निर्धारित की जाती हैं और इनके घेरे में रहकर ही व्यक्ति अपने को विकसित कर पाता है। लेकिन किसी भी समाज में एक ही स्वभाववाले या धर्मवाले व्यक्ति नहीं मिलते। वहीं पर व्यक्तियों का आचार व्यवहार भिन्न रहता है, उनका अपना पुरातन आदर्श भी होता है। मनुष्य की यह विशेषता रही है कि स्वभाव या आचारव्यवहार में दूसरों से भिन्न रहने पर भी समाज में एक दूसरे से मिलजुलकर विचारों के आदान प्रदान की आन्तरिक इच्छा उनमें बनी रहती है। इसीसे प्रेरित होकर वह सामाजिक संगठन को सुरक्षित करता है।

[1] अनुसन्धान और आलोचना - डॉ. कन्हैयालाल सहल पृ. 119

सामाजिक संगठन के कई स्तर होते हैं जो वर्ग, जाति, धर्म, नीति, आचार व्यवहार आदि पर आधारित रहते हैं। किसी भी समाज में एक ही वर्ग या जातिवाले नहीं रहते। समाज में भिन्न जाति के लोग रहते हैं और सामाजिक व्यवस्था के ऐसे तत्व का अध्ययन कहावतों द्वारा सरल हो जाता है। किसी जाति की विशेषता बताने के लिए व्यक्ति कई उक्तियों का प्रयोग करता है जो उसके अनुभव पर आधारित है। किसी के मुँह से निकली ऐसी उक्तियाँ अपने में ही सिकुड़ नहीं जातीं बल्कि वे अपने को एक विस्तृत समाज में विकसित कर लेती हैं। युग युग की कसौटी पर घिसकर अपने अस्तित्व को चिरंजीवी बनाते हुए ये उक्तियाँ बहुतों की चतुराई और एक ही बुद्धि के द्वारा जनसामान्य के हृदय में स्थान पाती हैं और नित्य उनकी जबान पर खेलती रहती हैं। किसी भी जाति की विशेषता या उसके स्वभाव का पता समाज में प्रचलित जातिविशेष संबन्धी कहावतों से चलता है। समाज में व्याप्त वर्णव्यवस्था तथा जातिव्यवस्था संबन्धी ज्ञान कहावतों से हमें प्राप्त होता है। 'बामन के बटुआ कह ले, नाग जात ललचावे' 'बामन बचन परमान', 'बनिये का सलाम बेमतलब नहीं होता', 'दर्जी की सुई कभी ताश में कभी टाट में' जैसी कहावतें समाज की जातिव्यवस्था की ओर ही संकेत करती हैं। कई कहावतें किसी जाति के प्रति द्वेष या बुराई की व्यंग्योक्तियाँ ही होती हैं। यह व्यंग्य भी व्यक्ति के अनुभूत सत्य के उद्गार होने के कारण कहावतें झूठी नहीं निकलतीं और इनसे सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप का जो ज्ञान हमें मिलता है वह अन्यत्र नहीं मिलता।

ऐसे ही सामाजिक संस्था के रूप में परिवार का समाज में विशेष स्थान है। परिवार में व्यक्तियों के बीच एक प्रकार का आन्तरिक संबन्ध रहता है। इस आन्तरिक संबन्ध को लेकर व्यक्ति की जो मान्यता है वह समाज में प्रयुक्त होनेवाली कहावतों में प्रतिबिंबित होती है। भारतीय समाज में पारिवारिक संबन्धों को विशेष महत्व दिया जाता है। इन संबन्धों में दिखाई पड़नेवाली उलझनों की ओर संकेत करते हुए आदर्श परिवार की स्थापना के लिए लोगों को सचेत करने के उद्देश्य से समाज में कहावतों का प्रयोग होता है। प्रत्येक समाज के परिवारों में पुरुष का क्या स्थान होता है, पिता-पुत्र, माता-पुत्र, पति-पत्नी, सास-बहू आदि के बीच कैसा संबन्ध रहता है इसका पता उस समाज की कहावतों से चलता है। जहाँ जहाँ कहावतों में इन संबन्धों के दोषों का उल्लेख मिलता है, तो वहाँ इनकी आलोचना

पर बल दिया जाता है। कहावतें अपनी ओर से कुछ नहीं कहतीं, लोग जो अनुभव करते हैं उसी सत्य को यथार्थ रूप में मार्मिकता के साथ प्रकट कर देती हैं।

धार्मिकता मनुष्य को सही मार्ग पर ले चलने में सहायक होती है। धार्मिक जीवन बितानेवाला व्यक्ति सदा उन्नति की ओर अग्रसर होता चलता है। मानवता के देवतम गुण ही धर्म के आवश्यक अंग हैं जिनमें सत्य बोलना, और न्याय देना, जीवों प्राणों की हिंसा न करना, दान के साथ यज्ञ करना आदि प्रमुख हैं। इसीलिए मानव जीवन के पक्षों में धार्मिक पक्ष को ही महत्व दिया जाता है। धर्म के भी अनेक पक्ष होते हैं और उनके अनुसार जीवन बिताना ही व्यक्ति के लिए उचित माना जाता है। धार्मिक आचारों, संस्कारों आदि की ओर व्यक्ति की रुचि बढ़ाने के लिए समाज में कहावतों को माध्यम के रूप में स्वीकार किया जाता है। कहावतें धर्म के अन्तर्गत आनेवाले सभी तत्वों का परिचय कराती हैं। ईश्वर तथा भक्ति से संबन्धित कहावतें व्यक्ति को आध्यात्मिकता की ओर ले जाती हैं। 'अकेले दुकेले का अल्लाह बेली' 'अल्लाह करे सो होवे', ऐसी कहावतें दया और भक्ति जगाती हैं। प्रत्येक समाज में प्रचलित धार्मिक अनुष्ठानों व आचारों का प्रतिबिम्ब कहावतों में होता है। लोगों की त्याग की भावना जगानेवाली भी कहावतें ही होती हैं। धार्मिक जीवन से विचलित होकर चलनेवाले लोगों को चेतावनी देकर सही रास्ते में लाने के लिए समाज में कहावतों का प्रयोग होता है। किसी भी समाज की धार्मिक व्यवस्था कहावतों में झलकती रहती है। यही नहीं, किसी समाज के धार्मिक उत्कर्ष और अपकर्ष को दूसरे समाजों के सामने रखकर उन्हें भी मार्ग पे चलाये रखने की सलाह देने में भी कहावतें समर्थ रही हैं।

नैतिकता या नैतिक आचार-व्यवहार व्यक्ति को समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान कर देता है। नैतिक आचरण पर बल देनेवाले समाज का भी बड़ा महत्व है। व्यक्ति अपने में पूर्ण नहीं होता। उसमें खूबियाँ भी हैं और कमियाँ भी। अपनी कमियों को सुधारने का प्रयास करने के लिए व्यक्ति को प्रेरणा देनेवाली हैं कहावतें। व्यक्ति में कर्तव्य की भावना उत्पन्न करने के लिए समाज में कहावतों का प्रयोग होता रहता है। कभी कभी कहावतें व्यंग्योक्ति या व्यंग्य के रूप में लोगों को बोध दिया करती हैं। समाज में व्यक्ति विभिन्न स्वभाववाले रहते हैं।

कोई आदर्श पुरुष होता है तो कोई अत्याचारी । स्वभावानुसार व्यक्तियों का समाज में आदर तथा अनादर होता रहता है । अतः समाज में व्यवहारों के निर्देशन के रूप में कहावतों का प्रयोग समय समय पर होता रहा है । समाज का यह मत है कि अगर व्यक्ति को अपनी जीवन-नैया को सफलता के साथ आगे बढ़ाना है तो कहावतों में दी हुई चेतावनियों की ओर ध्यान देना होगा । इस पतवार का सहारा हम अगर छोड़ दें तो न जाने वह निरंकुश नाव किस किनारे पर जाकर टकराएगी । अतः कहा जाता है -- 'Who will not be ruled by the rud will be ruled by the rocks." व्यक्ति के सद्गुणों के कारण ही उसका सम्मान किया जाता है, न कि उसके बाह्य सौन्दर्य से । मन को मलिन विचारों से दूर रखने की सीख भी कहावतें देती हैं । 'मन मलिन सुन्दर तन कैसे । विषरस भरा कनक घट जैसे' । इस प्रकार मनुष्य को सच्चरित्र बनाने में कहावतों का भी योगदान है । कहावतें सच्चरित्रता की सीख इसीलिए देती हैं कि सच्चरित्र मनुष्य को ही समाज का नेतृत्व करने का अधिकार प्राप्त होता है । कहावतों का आर्थिक महत्व भी रहा है । समाज की आर्थिक व्यवस्था का चित्र भी उसकी कहावतों में अंकित होता है । कहावतों में कहीं धनधान्य से संपन्न समाज का चित्रण होता है तो और कहीं दरिद्रता-ग्रस्त समाज का ।

समाज में कहावतों का भाषागत दृष्टि से भी बड़ा महत्व है । भाषाशास्त्रियों के लिए कहावतें अत्यन्त सहायक हैं । क्योंकि किसी भाषा की विकासयात्रा में आए परिवर्तनों का अध्ययन उस भाषा की कहावतों के द्वारा किया जा सकता है । यही नहीं, किसी भाषा की विकसित शब्दावलि का उद्घाटन भी कहावतों के अध्ययन से होता है । वस्तुतः कहावतों का मानव जीवन के सभी आयामों में सर्वाधिक महत्व है । समाज का जितना सच्चा और सहज चित्रण कहावत में होता है उतना अन्यत्र नहीं । सामाजिक संस्थाओं, संस्कारों, आचार-व्यवहार आदि का जो वर्णन कहावत में देखने को मिलता है उससे समस्त समाज का चित्र मनःपटल पर अंकित हो जाता है ।

---------------------- --

कहावतों में विषय वैविध्य

कहावतें मानव व्यवहार के सिक्के हैं जो किसी के पास स्थिर नहीं रहते। कहावतें कलेवर में छोटी होने पर भी किसी एक की न होकर एक समूह विशेष की होती हैं। यहाँ व्यष्टि नहीं समष्टि ही प्रधान है। यह सूक्तिमत्ता किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित न होकर मानव व्यवहार के सभी पहलुओं को छूती है। कहावतें किसी एक ही विषय तक सीमित नहीं रहतीं। संपूर्ण मानव जीवन कहावत का विषय बनता है। एक प्रकार से 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' वाली उक्ति कहावत के संबन्ध में भी लागू की जा सकती है। कहावतों में निहित विषय एक ही ढंग से अभिव्यक्त नहीं किए जाते। कभी पैनी चुभीली टिप्पणी, कभी सारगर्भित व्याजोक्ति और वक्रोक्ति से कहावतें व्यक्ति का दिल बहलाती हैं तो कभी हल्की सी चोट या कभी विनोदपूर्ण दृष्टान्त से भटकती हुई मानव जीवन के गहरे सिद्धान्तों को खोल देती हैं जिससे सुननेवाले दंग रह जाते हैं। प्रथमतः कहावत देखने के लिए एक साधारण उक्ति है जो छोटे कलेवर में रहती है। लेकिन उसमें निहित आन्तरिक अर्थ समस्त मानवजीवन के चिरन्तन सत्य को खोल देने में सक्षम है।

मानवजीवन के अनुभवों से उद्भूत कहावतें उसके सभी पक्षों को अपने में समाविष्ट करती हुई उन्हें समाज के सामने अभिव्यक्त कर देती हैं। मानवजीवन के सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, व्यावहारिक जैसे सभी पहलुओं पर कहावतें उपलब्ध होती हैं। अनुभूत सत्य के उद्गार होने के नाते कहावतों में निहित अर्थ कभी कभी सुनने में कटु लगते हैं। लेकिन जीवन की कटुता को समझाकर लोगों को सही रास्ते पे ले जाना समाज का धर्म है। व्यक्तियों की त्रुटियों और कमियों को उनके सामने प्रस्तुत करने का सरलतम मार्ग है कहावतों का प्रयोग। कहावतें सुनने में रोचक होती हैं और व्यंजना और लक्षणा के द्वारा ही उनमें निहित अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। इसके लिए कहावतें कटु बातों को भी हास्यात्मक ढंग से मनोहारिता के साथ प्रस्तुत करती हैं जिसके लिए वे प्रकृति के अनेक तत्वों का भी आश्रय लेती हैं। व्यक्तिस्वभाव को सुन्दर रूप से प्राकृतिक तत्वों की आड़ में व्यक्त करनेवाली कहावतें कम नहीं हैं। 'कुत्ते की दुम बारह वर्ष नली में रखो तो भी टेढ़ी की टेढ़ी', 'कुत्ते को हड्डी प्यारी लगती है', 'कुत्ता भी दुम हिलाकर बैठता है' आदि हिन्दी कहावतें और '[illegible]', (जूठे हाथ से भी कौए को नहीं भगाता, '[illegible]' (मन्दिर के कलश [illegible]

पर फेंकने पर भी कौवा गरुड़ नहीं बनता), 'कक्कुवान लम्बीति पिल्लै कल' (चोर को अपने बच्चे प्यारे हैं) 'कुप्पा पोट्टालुं कुल रक्कना' (कूड़े के ढेर में भी नहीं रखता), 'कुप्पा मेनी चात' (कूड़े के पीछे कुत्ता) आदि बोलचाल की कहावतें इसके प्रमाण हैं। यह बात केवल स्त्रियों एवं बोलचाल के लिए ही नहीं अपि तु शिष्ट को सम्मान्य वाक्यों और उत्सवों के लिए सत्य सिद्ध हो सकते हैं।

पारिवारिक संबंधों को व्यक्त करनेवाली कहावतें कभी चुभते बाणों के समान हृदय में चुभती हैं तो कभी एक उपदेशक के रूप में उपदेश दिया करती हैं। पिता का आदर सम्मान करने के लिए पुत्र को यों उपदेश दिया जाता है -- 'अच्छन कल मोष्टिच्चाल मकन्‍ कल मक्कोलो' (अपने पिता को चोर पिता कहने में दिक्कत है तो भाई को पिता कहना पड़ेगा) प्रस्तुत कहावत में यथार्थ के चित्रण के साथ साथ यथासमय पिता का आदर करने का उपदेश भी दिया जाता है। वैसे ही सास-बहू, पति-पत्नी आदि के संबंध को प्रतिफलित करनेवाली कहावतें में भी अपनी यथार्थ चित्रण के साथ हास्यात्मकता एवं सर्वग्राह्यता रखती हैं। जीवन के कटु सत्यों के साथ साथ इनमें अनुकूल उपदेश भी समाहित रहते हैं। संगति के प्रभाव को समझाकर व्यक्ति सदा सत्संगति में रहने की सीख भी कहावतें देती हैं जैसे 'दूध कलारी कर गहे मद समझे सब ता' या 'कलाल की दुकान पर पानी भी पीओ तो शराब का गुमान होता है'। व्यक्ति को गलती करने के पहले ही कहावत इस प्रकार संकेत करती है कि उससे गलती न होने पाये और उसके दुष्परिणाम से बच जाये। स्त्रियों की ओर एक कहावत है -- '~~रोनेवाली×पुरुष×और×हँसनेवाली×~~ 'रोनेवाली स्त्री और हँसनेवाले पुरुष का विश्वास न करें'। लोकहृदय को प्रकट करनेवाली इस कहावत में लोकव्यवहार का पूरा ज्ञान निहित है।

इस प्रकार कहावतें व्यक्ति के जीवन के सभी पहलुओं पर प्रकाश डालनेवाली विशेष उक्तियाँ हैं। ये चुटीली तथा हृदय को छूनेवाली होती हैं। ये छोटी होने पर भी अपनी भाषा शैली की विशेषता के कारण एक बार जनमानस में प्रतिष्ठित हो जाने पर फिर वहाँ से नहीं हट पातीं। वस्तुतः जीवन की कटुता को व्यक्त करनेवाली कहावतें अभिव्यंजना की स्पष्टता एवं स्फूर्ति के कारण सुनने में मधुर एवं रोचक लगती हैं।

हिन्दी एवं कोंकणी समाज तथा कहावतें

सर्व समाजों के मिल जुलकर रहने पर ही देश का विकास होता है । धर्म, आचार विचार आदि के आधार पर परस्पर भिन्न रहते हुए भी जिन समाजों के मूल में एकता की मूल धारा प्रवाहित रहती है हिन्दी तथा कोंकणी समाज भी इसके अपवाद नहीं है । एक मूल भारतीय समाज से इनका विकास हुआ है । भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर ही हिन्दी एवं कोंकणी समाज का निर्माण हुआ है । भारतीय समाज के वर्ण एवं जातिव्यवस्था का प्रतिरूप इन समाजों में भी देखने को मिलता है । भारतीय वर्णव्यवस्था के अनुसार हिन्दी समाज में प्रमुख चार वर्ण मिलते हैं जैसे ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र । कोंकणी समाज में भी यही चातुर्वर्ण-व्यवस्था कायम रही है । वैसे ही दोनों समाजों की धार्मिकता, नैतिकता आदि से संबन्धित अपनी अपनी धारणाएँ हैं । इन समाजों में प्रचलित कहावतों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है । हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में हिन्दी तथा कोंकणी समाज उभर आया है । फिर भी यथार्थ को ही प्रमुखता मिल गई है यद्यपि कहीं आदर्श पर ही बल दिया गया है । यह कहावतें साहित्य सत्य को ही प्रमुखता दिखाता है । हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में दोनों समाजों का यथार्थ चित्रण सफलता के साथ उभर आया है । इन चित्रों में अत्यधिक समानता रही है । मूल आर्य संस्कृति के होने के कारण दोनों की समाज संबन्धी मान्यता भी एक हद तक समान ही रही है । फिर भी कहीं कहीं परिवर्तन एवं अन्तर भी दृष्टिगोचर होते हैं, लेकिन वे नगण्य हैं । इनका विस्तृत रूप से आगे अध्ययन किया जायगा । अपने जीवन में घटित होने वाली घटनाओं को अभिव्यक्ति रोचक रूप से दूसरों के सामने प्रस्तुत करने के लिए हिन्दी तथा कोंकणी समाज में कहावतों का प्रयोग चलता है । दोनों भाषाओं की कहावतों में समाज का एक वैज्ञानिक रेखांकित अस्पष्ट सा चित्र हमारे सामने प्रस्तुत होता है जो अपने में पूर्ण रहा है ।

हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में प्रतिफलित समाज -- समानताएँ और विषमताएँ

हिन्दी तथा कोंकणी समाज का सुन्दर प्रतिफलन उनकी कहावतों में हुआ है । भारतीय सामाजिक व्यवस्था के आधार पर ही हिन्दी तथा कोंकणी समाज का निर्माण हुआ है । भारतीय सामाजिक व्यवस्था के प्रमुख तत्व वर्ण, जातिव्यवस्था जो लगभग दोनों समाजों में मिलते हैं ।

दोनों समाजों में ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र वर्णों के उल्लेख के साथ साथ अन्य पेशेवर जातियाँ भी वर्तमान रही है। ब्राह्मण ही उच्च वर्ण या उच्च जाति के माने जाते हैं। हिन्दी तथा कोंकणी समाज उनका आदर करता है और कभी उन पर तीखे व्यंग्य बाण भी छोड़ता है। भारतीय समाज वर्णाश्रम रहा है और जहाँ जहाँ धर्म की हानि का डर लगा है वहाँ धर्म की पुनःप्रतिष्ठा के लिए यहाँ पर प्रयत्न होते रहे हैं। हिन्दी तथा कोंकणी समाजों में भी यही होता रहा है। वर्णाश्रम-धर्म में जहाँ विघटन शुरू हुआ वहाँ रूढ़ियों की निन्दा शुरू हुई और समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करनेवाली कहावतों में उसका प्रतिफलन हुआ। समाज में पुरोहिताई ब्राह्मणों के कन्धों पर बोझ भी जाते हैं। लेकिन लालच में अन्धे हो जानेवाले ब्राह्मण अपने कर्तव्य को भूलकर धन कमाने की धुन में रहते हैं। ऐसे धर्मभ्रष्ट ब्राह्मणों की निन्दा किए बिना समाज चुप नहीं रह सकता। एक ओर, 'बामन वचन परमान' जैसी कहावत ब्राह्मणों को दिये जानेवाले सम्मान की ओर संकेत करती है तो दूसरी ओर 'कानी गाय ब्राह्मण को दान' 'जो बामन की खोज पर सो बामन की पोथी में' ये जैसी कहावतें उन पर व्यंग्य भी कसती हैं। कोंकणी समाज में भी ऐसी कहावतों की कोई कमी नहीं है। वो ब्राह्मणों के प्रति आदर को व्यक्त करने के साथ साथ उनकी निन्दा भी करती चलती है।

क्षत्रिय वर्ण के संबन्ध में कहावतों में चित्रित हिन्दी एवं कोंकणी समाज में थोड़ा सा अन्तर देखा जा सकता है। हिन्दी समाज में क्षत्रिय या राजा लोगों से संबन्धित अनेक कहावतें मिलती हैं। हिन्दी समाज में राजपूत क्षत्रिय वर्ण के माने जाते हैं जब कि कोंकणी समाज में क्षत्रिय वर्ण की कमी महसूस होती है। राज करने की अपेक्षा पूजा-पाठ में ही कोंकणी समाज के लोग अधिक ध्यान दिया करते हैं। हिन्दी में राजा तथा राजनीति से संबन्धित उपलब्ध कहावतों में राजाओं का कर्तव्य, अधिकार, उनकी प्रकृति आदि की ओर संकेत मिलता है। कोंकणी समाज में राजा के सद्गुणों का प्रतिपादन करनेवाली कहावतों की अपेक्षा उन पर व्यंग्यबाण छोड़नेवाली एक दो कहावतें ही मिलती हैं। वैसे ही वैश्य और अन्य पेशेवर जातियों से संबन्धित कहावतें भी हिन्दी तथा कोंकणी समाज में मिलती हैं। हिन्दी समाज में वैश्य को साहूकार या बनिये के रूप में चित्रित किया जाता है। यद्यपि कोंकणी में 'शेट्' उन्हें 'शेट्टि' कहा जाता है फिर भी उनका कार्य व्यापार ही बताया गया है। वे व्यापार में बहुत चतुर होते हैं जिसका उल्लेख हिन्दी की

एक कहावत में भी कहा है -- 'बनिये से सयाना सो दीवाना' । व्यापार में बनिये के सिवाय और कोई अधिक चतुर नहीं होता । बनिये व्यापार में कमाया गया धन अधिक ब्याज में देकर लोगों को तंग करते हैं । इस प्रकार अधर्म से कमाया धन मिट्टी में मिल जाता है । धर्म को महत्व देनेवाले कोंकणी समाज को बनिये या महाजन के लिए चेतावनी है -- 'वड्डी वुड्डु उपयोगु योवोली' (ब्याज का धन पानी में चला जायगा ।) । शूद्रों के संबन्ध में प्रायः कहावतें उपलब्ध नहीं होतीं तो भी पेशेवर जाति के चमार, नाई, धोबी से संबन्धित कहावतें तो बहुत मात्रा में मिलती हैं । ये जातियाँ शूद्रों के अन्तर्गत ही गिनी जाती हैं और इनके संबन्ध में हिन्दी तथा कोंकणी समाज में कई कहावतें भी प्रचलित हैं । 'चमार चमड़े का यार', 'कुम्हार की लड़ाई और गधों के बैर', 'नाई सबके पांव धोवे अपने धोते लजावे', 'नाई नाई केस कितने जजमान सामने आई', 'धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का,' धोबी के घर ब्याह गधे पा छुट्टी देख' 'धोबी का छैला एक उजला एक मैला' आदि कहावतें इसके प्रमाण हैं ।

हिन्दी तथा कोंकणी समाज में पारिवारिक जीवन के संबन्ध में कई सामान्य मान्यताएँ रही हैं । इनका मूल रूप भारतीय परिवार में बसा हुआ है । दोनों समाजों में विशेषतः कोंकणी समाज में पुरुष को ही स्त्री की अपेक्षा प्रधानता रही है । इसीलिए उसे पुरुषप्रधान समाज कहा जाता है । दोनों भाषाभाषियों की मान्यता है कि पुरुषों को नौकरी करते रहना चाहिए, उन्हें बेकार नहीं रहना चाहिए । कहावतों में इस ओर संकेत मिलता है । 'खाली बनिया क्या करे इस कोठी का धान उस कोठी में धरे', 'बेद्दो बेवसाती ...' आदि कहावतें समान भावों एवं आदर्शों का चित्रण करती हैं । पुरुषों के साथ स्त्रियों का भी समाज में सम्मान होता है । स्त्री का माता के रूप में ही विशेष स्थान रहा है । माँ या बच्चों के प्रति जितना प्यार रखती है उतना और किसी से नहीं रखता । कोंकणी की कहावत है 'आवसुले मये समान माया ना' (माँ के प्यार के समान प्यार नहीं) । हिन्दी समाज भी माता के स्नेह को उच्चतर मानता है । 'जो माँ से हित चाहे सो डायन' । प्रस्तुत हिन्दी कहावत भी इसी ओर संकेत करती है । पतिव्रता परिवार तथा समाज में विशेष पूजनीय है । दोनों समाजों में स्त्री के पतिव्रत्य धर्म को लेकर कहावतें मिलती हैं । कोंकणी समाज भी पतिव्रता को घर का दिया मानता है - 'पतिव्रता ... घरा दीवो भी' (पतिव्रता स्त्री घर के दीपक के समान है)

जैसे तो परिवार में पिता-पुत्र, पति पत्नी, माँ बच्चे, सास दामाद, सास-बहू, भाई-बहन आदि संबन्धों की ओर संकेत करनेवाली कहावतें हिन्दी तथा कोंकणी दोनों समाजों में मिलती हैं। इनका विस्तृत अध्ययन तीसरे अध्याय में किया जा चुका है। इन कहावतों के अध्ययन से संयुक्त परिवार का स्वरूप हिन्दी और कोंकणी समाज में किस प्रकार का होता है, इस प्रश्न का समाधान हमें मिलता है।

धार्मिक समानताएँ और विषमताएँ

मानव जीवन के अनेक पक्ष और परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें जीवन का धार्मिक पक्ष भी एक है। जीवन और धर्म का अटूट संबन्ध रहा है। जीवन से संबन्ध रखनेवाले धर्म के भी कई पक्ष होते हैं। इनका पालन करने से व्यक्ति का समाज में महत्व बढ़ जाता है और धार्मिक व्यक्तियों के कारण समाज भी उन्नति प्राप्त कर लेता है। प्रत्येक समाज की अपनी धर्मसंबन्धी धारणाएँ रहती हैं। हिन्दी तथा कोंकणी दोनों समाज भारतीय धर्म पर आधृत हैं। धर्म के विभिन्न अंगों में ईश्वरनिष्ठा प्रमुख है। हिन्दी तथा कोंकणी समाज में मानवीय शक्ति से बढ़कर एक अलौकिक शक्ति की कल्पना की जाती है और इस शक्ति को ईश्वर नाम से अभिहित किया जाता है। ईश्वर की कल्पना दोनों समाजों में कई रूपों में की जाती है और इसके अनुसार ईश्वर की उपासना में भी विभिन्नता दिखाई पड़ती है। ईश्वर के एकछत्राधिकार को दोनों समाज समान रूप से मानते हैं जिसका उल्लेख उनकी कहावतों में मिलता है। जैसे 'अल्लाह करे सो हो', 'जाको राखे साइयाँ मारि न सके कोय', । कोंकणी की कहावत है 'देवान [illegible] मारीत [illegible] [illegible] जेल्यारि [illegible]', 'समाधान देवालि [illegible]' आदि। अर्थात् ईश्वर का बल ही सबसे बड़ा बल है। हिन्दी तथा कोंकणी समाज ईश्वर की उपासना मानवशक्ति के रक्षक के रूप में भी करते हैं। वे मूर्तिपूजा तथा ईश्वर के अवतारों में भी विश्वास करते हैं। ईश्वर से साक्षात्कार प्राप्त करने के लिए सबल साधन के रूप में भक्ति को अपनाया जाता है। भक्ति तो ईश्वर जैसी अदृश्य शक्ति के प्रति मनुष्य के मन में उत्पन्न होनेवाला एक प्रकार का विशेष पूज्य भाव है। हिन्दी और कोंकणी दोनों समाजों में ईश्वरभक्ति को मानव जीवन का अविच्छेद्य अंग माना जाता है। दोनों समाजों में भक्ति की महिमा को व्यक्त करनेवाली कहावतें मिलती हैं। साथ ही कई ऐसी भी कहावतें मिलती हैं जो झूठी भक्ति दिखानेवालों पर व्यंग्य भी कसती हैं। '[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] पुसिल्यारि [illegible] [illegible] ?' (मुंडन करने से या माथे पर भस्म

लगाने से क्या कोई सन्यासी या योगी बन सकता है ?) प्रस्तुत कोंकणी कहावत झूठी भक्ति दिखानेवालों पर ही व्यंग्यबाण छोड़ देती है । हिन्दी समाज के लिए भी कदाचित उपालम्भ सा है । अतः कहा जाता है -- पंडित भए तो क्या भए, भये लबेरा मूल

साथ भजत जाने नाही, भए सेमल के फूल ।।

बाह्य आडंबर से भक्ति दिखाने से कोई सफलता नहीं है । सच्चे मन से ईश्वर के प्रति सच्ची भक्ति होनी चाहिए । ईश्वर के प्रति जो भक्ति है उसे प्रकट करने के लिए मनुष्य पूजा-पाठ, व्रत तथा अनुष्ठानों का सहारा लेता है । हिन्दी तथा कोंकणी भाषाओं में व्रत, अनुष्ठान तथा पूजापाठ का विशेष महत्व है । दीवाली के दिन सभी लोग पूरा मजा उठाते हैं । कोंकणी भाषाभाषियों के लिए यह तो त्योहारों में अन्तिम त्योहार है । दीवाली को एक शुभदिन का आरंभ माननेवाले हिन्दी समाज के लोगों का विश्वास है कि उस दिन जिसकी जीत होती है उसकी साल भर में ही जीत होती ही रहती है । उनकी यह मान्यता अपनी कहावत में भी प्रतिफलित होती है । -- 'दीवाली जीत साल भर जीत' । वैसे ही जन्माष्टमी, नागपंचमी, गणपति पूजन और त्योहार भी इन समाजों के लोगों के उल्लास मनाए जाते हैं । इन त्योहारों के दिन दोनों समाजों के लोग विशेष रूप से पूजापाठ आदि करके ईश्वर की उपासना करते हैं । ऐसे पर्व त्योहारों के अवसर पर खास प्रकार के पकवान भी बनाए जाते हैं ।

आध्यात्मिकता को प्रमुखता देनेवाले हिन्दी और कोंकणी समाज तीर्थस्थानों में जाकर पाप से मुक्ति प्राप्त करने में विश्वास करते हैं । दोनों समाजों में तीर्थस्थान जाकर सिर मुड़ाने का विधान रहा है । इस का उल्लेख दोनों भाषाओं की कहावतों में मिलता है । इन तीर्थों में जाने का मुख्य प्रयोजन है मोक्षप्राप्ति । ईश्वरीय उपासना के सिलसिले में किए जानेवाले यज्ञों में दान का अपना अलग महत्व है । हिन्दी और कोंकणी भाषाओं में उपलब्ध कहावतों के अध्ययन से दोनों समाजों का दान के प्रति जो दृष्टिकोण है उससे संबन्धित जानकारी प्राप्त होती है । दान कैसे व्यक्तियों को देना है और कौन सी चीजें दान में देनी हैं इसका उल्लेख हिन्दी और कोंकणी कहावतों में हुआ है जो दोनों समाजों की धार्मिक एकता की ओर भी संकेत करता है । प्रायः ब्राह्मणों को ही दान दिया जाता है । जब दान लेनेवाले ब्राह्मण लालच के गुलाम बन जाते हैं तो समाज में प्रायः उनकी हँसी भी कहावतों के द्वारा उड़ाई जाती है ।

हिन्दी और कोंकणी समाज के लोग पाप पुण्य और उसके परिणामस्वरूप मिलनेवाले स्वर्ग और नरक में भी विश्वास करते हैं। दोनों की धारणा है कि पापकर्म करने से नरक की प्राप्ति होती है और पुण्यकर्म करने से स्वर्ग की प्राप्ति। दोनों की कहावतों में उनका यह विश्वास प्रतिबिंबित होता है। 'पुण्य कथा अमृत है' वाली हिन्दी कहावत में यह बात व्यक्त की गई है कि यती का आदर सम्मान करना और उनकी कथनी का पालन करना एक पुण्य कर्म है जिसे करने से व्यक्ति को स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है। जीवनकाल में पुण्यकर्म करना चाहिए। तभी तो मरने के बाद मुक्ति मिल जाती है। वह मुक्ति उसे ही मिलेगी जिसने अच्छे कार्य किए हैं। कोंकणी की एक कहावत है --'अवघ मेल्यारि अवधाक मेलु' (आप मरे तो अपने को ही मुक्ति मिलेगी और किसीको नहीं)। हिन्दी और कोंकणी की इन कहावतों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दोनों समाजों में लोगों को मुक्तिधाम प्राप्त करने के लिए पाप करने से दूर रहने की सीख दी जाती है। मनुष्य के हर काम के पीछे एक अज्ञातकीय शक्ति काम करती है जिसे भाग्य, विधि, नियति, आदि नाम से अभिहित किया जाता है। दोनों समाजों के लोग भाग्य कर्म पर विश्वास करते हैं। मानव जीवन की हार और जीत इसी नियति पर आधारित रहती है। हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों के द्वारा यह बात स्पष्ट हो जाती है। मानव के लिए जब भाग्य उलटा हो जाता है तब मनुष्य के द्वारा किए गए कार्य सभी उलटे हो जाते हैं। इस तथ्य का उद्घाटन हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में हुआ है जो दोनों समाजों की भाग्यवादी विचारधारा की ओर संकेत करती हैं।

पुनर्जन्म सिद्धान्त का भारतीय चिन्तन में विशेष महत्व है। सामाजिक जीवन को अत्यन्त व्यवस्थित एवं नियमित बनाना ही पुनर्जन्म सिद्धान्त का मुख्य लक्ष्य है। भारतीय विचारधारा पर चलनेवाले हिन्दी तथा कोंकणी समाजों में भी पुनर्जन्मसिद्धान्त जारी रहा है। उनका विश्वास है कि जो कर्म किए जाते हैं उनका फल इसी जन्म या दूसरे जन्म में जरूर भोगना पड़ेगा। कोई भी इस फल को भोगने से बच नहीं सकता। हिन्दी की निम्नलिखित कहावत में यह तथ्य यों व्यक्त किया गया है --'क्या खूब सौदा नकद है, इस हाथ दे और उस हाथ ले'। पुनर्जन्म सिद्धान्त से संबन्धित कहावतों से व्यक्त हो जाता है कि व्यक्ति में धार्मिक विश्वास उत्पन्न करके एक धार्मिक समाज की स्थापना के लिए ही ऐसी कहावतों की सृष्टि हुई है।

धर्म में अटल रहने वाले हिन्दी और कोंकणी समाज दार्शनिकता से भी अछूते नहीं है । मानव जीवन की नश्वरता एवं सुख-दुःख की क्षणिकता पर दोनों समाज जोर देते है । मानव जीवन की क्षणिकता और मानव शरीर की नश्वरता की ओर संकेत करनेवाली कई कहावतें हिन्दी तथा कोंकणी दोनों समाजों में मिलती है । हिन्दी की कहावतें 'आया है सो जायगा' ; 'आदमी बुलबुला है पानी का' और कोंकणी की 'आजि जिविल्लो फाल्यां ना' , 'मनुष्याली जीवित उदकांतेले बुडबुड' जैसी कहावतों में दोनों समाजों के दार्शनिक विचार उभर आते है । इन दार्शनिक कहावतों के अध्ययन से इस बात का पता चलता है कि हिन्दी तथा कोंकणी समाज दार्शनिक तत्वों को समान दृष्टिकोण से पहचान ग्रहण करते है ।

धार्मिकता को प्रमुखता देने के कारण हिन्दी तथा कोंकणी समाज में धार्मिक आचरण व संस्कारों का होना स्वाभाविक ही है । वैदिक काल से लेकर हिन्दू समाज में प्रचलित सोलह संस्कार हिन्दी तथा कोंकणी समाज में संपन्न किये जाते है । हिन्दी तथा कोंकणी की कुछेक कहावतों में कई संस्कारों का उल्लेख भी मिलता है जिससे इन समाजों में प्रचलित संस्कारों के बारे में पता चलता है । 'छठी का खाया पिया सब निकल गया' जैसी हिन्दी कहावत समाज में बालक जन्म के छठे दिन संपन्न किए जानेवाले संस्कार की ओर संकेत करती है । वैसे ही नामकरण , कर्णवेध , अन्नप्राशन , चूड़ाकरण , उपनयन , विवाह , अन्त्येष्टि जैसे अन्य संस्कारों का प्रचलन इन समाजों में दिखाई पड़ता है । लेकिन कुछेक संस्कारों के संपन्न करने की विधि में कहीं कहीं अन्तर भी महसूस होता है और कहीं कहीं समानताएँ भी । विवाह के दिन कन्या के घर वरपक्ष की बारात के आने का विधान है । इस बारात में दूल्हा सबसे आगे चलता है और उसके पीछे उसके संबन्धी तथा मित्र लोग चलते है । हिन्दी की निम्नलिखित कहावत में इसका उल्लेख भी हुआ है । 'दूल्हा के संग बारात' । हिन्दुओं के यहाँ विवाह में नेग का प्रचलन है । इसमें वरकन्या चौथी के दिन हाथ में बँधे कंगन की गाँठ खोलते है । यह कंगन लाल धागे का होता है । इस ओर संकेत करनेवाली हिन्दी कहावत है -- 'गाँठ खुले न बहुरिया दुलरव' । प्रस्तुत कहावत में विवाह के नेग के उल्लेख के साथ साथ दूसरों बहुओं पर व्यंग्य भी किया गया है । कोंकणी समाज में इस कंगन को गाँठ खोलने का विधान नहीं मिलता ।

वैसे तो जीवन के अन्तिम संस्कार के रूप में अन्त्येष्टि को बहुत ही प्रमुखता रही है । अन्त्येष्टि संस्कार का मुख्य प्रयोजन मृत्यु के बाद आत्मा का कल्याण है । हिन्दी तथा कोंकणी दोनों समाज अन्त्येष्टि को महत्त्व देते हैं । क्योंकि उनके लिए इस लोक की अपेक्षा परलोक ही उच्चतर है । दोनों समाजों में शव का दाहसंस्कार किया जाता है और इससे संबन्धित कई अन्त्येष्टिक्रियायें भी होती हैं । मरनेवाले व्यक्ति को खाट से उठाकर नीचे लिटाकर स्नान कराया जाता है । साथ ही दिया जलाकर पवित्र धर्मग्रन्थों का पाठ करने तथा मरनेवाले को मोक्ष के रूप में गंगाजल पिलाने का रिवाज भी है । 'मरे न माहुर खाये' जैसी कहावत इसी ओर संकेत करती है । मृत्यु के बाद शव को श्मशान में ले जाकर ही उसकी दाहक्रिया होती है । 'मेलेंलो मोनु मसणान्तु वच्चन क्या वे ?' (मैला, मरा सोचकर क्यों कोई पड़ते हो श्मशान में जाकर बैठता है ?) वाली कोंकणी कहावत में भी श्मशान की ओर संकेत मिलता है । हिन्दी तथा कोंकणी समाज की यह विशेषता रही है कि मृत व्यक्ति के घरवाले तथा सगे संबन्धियों के लिए सूतक का पालन करना पड़ता है । सूतक के कारण दूसरे लोग उनके घर से कुछ खाते पीते नहीं । कहावतों में यह बात स्पष्ट हो जाती है । अशौच की अवधि में तो दोनों समाजों में अन्तर जरूर रहता है । मृत व्यक्तियों के लिए पिण्डदान और श्राद्ध करने का विधान दोनों समाजों में देखने को मिलता है । हिन्दी की कहावत है 'जियत न माने पितृ गुरु मरे करे श्राद्ध' ।

नैतिक समानताएँ और विषमताएँ

सामाजिक जीवन में नीति का महत्त्वपूर्ण स्थान है । नीति में सदाचार एवं सद्व्यवहार भी शामिल रहते हैं । व्यक्तियों का सदाचार ही समाज को सुसंस्कृत तथा सुशिष्ट बना देता है । हिन्दी तथा कोंकणी समाज भी नैतिक सदाचार को प्रमुखता देते हैं । बड़ों का आदर सम्मान करने से व्यक्ति को आनन्द मिलता है । इस तथ्य की ओर दोनों समाज सहमत हैं और इनकी सहमति अपनी अपनी भाषाओं की कहावतों में व्यक्त की गई है । कोंकणी की कहावत है -- 'व्हडल्यांगेलें उतर प्रमाण मेहुण' (बड़ों की बात माननी चाहिए) हिन्दी में भी 'जो साधु की माने बात रहे आनन्द वह दिन रात' । दूसरों से सद्व्यवहार करने की सीख दोनों समाज देते हैं । 'मिठ्ठाले चलति लावी' वाली उक्ति के आधार पर हिन्दी एवं कोंकणी समाज में भी कहावतें प्रचलित हैं । 'कमान से निकला तीर और मुँह से निकली बात फिर नहीं आती' । प्रस्तुत कहावत इस

शब्द पर जोर देती है कि व्यक्ति को एक दूसरे से बोलते समय इस बात पर बड़ा ध्यान रखना चाहिए कि अपने मुख से कोई बुरे शब्द न निकले । यही चेतावनी कोंकणी समाज में भी यों दी जाती है -- 'तोंडांतु सुटलें उत्तर काडुक जायना' (मुँह से निकले शब्द फिर नहीं लौटा लिये जा सकते) । दोनों समाजों में सदाचरणों के उपदेश भी दिये जाते हैं । व्यक्ति को विनम्र, सहनशील , उदार , आत्मनिर्भर , होना चाहिए । व्यक्ति को दूसरों की निन्दा करना और दूसरे का अन्धानुकरण करना शोभनीय नहीं । अनुकरण भी वह कर सकता है , लेकिन वह सज्जनों का अनुकरण हो । हिन्दी समाज में व्यक्ति के आत्मनिर्भर होने का उपदेश दिया जाता है । दूसरों की निन्दा करना भी पाप समझा जाता है । कोंकणी समाज भी इसी तत्व का अनुसरण करता है । ये बातें कहावतों द्वारा अभिव्यक्त हुई हैं ।

मानव कल्याण को चाहनेवाले समाज व्यक्ति को कुसंगति से बचने की सलाह देते हैं । कुसंगति में रहने से व्यक्ति को जो दुःख का मिलता है उस ओर संकेत करते हुए हिन्दी और कोंकणी समाज में कहावतें चलती हैं । इनसे दुर्जनों की संगति से कोसों दूर रहने की सीख मिलती है । हिन्दी तथा कोंकणी भाषाभाषियों के बीच यह मान्यता रही है कि असत्यवादी अपमानित हो जाता है । झूठ और झूठ बोलनेवालों की समाज में उपेक्षा की जाती है । 'झूठ बराबर पाप नहीं' , 'झूठ बोलना और खाक खाना बराबर है' आदि हिन्दी कहावतें इसी ओर संकेत करती हैं । कोंकणी समाज में भी झूठ के लिए कोई स्थान नहीं है । झूठ बोलने से होनेवाले दुष्परिणाम की ओर संकेत करनेवाली कोंकणी कहावत है 'फटियेक मेल्यॉर कर्टें लागु' (झूठ बोले तो नारियल की खोपड़ी ही मिलती है) झूठ की उपेक्षा के साथ ही दोनों समाजों ने सत्य के महत्व पर भी जोर दिया है । कहावतों के जरिये यह स्पष्ट हो जाता है । लोगों को पाप जैसे वस्तुओं से भी दूर रखने में कहावतें सहायक होती हैं । हिन्दी और कोंकणी समाज में पाप की भर्त्सनाकी मान्यता है । पाप के संबन्ध में कोंकणी समाज का कहना है कि पाप छिपाये नहीं छिपता । इसलिए पापकर्म करते हुए उसे छिपाने का प्रयास नहीं करना चाहिए पाप करने से दूर रहना ही अच्छा है । कहावतें इस ओर बल देती हैं । हिन्दी की 'पाप छिपाये ना छिपे जस लहसुन की बास' , 'पाप का घड़ा भरकर डूबता है' , और कोंकणी की 'पातकान भरलेलें घडें पातळ' , आदि इसके उदाहरण हैं । इससे स्पष्ट हो जाता है कि दोनों समाजों की दृष्टि पाप की ओर समान होती है और दोनों के लिए पाप एक कुत्सित कर्म है जो व्यक्ति और समाज के विकास में बाधा उपस्थित करता है ।

व्यावहारिक नीति को छोड़कर जब राजनीति का प्रश्न आता है तो हिन्दी समाज का स्वर ही इसमें अधिक प्रबल रहा है। इसका कारण यह है कि हिन्दी समाज में वर्णव्यवस्था में क्षत्रिय जाति का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। लेकिन कोंकणी समाज में क्षत्रिय वर्ग या जाति का बहुत कम उल्लेख हुआ है। राज्य और राजनीति से उनका संबन्ध बहुत कम है। इसलिए इनसे संबन्धित कहावतें भी बहुत कम ही मिलती हैं। हिन्दी और कोंकणी समाज की आर्थिक व्यवस्था का स्वरूप भी उनकी कहावतों में प्रतिफलित होता है। दोनों समाजों में धनवान और गरीब दो तबके के लोग रहते हैं। व्यक्ति का धन के प्रति जो मोह रहता है उसे प्राप्त करने के लिए वह हर जो रास्ते चुन लेता है और धनप्राप्ति के बाद उसे सुख-दुःख का जो अनुभव होता है इन सबका चित्रण हिन्दी तथा कोंकणी में देखने को मिलता है। इससे दोनों समाजों की आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन किया जा सकता है। धनिक लोगों का ही समाज में आदर होता है। कोंकणी कहावत 'दामु अधिकारीक मानु' (जिसके पास धन हो उसका सम्मान होता है) हिन्दी की 'जिसके हाथ डोई उसका सब कोई' जैसी कहावतें इस बात की प्रमाण हैं। धन मनुष्य को सुख भी प्रदान करता है और दुःख भी। धनी व्यक्ति को क्यों चैन नहीं मिलता। कहावतें इस सत्य की ओर संकेत करती हैं। धनिकों के साथ ही कहावतों में कहीं कहीं गरीबों का भी उल्लेख मिलता है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गरीबों का इन समाजों में क्या स्थान है। हिन्दी की कहावत 'गरीब आदमी [illegible] बराबर' और कोंकणी की 'दरिद्र [illegible] की भंवरा' और '[illegible] कहावतें इस सत्य की ओर संकेत करती हैं।

हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों के जरिये समाज में व्यक्ति स्वभाव का भी वर्णन हुआ है। समाज में व्यक्ति एक दूसरे से मिले बिना नहीं रहता। लेकिन वहाँ पर सभी व्यक्ति एक ही स्वभाववाले नहीं हुआ करते। कहावतें उनके भिन्न-भिन्न स्वभावों की ओर संकेत करती हैं और दुराचरण से बचने का उपदेश भी देती हैं। भोजनसंबन्धी कहावतों से पता चलता है कि दोनों समाज एक हद तक मांसाहारी रहे हैं यद्यपि कई पेशेवर जातियों ने शाकाहार को भी अपनाया है। खाद्यवस्तुओं में कई तरह के फल भी आते हैं। जीवन की आवश्यकता को स्वीकार करने के साथ साथ हिन्दी तथा कोंकणी समाज में जीवन में मितव्ययता रखने की अनिवार्यता भी पता मिलता है। दोनों भाषाओं की कहावतों से यह स्पष्ट हो जाता है।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में प्रतिबिंबित समाज कुछ सामान्य भिन्नताओं के रहते हुए भी मूल में एक हो रहा है। दोनों भाषाओं की कहावतें समाज का स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। इन कहावतों में दोनों समाजों के संबंधित यथार्थ के सुन्दर चित्र प्रस्तुत हुए हैं। कृत्रिमता, सांप्रदायिक विचारधारा, लिखित प्रमाण आदि से दूर रहने के कारण प्रस्तुत कहावतों में समाज का यथार्थ रूप सामने आता है और इनमें समाज के सामान्य वर्ग की संस्कृति एवं रहन सहन के साथ साथ विशेष वर्ग का भी विवेचन मिलता है। सामान्य के लिए अधिकतर शब्दों का विवेचन इनमें निम्न के स्तर के साथ मुखरित हुआ है।

हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में प्रतिबिंबित समाज -- भिन्नता में एकता

हिन्दी तथा कोंकणी समाज मात्र भाषागत दृष्टि से नहीं अपितु अपने सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और व्यवहार की दृष्टि से भी एक दूसरे के समान रहे हैं। दोनों के लोकसाहित्य में कहावतों का खास महत्व रहा है। दोनों की सामाजिकव्यवस्थासंबन्धी उपलब्ध कहावतों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दोनों के बीच एक विशेष प्रकार का संबन्ध विद्यमान रहा है। छोटे छोटे अन्तरों के साथ दोनों समाजों में वर्णव्यवस्था का पालन हुआ है जो मूल भारतीय समाजव्यवस्था के अनुकरण पर हुआ है। सामाजिक संस्था के रूप में परिवार और उसके संबन्धों को प्रतिबिंबित करनेवाली कहावतों में भी कुछ सामान्य अन्तरों के साथ साथ संयुक्त परिवार और पारिवारिक सदस्यों के आपसी संबन्ध का मूल भारतीय परिवार के अनुकरण पर चित्रण मिलता है। दोनों भाषाओं की कहावतों में बाह्य रूप से भाषागत अंतर के रहते हुए भी उनमें निहित आन्तरिक भाव एक ही रहे हैं। दोनों समाजों में प्रचलित धार्मिक धारणाएँ भी अपने मूल रूप में एक ही रही हैं। यहाँ पर विषमताओं की अपेक्षा समानताएँ ही अधिक मिलती हैं। सदाचार, धर्म कर्म और पाप पुण्य, स्वर्ग नरक आदि से संबद्ध दोनों भाषागत समाजों के एक ही मूल को स्पष्ट करते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिन्दी और कोंकणी कहावतों में निहित भावों में प्रत्यक्ष रूप में थोड़ी भिन्नताओं के रहते हुए भी दोनों के मूल में एकता का सूत्र विद्यमान रहा है। भाषा की दृष्टि से दोनों एक ही भाषापरिवार की भाषाएँ हैं जिसके कारण उनमें भाषागत एकता भी रही है। वैसे ही उनकी सामाजिक तथा मानसिक अवस्था में भी एक चिरस्थायी समानता मिलती है जो इन्हें एकता के सूत्र में बाँध देती है।

हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में भारतीय संस्कृति की झलक

भारतीय संस्कृति का इतिहास बहुत ही प्राचीन रहा है। `भारतीय संस्कृति में जाति, कर्माश्रय, धर्म, नैतिक आचार व्यवहार आदि को महत्व दिया जाता है। दूसरे शब्दों में भी कहिए, जीवन में बिखरे अनेक लोकाचारों, संस्कारों एवं परंपरागत विचारों की नाना-रूपात्मक स्थितियों के संगठित समायोजन से ही भारतीय संस्कृति का संगठन हुआ है। प्रत्येक देश की संस्कृति की झलक उसके लोकसाहित्य में देखने को मिलती है। इसका कारण यह है कि संस्कृति का मूल उत्स लोकसाहित्य में ही निहित रहता है क्योंकि लोकसाहित्य लोकजीवन का ही प्रतिरूप होता है। जनजन के और आचरण के तत्वों से संस्कृति अपने को विकसित करने का प्रयास करती है। इस विकासयात्रा में संपूर्ण लोक की सौन्दर्यानुभूतियाँ उसे और भी पुष्ट करती है। भारतीय संस्कृति की भी यही स्थिति रही। भारतीय संस्कृति का प्रतिबिंब भारतीय लोकसाहित्य में, विशेषकर कहावती साहित्य में देखने को मिलता है। उसकी आत्मा लोकसाहित्य में ही निवास करती है। भारतीय संस्कृति की नींव पर ही हिन्दी तथा कोंकणी समाज का निर्माण हुआ है इसीलिए इन भाषाओं की कहावतों में भारतीय संस्कृति सहज ही उभर आती है। इसी कारण दोनों भाषाओं की कहावतों में समानताओं को विषमताओं की अपेक्षा अधिक देखा जा सकता है। कहने का अर्थ है कि दोनों समाजों के मूल में भारतीय संस्कृति की मूल धारा बहते रहने के कारण दोनों की सामाजिक धार्मिक, नैतिक व आचारव्यवहारात्मक मान्यताएँ एक जैसी रही हैं जिनका प्रतिफलन कहावतों में भी हुआ है। दोनों की कहावतों के सम्यक अध्ययन से यही बात स्पष्ट हो जाती है कि उनमें भिन्नता के बावजूद भी एकता कायम रही है।

निष्कर्ष

वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज और संस्कृति की झलक हिन्दी तथा को समाजों में समान रूप से मिलती है जिसकी अभिव्यक्ति उनकी कहावतों में भी हुई है। हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों के माध्यम से इन दोनों समाजों का जो अध्ययन हुआ है उसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिन्दी तथा कोंकणी दोनों समाज प्रत्यक्षतः भिन्न होने पर भी इनके सामाजिक, सांस्कृतिक और भावात्मक एकता के अन्तःसूत्र एक ही रहे हैं। दूसरे शब्दों में हिन्दी तथा कोंकणी कहावतों में भारतीयता की झलक मिलती है और दोनों समाज भारतीय समाज के प्रतिरूप हैं।

परिशिष्ट

1. सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची ।
2. शोध प्रबन्ध में प्रयुक्त हिन्दी कहावतों की सूची ।
3. शोध प्रबन्ध में प्रयुक्त मैथिली कहावतों की सूची ।
4. हिन्दी तथा मैथिली की कुछ समान कहावतें ।

परिशिष्ट - 1

सन्दर्भ - ग्रन्थ - सूची

संस्कृत ग्रन्थ

1. अथर्ववेद
2. अभिज्ञानशाकुन्तलम् ।
3. 108 उपनिषदें ।
4. ऋग्वेद
5. कुमारसंभवम् ।
6. कुवलयानन्दम् ।
7. पञ्चतन्त्रम् ।
8. पद्मपुराण ।
9. पारस्कर गृह्यसूत्र ।
10. बौद्ध स्मृतियाँ ।
11. भगवद्गीता ।
12. भागवत ।
13. महाभारत ।
14. रघुवंशम् ।
15. विष्णु धर्मसूत्र ।
16. विष्णुपुराण ।
17. वेदान्तदर्शन ।
18. वैखानस धर्मसूत्र ।
19. शब्दकल्पद्रुम ।
20. सुभाषितरत्नभाण्डागारम् ।

हिन्दी ग्रन्थ

1. अनुसंधान और आलोचना - डा. कन्हैयालाल सहल, विनय प्रकाशन, 1970.
2. आर्य संस्कृति - डा. बलदेव उपाध्याय, नवलकिशोर ग्रन्थ माला
3. कवि कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति -- डा. गायत्री वर्मा
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय 1963.
4. कहावत कोश बिहार राष्ट्रभाषा परिषद
5. किन्नर लोकसाहित्य - डा. बंशीराम शर्मा, ललित प्रकाशन
6. जातिव्यवस्था -- डा. नर्मदेश्वर प्रसाद, राजकमल प्रकाशन
7. तुलसीदास-काव्य में नैतिक मूल्य, -- डा. परमलाल शर्मा
8. धर्म और समाज -- डा. राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्ज
धर्म तथा समाजवाद -- गुरुदत्त, भारतीय संस्कृति परिषद 1967.
10. नारी का मूल्य - शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर प्रा. लि.
11. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका -- डा. रामजी उपाध्याय,
12. प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार - डा. एस राधाकृष्णन,
13. भारत में समाजवाद, प्रकृति और संस्कृति -- गौरीशंकर भट्ट, साहित्यभवन
14. भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास -- डा. विमलचन्द्र पाण्डेय, हिन्दुस्तानी एकेडमी 1968.
(600 ई पू. -100 ई तक)
15. भारतीय कहावत संग्रह - डॉ. विश्वनाथ दिनकर नरवणे
16. भारतीय लोकसाहित्य -- डा. श्याम परमार
17. भारतीय संस्कृति के उपादान -- डॉ. एम. मजुमदार, ओरियन्टल पब्लिशिंग हाउस 195
18. भारतीय समाज का स्वरूप -- डा. शीतलाराम झा श्याम, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी 19
19. भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास -- चन्द्रावती त्रिपाठी
20. भोजपुरी लोकगाथा -- सत्यव्रत सिन्हा, हिन्दुस्तानी एकेडमी
21. भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन -- डा. कृष्णदेव उपाध्याय, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय।
22. मध्ययुग की धर्मसाधना -- डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी

23. मध्ययुगीन कृष्णकाव्य में समाज की अभिव्यक्ति -- हरगुलाल , भारती साहित्य मन्दिर , 1967
24. महाभारत में धर्म - डा. शकुन्तला शर्मा , भारती पुस्तक मन्दिर 1970
25. महाभारतकालीन समाज -सुखमय भट्टाचार्य , लोकभारती प्रकाशन 1966.
26. महाराष्ट्र का हिन्दी लोककाव्य --प्रभाकर माचवे , आत्माराम एण्ड सन्स
27. मालवी लोकसाहित्य -- डा. श्याम परमार , हिन्दुस्तानी एकेडमी 1969
28. मुहावरा मीमांसा -- डा. ओमप्रकाश गुप्त , बिहार राष्ट्रभाषा परिषद 1960.
29. युगानुकूल हिन्दू जीवनदृष्टि -- काका कालेलकर , भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन 1970.
30. राजस्थानी कहावतें एक अध्ययन -- डा. कन्हैयालाल सहल , भारती साहित्य मन्दिर
31. रामचरितमानस -- गोस्वामी तुलसीदास , इंडियन प्रेस (पब्लिकेशन्स) प्रा. लि.
32. लोकगीतों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि (भोजपुरी और अवधी के संदर्भ में) - विद्या चौहान
प्रगति प्रकाशन 1972.
33. लोकगीतों की सामाजिक व्याख्या -- श्रीकृष्णदास , साहित्यभवन प्रा. लि.
34. लोकसाहित्य की भूमिका -- डा. कृष्णदेव उपाध्याय , साहित्यभवन 1957.
35. लोकसाहित्य-विज्ञान - डा. सत्येन्द्र , शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी 1962.
36. वैदिक साहित्य - पं. रामगोविन्द त्रिवेदी , भारतीय ज्ञानपीठ
37. ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन -- डा. सत्येन्द्र , साहित्य रत्न भंडार , 1947.
38. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर --रामचन्द्र वर्मा , नागरी प्रचारिणी सभा
39. समाज और संस्कृति --शशिभूषण ओझा , नेशनल पब्लिशिंग हाउस 1976
40. हिन्दी और तेलुगु कहावतों का तुलनात्मक अध्ययन -- डा. एन. एस. दक्षिणामूर्ति
41. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास -- राहुल सांकृत्यायन , नागरी प्रचारिणी सभा
42. हिन्दी साहित्य कोश भाग -1 , 2 --ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी
43. हिन्दुस्तानी कहावत कोश -- नेशनल बुक ट्रस्ट , नई दिल्ली 1968
44. हिन्दू धर्म और आचार -- श्रीधरदत्त उपाध्याय -- काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
45. हिन्दू परिवार मीमांसा -- प्रा. हरिदत्त वेदालंकार , भारती भंडार
46. हिन्दू विवाह की उत्पत्ति और विकास -- डा. कृष्णदेव उपाध्याय , भारतीय लोकसंस्कृति
शोध संस्थान 1974
47. हिन्दू संस्कार -- राजबली पाण्डेय ,
48. हिन्दू समाज --मुकर्जी राधाकुमुद , राजकमल एण्ड सन्स

अंग्रेजी - ग्रन्थ

1) **A Classical Dictionary of Hindu Mythology & Religion.** — **Dowson.J.**

2. **A Handbook of Folklore** — **Sophia Burn.**

3. **A History of Matrimonial Institutions** Part III — **Howard.** Chikago 1904

4. **A Sanskrit - English Dictionary** — **Sir.M.Monier Williams.**

5. **A Study of Orissan Folklore** — **Dr.Kunj Bihari Das.**

6. **Ancient Indian Culture and Literature** — **Mohanchand Eastern Book Linkers.**

7. **Ancient Indian Customs about the Funeral Witchcraft of Ancient India** — **Kailand.**

8. **Ancient Indian Society, Religion and Mythology as depicted in Markandeya Purana.** — **Desai.N.Y.** Baroda 1968

9. **Caste and Class in India** — **G.S.Ghurye.**

10. **Caste and Race in India** — **Ghure.J.S.** London 1932

11. **Caste, Class and Race** — **Kacks.**

12. **Caste in India** — **Senart.** 1930

13. **Caste in India** — **Hutton J.H.** Oxford University Press 1897

14. **Contemporary Sociological Theries** — **P.Sorokin.** Harper & Row Publishers, London 1928

15. Dharma and Society | Mees.G.H.
London 1935

16. Early Indian Religions | Banerjee.
vikas

17. Essays on Konkani Language and Literature | Dr.D.N.Shanbhag.
Konkani Sahitya

18. Encyclopaedia Britanica

19. Encyclopaedia of Religion & Ethics | Sri. James Hastings.

20. English - Sanskrit Dictionary | Sir.M.Monier Williams.

21. Faith, Fairs and Festivals of India.
Buck C H 1919

22. Folklore in Southern India.
Natesa Shastri

23. Folklore, Myths and Legends of Britain.

24. Formation of Konkani.
S M Khatre
Deccan college, Poona

25. Food and Drinks in Ancient India.
Sharma Om Prakash

26. Greek Folk Poesy | Lucy Garnett.

27. Hindu Caste and Sects | Bhattacharya.J.N.
Calcutta 1896

28. Hindu Family in its Urban Setting | Aileen D.Ross.
Oxford University Press.

29. Hindu Kinship | Kapadia.K.M.
Popular Book Depot, Bombay 1947

30. Hindu Law and Custom | Jolly.J.
Greater India Society, Calcutta 1928

31 Hindu Manners, Customs and Cerimonies. — Dubois Abbe.J.A. — Oxford University Press 1906

32 Hindu Social Insitutions — Prabhu.P.H — Longman's Green & Co 1939

33 Hindu Social Organisation — Prabhu.P.H — Longman's Green & Co 1949

34 Hindu Vews of life — Radhakrishnan.S. — London, Allen-Unwin 1927

35 History of Caste in India — S.V.Ketkar — Cosmo Publications 1909.

36 History of Civilisation in Ancient India. — Dutt.R.C. — Kegan Paul London 1893

37 History of Dakshinatya Saraswata — V.N.Kudva.

38 History of Dharmashastra — Dr.P.V.Kane. — Govt [illegible]

39 History of Human Marriage — Westermare.E.M — Macmillan, London 1921

40 Indian Caste & Customs — [illegible] — L S S O'Malley, Vikas Publishing House, Delhi 1932

41 Indian Customs — Ghurye.G.S.

42 India's Social Heritage — Maley.L.S.S. — 1934

43 Influence of Portuguese Vocables in Asiatic Languages — Gaekwad's Oriental Series

44 Introduction of American Lore.

45 Introduction to Sociology — Jerry D.Rose. — Rand Mc Nally

46 Kinship Organisation in India | Karve Iravati, Deccan

47 Konkani: Alanguage - A History of the Konkani - Marathi Controversy | Dr.Jose Periera. Karnataka University 1971

48 Konkani of Cochin | A.M.Ghatgae.

49 Konkani Proverbs | Konkani Pracharsabha.

50 Konkani Vyakaran | R.K.Rao.

51 Literary Konkani - A brief History | Dr.Jose Periera.

52 Magic and Morals.

53. Marriage and Family in India . Kapadia, Publications, Bombay

54. Marriage and Morals. Russel Bertrand, Allen Unwin, London

55 Marriage and Society.

56. Marriage forms under Ancient Hindu Laws. Tripathi G.M. Bombay 1906

57 Modern Hinduism | W.J.Wilkins.

58 Modern Sociological Theories | Charles P.Loomis. D Van Nostrand Company 1961. Canada

59 Old Ballads | Frank Sidgwick.

60 Old English Ballads | B.Gummere.

61 **Origin and Evolution of Kinship in Ancient India**	Panikkar K M Baroda State Press 1938
62. **Origin and Growth of Caste in India.**	Dutt N K
63. **Outlines of Hinduism**	**T.M.P. Mahadevan.**
64. **Poetry and Myth**	**Prescott.**
65 **Primitive Culture**	**E.B.Taylor.**
66. **Principles of Sociology.**	Spencer, Edinburgh 1893
67 **Psychology and Folklore.**	**R.R.Marett.**
68. **Religion and Folklore of North India**	**Crook.**
69 **Regligion and Society in the Brahmapurana.**	**Surabhi Sheth.** Sterling Publishers Pvt. Ltd., Delhi 1979
70. **Religions of India.**	Barth A. Trubner Oriental Series, London [illegible]
71 **Social life in Ancient India.**	Chakladar .e
72 **Social life in Northern India.**	**Brijnarayan Sharma.**
73 **Social thought from lore to Science Part I**	**Barnes.H.E & Baker.H.**

74.	Society : An Introductory Analysis	R.M.Maciver & Charles H.Page
75.	Society as depicted in Yajnavalkya Smriti.	
76.	Sociology	P.Lapier.
77.	Some aspects of the earliest social History of India	Sarkar S C, Oxford University 1 edn. 1928
78.	Sources of law and Society in Ancient India.	Sengupta N.C, Art Press, Calcutta 1914
79.	South Asian Societies : A study of Values and social controls.	
80.	Standard dictionary of Folklore Part I	
81.	Standard dictionary of Folklore, Mythology and Legend	Maria Leach.
82.	Studies in Indian Cultural History Vol.I	P.K.Gode.
83.	Temporary Sociological Theories	Gaugne.
84.	The Aryan Marriage	R.Raghunath Rao. Cosmo Publications 1908
85.	The Book of Marriage.	Keserling, London 192
86.	The Descent of Man	Dr.Darwin.

87. The Elementary Fom of Religious life |

88. The English Ballad.

89. The Family. — Max Muller, [illegible]

90. The Family and its social functions. — Groves E., J.B. Lippincott Company Chicago

91. The Goldenbough | Fredger.

92. The Hindu Family in its Urban setting | Allen D. Ross, Oxford University Press Delhi [illegible]

93. The Myth of Caste system.

94. The position of women in Hindu Civilisation. | Benaras Hindu University, Cultura Patna 1938

95. The Positive background of Hindu Sociology | Sarkar B.K., Alahabad [illegible]

96. The Popular Ballad | Gummere.

97. The Religions of India. | A. Barth. Light and Life Publications.

98. The Status of women in Ancient India. | Pro[illegible] [illegible]varasidass, Banaras

99. Tribes and Castes of Cochin — L.K. Ananth Krishna Iyer. Cosmo Publications, Delhi 19[illegible]

100 Women and Marriage in India. — P. Thomas

101 Women in Ancient India. — [illegible]

102 Women in India. — Mary Frances Billington, Amarko Book Agency -1973.

103 Women in Rgveda. — [illegible]

104 Women in Sacred Laws. — Shakuntala

105 Women in Vedic Age.

परिशिष्ट - 2

शोध प्रबन्ध में प्रयुक्त हिन्दी कहावतों की सूची

1. अंधा पुरे का पुरा ।
2. अंधा कोई का काना ।
3. अंधा राजा चौपट नगरी ।
4. अंधे के हाथ में डोरा ।
5. अंधेर नगरी अबूझ राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा ।
6. अंधों में काना राजा ।
7. अकेले दुकेले का अल्लाह बेली ।
8. अक्कल तीरथ कर आई तूमड़ो तऊ न गई कड़वाई ।
9. अढ़ाई दिन को भट्टे में भी बादशाहत कर ली ।
10. अनजान नगरी अनजान आप ।
11. अन्दर धूल नहीं बाहर बराबर ।
12. अन्न धन अनेक धन सोना रूपा कितेक धन ।
13. अपना ढेंढर देखे नहीं दूसरे की फूली निहारे ।
14. अपना तोसा अपना भरोसा ।
15. अपना पैसा खोटा तो परखैये का क्या दोष ?
16. अपना मरी जी जान आवे ।
17. अपनी करनी पार उतरनी ।
18. अपने किये को भोगो ।
19. अपने दिन पैसा तो पराया आसरा क्या ?
20. अपने से बचे तो औरों को दे ।
21. अपनी के छिड़ो छिड़ो दूसरों के सौर पूछे ।

22. अकल बुरा कल ।

23. अन्धाधारी बना कुंओं ।

24. अल्लाह करे सो हो ।

25. अल्लाह जो जोग देवे तो वह भी कबूल है ।

26. अल्लाह यार है तो बेड़ा पार है ।

27. अकबार का हुक्म आसमां और शाह का हुक्म अम्बर नहीं टीकलता ।

28. अशर्फियाँ लुटे और कोयलों पर मुहर ।

29. अल्पभाषी अक्लमन्द होता है ।

30. अन्धी के आगे रोवती चोरटी का दर्द ।

31. आकाश चरि पाताल चरि घर की टूटी कुली ।

32. आ गई तो ईद बारात नहीं आई तो कुम्ही रात ।

33. आज का बनिया कल का सेठ ।

34. आज मरी सासू कल आवे आंसू ।

आज मुए कल दूसरा दिन ।

36. आज है तो कल नहीं ।

37. आठ बार नौ त्योहार ।

38. आत्मा में पड़े तो परमात्मा की सूझे ।

39. आदमी ठोकर खाकर ही सीखता है ।

40. आदमी बुलबुला है पानी का ।

41. आ पड़ोसिन लड़ें ।

42. आप बड़े बाप की बेटी हो लोग पसन्द कर ले ।

43. आम खावे या पेड़ गिने ।

44. आम चीखो आम खाओ, इमली चीखो इमली खाओ ।

45. आया है सो जायगा, राजा, रंक, फकीर ।

46. आठारे त्योहारे लच्छा न मरे ।

47. उत्तम से उत्तम मिले मिले नीच से नीच, पानी से पानी मिले मिले कीच से कीच।

48. ईश्वर जब चाहता है तो खाक भी सोना हो जाता है।

49. ऊँची दुकान फीके पकवान।

50. ऊँट तो कूदे पर बोरी पर कूदे।

51. ऊँट सा तन तो बड़ा किया पर हुनर जरा भी नहीं।

52. उजाड़ गाँव में गुरार महतो।

53. ऊसर खेत में बेकार।

54. एक आम की दो फाँकें।

55. एक कौड़ी माँगे कुत्ता पकड़ूँ कि मक्खी।

56. एक हाथ दूध कटोरा एक हाथ पूत।

57. एक चोट्टू सारे कुनबे के बस है।

58. एक पापी सारी नाव को डुबोता है।

59. एक म्यान में दो तलवार नहीं रखी जाती।

60. ओछे के संग बैठ के कुलों की पत जाय।

61. औरत का क्या एतबार ?

62. औरत की जात बेवफा होती है।

63. कमान से निकला तीर और मुँह से निकली बात फिर नहीं आती।

64. करम के बलिया, पकाई खीर, हो गया दलिया।

65. करम रेख ना मिटे करे कोई लाखों चतुराई।

66. करमहीन खेती करे बैल मरे या सूखा पड़े।

67. करमहीन सागर गए जहाँ रतन का ढेर, कर छूवत सीपा भए यही करम का फेर।

68. कलाल की दुकान पर पानी भी पियो तो शराब का गुमान होता है।

69. की बाड़ी की कनेर की गुराबन मुबरात, तुलसी पी तो बीच के परालब्ध से जात।

70. काजल की कोठरी में कैसहु सयानो जाय, एक लाक काजल की लागी है पै लागी है।

71. कानी गाय ब्राह्मण को दान ।

72. किस्मत का लिखा कोई नहीं मेट सकता ।

73. कुत्ता भौंके हजार अपनी बाटन जाय ।

74. कुत्ता भी दुम हिलाकर बैठता है ।

75. कुत्ते की दुम बारह वर्ष नल में रखी तो भी टेढ़ी की टेढ़ी ।

76. कुत्ते को हड्डी भली लगती है ।

77. कुम्हार का गधा जिन्होंके पुतह मिट्टी देखे उन्होंके पीछे पीछे ।

78. कुम्हार के घर कुल्हे का दुःख ।

79. कोल्हू का बैल ।

80. क्या खूब सौदा नकद है इस हाथ ले दे उस हाथ दे ले ।

81. खाइए मनभाता पहनिए जगभाता ।

82. खाल ओढ़ाने से और के लाने कुल सियार ।

83. खाल ओढ़ाए सिंह की स्यार सिंह न होय ।

84. खाली बनिया क्या करे इस कोठी का धान उस कोठी में धरे ।

85. खुदा की चोरी नहीं तो बन्दे का क्या डर ।

86. खुदा हाज़िर व नाज़िर है ।

87. खूँटे के बल बछड़ा कूदे ।

88. गंगा गए मुड़ाए सिद्ध, तीरथ गए मुड़ाए सिद्ध ।

89. गंगा नहाए मुक्त होय तो मेंढक मछरियाँ, मूड़ मुड़ाए सिद्ध होय तो भेड़ बकरियाँ ।

90. गधा पीटे घोड़ा नहीं बनता ।

91. गधा भी गया रस्सा भी गया ।

92. गरीब आदमी कंगाल बराबर ।

93. गरीब की बद्दुआ गरमी की धूप ।

94. गरीब तेरे तीन नाम झूठा पाजी बेईमान ।

95. गाँठ खुले न बहुरिया दुबराय ।

96. गाँव में घोबी का छैल ।

97. गाड़ी को देख लाड़ी के पाँव फूले ।

98. गाय को अपने सींग भारी नहीं होवे ।

99. घोड़ी में बैठके गाँव में ढूँढ़ते ।

100. घरन बेच दान गंगा को असनान ।

101. घड़ी भर की बेशर्मी दिन भर का आराम ।

102. चमकीलापन सब सोना नहीं ।

103. चमड़ी जाय पर दमड़ी न जाय ।

104. चमारों के कोसे ढोर नहीं मरते ।

105. चमार को अर्श पर भी बेगार ।

106. चमार चमड़े का यार ।

107. चलती हवा से लड़ती है ।

108. चलनी दूसे सूप को जिसमें बहत्तर छेद

109. चारि जोर जौहर तब देख सिंगार ।

110. चोरे चार पचारे पाँच ।

111. चूल्हे को न चक्की को ।

112. चूल्हे चक्की उसकी काम उसकी ।

113. चोर की माँ कोठी में सिर देकर रोती है ।

114. छठी का खाया पिया सब निकल गया ।

115. छठी के रख्या ।

116. छानी पर फूस नहीं ड्योढ़ी पर नाच ।

117. जब ईश्वर का हुक्म बादशाह का ।

118. जनम जनम के छूट गई ।

119. जनवास की जिद लो जिता लो ।

120. जबे जबे का मन राखो वैसा हो गई चीज ।

121. जहाँ गंज वहाँ रंज ।

122. जहाँ जाय भूखा वहाँ पड़े सूखा ।

123. जाओ नेपाल जाय साथ कपाल ।

124. जाको जौन स्वभाव जाय नहीं जू से, नीम न मीठा होय सींच गुड़ घी से ।

125. जाको राखे साइयाँ मारि न सके कोई ।

126. जाड़े की चाँदनी अकारथ जाय ।

127. जात का राखा जात ।

128. जात की बेटी जात हो के चलती है ।

129. जान सबको प्यारी है ।

130. जितना मेहर में आवेगा उतना पीहर में न आवे ।

131. जितना लाभ उतना लोभ ।

132. जितना लम्बा उतना खराब ।

133. जितनी चादर देखो उतना पैर पसारो ।

134. जितनी दौलत उतनी मुसीबत ।

135. जिन बालम घर ही नहीं तिन्हे देख भजराम ।

136. जिन घर का सार नहीं वो कैसे करे व्यवहार ?

137. जिसे न माने पितु गुरु करे आदर ।

138. जिस पत्तल में खाना उसी में छेद करना ।

139. जिसकी गांठ में पैसे उसके ही सब यार ।

140. जिसकी औरत भली उसके पूरख भी भली ।

141. जिसके हाथ कोई उसका सब कोई ।

142. जिसने की बेहयाई उसने खाई दूध मलाई ।

143. जिसने बोया वही काटेगा ।

144. झूठे हाथ से कुत्ता भी नहीं मारता ।

145. जैसा राजा वैसी प्रजा ।

146. जैसी करनी वैसी भरनी ।

147. जैसे नाता न राम के घर घर देत मजूर ।

148. जो अपने काम न आवे वो चूल्हे भाड़ में जावे ।

149. जो गुड़ खाय वह कान छिदाय ।

150. जो तिल भर से ज्यादा हुआ वो ज्यादा हुआ ।

151. जो प्याज काटेगा वो रोयेगा ।

152. जो बामन के बीज पर वो बामन की पोथी में ।

153. जो माँ से सिवा चाहे वो डायन ।

154. जो साधु की माने बात रहे आनन्द वह दिन रात ।

155. जोगी जिसके मीत और पातर जिसकी नार ।

156. जोरू खसम की लड़ाई दूध की मलाई ।

157. जोरू टटोले गठरी और माँ टटोले अंतड़ी ।

158. ज्यारसे गुजरी ज्यारह -ए- गुनाह ।

159. झूठ कहे सो लड्डू खाय साँच कहे सो मारा जाय ।

160. झूठ का मुँह काला सच्चे का बोलबाला ।

161. झूठ की नाव मँझधार डूबती है ।

162. झूठ बराबर पाप नहीं ।

163. झूठ बोलना और बाप खाना बराबर है ।

164. झूठे को नहीं कह सकते ।

165. डायन को भी दामाद प्यारा ।

166. तन उजला मन काला ।

167. तन को कर ले गुलगुली और मन के कर ले सार
फिर सब ना छीसाय के जो सुरत मिले करतार ।।

168. ताल से तलैया गहरी, बाँप से बंबोला गहरी ।

169. तिरिया तेरा मर्द अजारा ।

170. तिरिया बिन तो नर है रूड़ पहाड़ डीके जैसा ।

171. [illegible] सीरत पर सुहाग सिंदूर ।

172. दुल्हन कमाई वह नर पावे जो कलजुगा नाम कहावे ।

173. तू बोल मेरा सजना मैं घर बैठूं अपना ।

174. तू भी रानी मैं भी रानी कौन भरे कुएँ का पानी ।

175. तेरा है सो मेरा था, पराया कुत्ता दूध देखने दे ।

176. तोते पलक पलटन आज तू ओर से लगा रहु माई ।

177. थोड़े धन में खल इतराय ।

178. दर्जी की सुई कभी ताश में कभी टाट में ।

179. दलिद्दर के घर में मोंन पकवान ।

180. दाता के घर लछमी हाजी रहत हुजूर ।

181. दान में मिले बछिया के दाँत नहीं गिने जाते ।

182. दरियादिलोंसे मुहब्बतकियाजो ।

183. दिया लिया ही आड़े आता है ।

184. दिया है सो देव ले ।

185. दिये की रोशनी कबतक तेल ।

186. दीवार के भी कान होते है ।

187. दीवाली की कुलिया ।

188. दीवाली के दीप बाल घर के दीप ।

189. दीवाली की रात को कुटी कुटी पुकारती है ।

190. दुनिया में दो गरीब है एक बेटी, दूसरा बैल ।

191. दुलारी चिड़िया ईंट का लटकन ।

192. दूल्हा के बगल बारात ।

193. दूध पतारो कर मठे मध सबके बच जाती ।

194. देनेवाले से लिवानेवाले को ज्यादा जवाब है ।

195. दिया जाने कहँ बहुरिया तू काम कर ।

19

196. सौ छोड़ सावन प्यारा ।

197. धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का ।

198. धोबी का छैला एक उजला एक मैला ।

199. धोबी का धोबिन पर बस न चले तो गधैया का कान उमेठे ।

200. धोबी के घर ब्याह गधे का छुट्टी मेल ।

201. धोबी घर धोबी धोके में साबुन ।

202. धोबी बेटा चाँद सा सीटी और पटाक ।

203. धोबी रोवे धुलाई को मियाँ रोवे कपड़े को ।

204. नकटा के घर चोरी हुई तो लोग बोला नाक ही गए ।

205. न रहे माल न रहे मालो आखिर दुनिया फनाफानी ।

206. नाई की बारात में सब ही ठाकुर ।

207. नाई के आगे सब सिर झुकाते है ।

208. नाई, धाई, बैद, कसाई, इनका सूतक कभी न जाई ।

209 . नाई सबके पाँव धोवे अपने धोते लजावे ।

210. नाच न आवे आँगन टेढ़ा ।

211. नेकी कर और दरिया में डाल ।

212. पीतल कर तो क्या कर गले सवेरा धूल ।

213. धन पावन सौरभ मदन, जल पावन मधु दान, पुत्र पावन सब होत है सब से धीजमान ।

214. पड़े के आगे ठोकरा डाला, उसने क्या उसी को फेंका ।

215. घर गई सासु आयो आस आँसू ।

216. पहले अपने घर में दिया जलाकर फिर मन्दिर में जलाया जाता है ।

217. पहले आत्मा फिर परमात्मा ।

218. पहले पेट बाद में सब कुछ ।

219. पाप का घड़ा भरकर डूबता है ।

220. पाप छिपाये ना छिपे जस लहसुन की बास ।

221. दादो का माल बिरादर खाय रोड मरे या चोर ले जाय ।

222. रोठ रोटे बादशाह भी को पुरा करते है ।

223. पूरब जाओ या पछम वही करम के लच्छन ।

224. पैसा जिसकी गाँठ में उसके हो सब यार ।

225. बड़ा बहू बड़ा भाग्य , छोटी बनड़ो घनी सुहाग ।

226. बनिये को उधार और पैसे को रोड बराबर ।

227. बनिये का बेटा कुछ देख ही के गिरता है ।

228. बनज करेंगे बनिये और करेंगे रीस , बनज करा था जाट ने दो के रह गए बीस ।

229. बनिये से सयाना सो दीवाना ।

230. बरसात में कमाओ घर घर ।

231. बाप पूत पिता पर घोड़ा, बहुत नहीं थोड़ा ही थोड़ा ।

232. बामन कुकुर हाट जात के काट ।

233. बामन को बेटी कलजा पड़े ।

234. बामन कुत्ता हाथी , ई तीनों जात कुजियाती ।

235. बामन के बछुआ कद ते मान जात लतयाले ।

236. बामन की मैं ही पतवाय ।

237. बामन बचन परमान ।

238. बामन बेटा लोटे पोटे कुल ब्याह दोनों पीटे ।

239. बामन से दान माँगते हैं ।

240. बामन हुए तो क्या हुए भले लपेटा सूत ।

241. बामनों के लड़र बड़ा पहर ।

242. बारह बरस बेई मानों मरने को मगहर की माटी ।

243. बालहठ तिरियाहठ राजहठ ।

244. बिन देखे चीता मिले ढाढन मरोप बेपाड़ ।

245. बेच बेच बेटी पकनी का ब्याह ।

246. बेटा जब बाप समान [illegible] अपना का विश्वास ।

247. बेटी भली न एक ।

248. ब्याह नहीं किया बारात तो गये है ।

249. भगवान जब देते है तो छप्पर फाड़कर देते है ।

250. [illegible] जब तब बाँध ।

251. भादो में मरना अगले जन्म में [illegible] बनना ।

252. मन चंगा तो कठौती में गंगा ।

253. मरते के साथ मरा नहीं जाता ।

254. मनुष्यता ही धर्म का मूल है ।

255. मरे न मांचा ले ।

256. माँ न बाप [illegible] ।

257. माँ चाहे बेटी को और बेटा चाहे मोटे सोन को ।

258. माँ रोवे [illegible] के साथ से बाप रोवे भोर के साथ से ।

259. मामे तो देव नहीं तो चमार ।

260. मुँह में राम राम बगल में छुरी ।

261 . यथार्थवादी जनविरोधी ।

262. यह दुनिया दिन चार है संग न तेरे जाय ।

263. राई का दाना ढूँढते है कोल्हू पूरा [illegible] नहीं ।

264. राजपूत जाट कूकर के पूछे हो टूट जाय सीधे नहीं कभी ।

265. राजा करे सो न्याय , पासा पड़े सो दाँव ।

266. राजा [illegible] ।

267. राजा राम परजा भेड़ ।

268. राम राम जपना पराया माल अपना ।

269. रोटी कहो दाल कहो भात बराबर नाहीं , गीता कहो कुरान कहो राम बराबर नाहीं

270. रोनेवाली स्त्री और हँसनेवाले पुरुष का विश्वास न करे ।

271. सच्चा रहे पर औगिन के पैरों की मौत ।

272. सिपाहि घड़ी सब मांगे पेट ।

273. सतवंती का नाम चढ़ छिनाली के नाम चढ़ ।

274. सही पुत्र कुलवंत बेपीर बेल बखसीस । सूर कठोर किए धन हाथ तबै जय जीत ।

275. सब की बन होती है मुझ कुछ की नहीं ।

276. सपूत पुत्र के द्वार को रखे बिना दो द्वार ।

277. सांप को दूध पिलाकर वह विष ही उगलेगा ।

278. सांई का खुदा आसरा बड़ का है हो गेह लगा ।

279. साल का ओढ़ना बहू का बिछौना ।

280. सास मरी सोच बहू कहे मैं क्या क्या खाऊँ ।

281. सास न ननदी आप ही आनंदी ।

282. सुनार अपनी माँ के नथ में से भी चुराता है ।

283. सुनार की खटाई और न दर्जी के बीच ।

284. सोना सुनार का आभूषण संसार का ।

285. हजार बला एक दुआ ।

286. हर को भजे सो हर का होय, जात पांत पूछे नहिं कोय ।

287. हाकिम की अगाड़ी और घोड़े की पिछाड़ी कभी न रह ।

288. हाथ का दिया साथ चलेगा ।

289. हानि लाभ जीवन मरण जस अपजस विधि हाथ ।

290. हाथि के छीनके पास होय ना भिलिये ।

291. हार जीत किस्मत के हाथ ।

292. हुआ कच्चा कम्बल है ।

293. होंठ हिले ना चिमिया होली, फिर भी साथ कहे बड़बोली ।

294. होनहार मिटती नहीं होवे जिसे पोस ।

295. होनहार हिरदे बसै बिसर जाय सब सुद्ध ।

परिशिष्ट - 3

शोध प्रबन्ध में प्रयुक्त बोली कहावतों की सूची

1. अड्डन सेकुण्यारि [ल्यारा] का लगन ।
2. अन्धो सेकुण्यारि चौंच बायना ।
3. अकीले मायांगु कुकीत राति लिन्नुमा ।
4. अम्बूतीत धाषि अन्नय अद्दाक ।
5. अद्रीक सेल्द्रिक माषि मैशि कुन्मैक पुतूषि मायली ।
6. अौतरेक अन्यारि अनुलिय चोप ।
7. अमरयौक रेयाति रहा ।
8. अन्यत्र दिन्धव मा मो कुचे किल्मेन अौर मा , मार्यक मौर्यक मार्नु अपूर लमाति मा ।
9. अनाम मेन्यारि अन्नाक मेंगु ।
10. अनाम मोटो कुलेट्याक मन्मा थेटो ।
11. अनाम मोर्नु स्मार्नु रेन्नुम ।
12. अवयाले कार्य मठाम्मर्य , फेमक्याले कन्नु पी ।
13. अवयालो इानु अवयालै उत्याक ।
14. अवयाले पन्मा पौतमूलें कुन्याले सेनु कुलेट्याले पन्मा कुलीमूले नलयन सेव्रीरमा ।
15. अन्म फैठ कुच फैठ ररा मेन्नुर मेन मखि ?
16. अन्मा लखो क्यारिय सोन्याउ करतोतो ।
17. अन्याक रोठीम चोरोनु रिकेला मच्च ।
18. अप्रूि कुच , कन्रूि अन्मा , परटि मधि ।
19. अप्रूो लिकमीत कन्रूो रानु ।
20. अप्रूि रीचडिक परचो लिन्मडि ।
21. अर्थ मरतोती मेन्नूो छ्नूो चल ।
22. अन्ताक रेरवर्य अप्रूयाडि कनोल्याडु वली परताडि ।

G 3471

23. अलाक बाग्य अकूलारि मखराति बसी बरखाधि ।

24. अमूक रम थेर्दु बड कोनु बला थे ?

25. अमुचे मम्म पुरूखोर्बस मन्न ।

26. अमूक बोखूबो थेडकि बोम मा ।

27. अमुचे माने बमान मक्स मा ।

28. अवस्थारि अदीय मा कथारि रूपारि ।

29. अस कमोडि बच्चा डौ , मा कमोडि मिबा डौ ।

30. औसलखाक आखा चौड , औसलखाक आखा मा ।

31. औसलखाक मिलोक डोगा अम्म , बेलोखाक मिन्दराम ।

32. अनूलाक रीतु बरना , कट बहूलखाक रहि बामि बावना ।

33. अनूलाक मिरचन्द बलि अनूखारि ररबेरि मोड मनना ।

34. आक उड्डय मोनु धाक उड्खारि मोखस रागेरि यड्को

35. आचादु कलानलाक मिचादु उमे ।

36. आधि औसलो खंडि मा ।

37. आधि कोर्ये कान कमूक मोनु डोम्बोरमना ।

38. आधि सिमितोक खंधि मा ।

39. आधि केसारी खंधि डोमि ।

40. आधि रहूओलो खंधि टखबीलो ।

41. आलानु पोम्बेनु बर्ई धीर ।।

42 आहूय पोडोख कमोरि मिलोख ।

43. आनु आहूमेनु अम्म बचालेमि ।

44. आनम्लाक रायेबो बडु मिमु ।

45. आनु बेलो मोनु मेधि रहूला बीरबो आनुबाक रहूला ।

४0x अनूपोके ईमाललि अनूपोके आनु x

46. आम्नु मीयतो वेर्दु पोट्टारे ।

47. आम्नु पकेनूता पोट , बाता पकेनूता मोट ।

48. ईमोटो सकेनूत्वारि रावेनु ई कत्ता ।

49. उम्मि केन्त्वारि रक्षवाल ।

50. उदे हल्ला व्यकूवाल बल्लुना ।

51. एक केमाल कायुतु उहक मरत्वातीर्थ वे केनु अकृत्वातीकोर्वारि रपुना ।

52. एक केन्वारि तोमि केनु ।

53. एक हल्लावे कोट्ट ।

54. केवाल वात्तु मोनुताड़ु वाहु ।

55. कन्ना रात्ति वाति पोट्टा वाति कहेवेते लर्को कहुतना ।

56. कत्तानु मीतल्वाल केडुनु कत्वारि केडुनु वत्ता ।

57. कत्ताको पोरो केले वरत्वारि रचतोतो ?

58. कमूके मोतारेर केवोतो मोनु मुद्दु वालना ।

59. कमूरूवाल कमेति पिर्नी चन्द ।

60. कमूकरवालकाकना कोन्द मीर कमूके केवाल हिलोतो ?

61. कर्णकेत तूप ।

62. कन्द कमूवारि वेकाली उद्मानु रक्ता ।

63. कमूरि केहुनु वज्ज्वारीति पोर्मोड़ु केवता वे ?

64. कारातो कहानु कोक्कापारीय केसुपि ।

65. कारूवा वे गुरूपानु कपारीय केसुपि ।

66. काटो मेन्वारि कास्ता रन्तु येको ।

67. कुल्ल केलेतवा मन्दारि वाल ।

68. कुन्दो काम्नु उन्दो कर्पेल ।

69. कुन्वार कुन्वारीपि कोल्ल , महूवावे कत्तल ।

70. कुरुरूपानु कन्दो रामु ।

71. कुर्रूवे हत्तांनु मालोक ।

72. कुयालोक कुयाले वड़ वे ?

73. कुयाली मवालोक पिरवातिल वोंच ।

74. केलोते कर्र वाटि केत्ता ।

75. केलोते कर्र दूयाधि कन्दांनु वायुन ।

76. केव औसतयाल केंच काडीय कनुवान ।

77. कोडु दूरीत मीनु दुड़केकूनवीर कोडु वत्त वे ?

78. कोडु हक्त मानु , कनोपु केनकूनाल मानु ।

79. कन्दीर केतुनु वानु कम्मन ।

80. कन्नूवीर केतुनु वोरो कालत ।

81. वालत वेवल अवरपादीर वोल्कूर कूच ।

82. वाल अधूरनांनु मवाते वोड ।

83. केलोते वन्दीर हन्त ।

84. केलोत्याल कूक वोड , मतोत्याल पिल्लोनु वड़ ।

85. वोरे अवना पिरकाल तल्ला ।

86. मडवाल वीवत्यादीर वेलो वायना ।

87. मन्नाति कोटूक वोलनुन मंगड केली ।

88. मदुवाते मामोनु नामवाचीय ।

89. मानूक मतीत मोनु ववाल मत्ते वे ?

90. मानूक मतत्यारोधि दूच पिल्ला , वोर्रांक दूच पिल्यारोधि वोच पिल्ला ।

91. मानूवे वाय वल्लोतो वानु ।

92. मिरत्याल केन वाली कन्दीर ओलन्याल वाली , मरीपत्त वाली कन्दीर माव कुलेल वाली ।

93. मुयांजुलो दुड़्डु वीवान पोड़्डुनु मड़्ता ।

94. मेलोतो केनु हत्तोन पोड़्डोत्यारोधि पोर्डुनु ह्वांकोना ।

95. मेलोते मेली , मेड़ोते मेड़ो ।

96. मोड वाचित्ते कडे कुयि मोनु वीचत्ते कडे कुनु ।

९७. मोह्हाके अपूरनांगु डागु कयाहिर रवे पुंगि तेमनिकासी रमुना ।

९८. मोह्हाके मुक्सेक चाटि पोट मा ।

९९. मोह्हाके मुक्सेन मडो कवाडा ।

१००. मोम रावेर केकवाहिर कपूमे मुडुडु कायना ।

१०१. पर वेपूमलिती मांगु वेपूता ।

१०२. परांगु ना पेम्मेक पाट मायर वडान विडिपेक पुर ।

१०३. पता कडे वोल अवा कयाहिर पेतीते कोवेप वस्त ।

१०४. पल्लाक पोल्लाती पड्डो ।

१०५. पेह्या मडो रमुनवि अपि रवा मुनाहिर रमुनवि ।

१०६. पेवा पलेके रवे महूवी पट्टाते पिटे ।

१०७. बवाराते पेताक कम्ने पुल्ला ।

१०८ पेडियेक मंजुक कमूना कयाहिर मह्कान पंडुँ ।

१०९. पेड मन्वाहिर कयाहिर पतिमाडवि ।

११०. पेलि जीता मोनु रोमनक मकेतुँ पट्टडु विल्लीत वी मुक्ल ,
पेलो कलो मोनु डमुनक ललूनु मन्नुनु वाजोलो मी मुक्ल ।

१११. पोयिते पोडाक मीला पानमक ।

११२. पोरडि अक्वीय हर्यांगु रडता ।

११३. पोलपे पुनु पोल ।

११४. मनु मलोलो पेगु मन वायेकुल पे ?

११५. मलेरवाके मयागु केया पमेर ममना ।

११६. मन्मारेक वोमल मा ।

११७. मावीय अकूता रडि मावीय लोम्बांगु मीला ।

११८. विवाली मन मागु मेलीते पमेर ममना ।

११९. विमेक लम्बा मा मयाहिर लोम्बाक माया वाय ।

१२०. वीनु ममटीवीय कोनु ।

121. वेकन कालाक मक अवेवाय , कालाक पुसेर्‌याल अवेवाय ।

122. वेकिले वन्नारि डमुक मन्न ।

123. पुकसले तोम्दांगु पुलि मक्‌्यारि कडाताले बलन ।

124. लमाले वोल्वे कोवांगु लमाले वोह्‌वे ।

125. वोन्द अवाल्यारि वाडीगु वोजुवाल ।

126. तो मक्‌्यांगु रेवो मनम लननता ।

127. वोल्दिगु परो पोह्‌टांगु वोता वोके ।

128. वोल्दांगु पुट्टु वड्‌ले उवार वाजुक वाजुना ।

129. वड्‌कोवांवि लन्द; मंनार मीर्ये ।

130. वारिड मेलोले वके मंजन्ना वोरि ।

131. वारिड पुन्दो वाता पोह्‌टाल रामु पुन्दो वाता वोल्वाल ।

132. राम वेड्‌ले मावुक वांत वोवन अवन वे ?

133. रामाल ओवाले मावुरे वांत वकेवूले मन्ने ।

134. रामावे उंवारि वेलि उनवना ।

135. रामु ओवाले वके रामु कोल्ना ।

136. रामु ओवाल्वाल कट वड ।

137. रामु ओवाल्वाल वेना वोर्पुन ?

138. रामु ओवाल्वाल मामु ।

139. रामु ओवाल्वाल वोपुरि वड ।

140. विल्वांगु वाता मोनु वोवानुवाल मक्‌्वांगु मेल्वारि वोर्दुंगु वोवोलो ।

141. वोल्वांगु वारि वोह्‌टाल वार्रि मन्तुरेल वाटि ।

142. पुट्टु मोनु वोनु वोलनल ।

143. वेड्‌ड विल्ला वाल्प ।

144. वेवान वाडेवूवारि अल्वाल वोनोंगु वाजुवाल ।

145. वेवान विलीले वार्तुंन ।

146. रेकाल सोब्बेले मारोक मीमयाल चोग कोर्क मेल्ला वायुना ।

147. रेयु मन्त्र कम्यारि मैन व्हाँय ?

148. रेयु किलाना चालीय पट्टेम किला ।

149. रेयु ना रेवलांयु पुव्वारि काका पूंटि ।

150. रोनि मोयुवारि वायु रोम्मोटु र्स मुष्य ।

151. वन ना कम्यारि रोम मन्ना ।

152. वचे अलिली पुरा पुर मांयि , मोरे अलिली पुरा कोर कमोर क मांयि ।

153. वचे नाराले कालेक रायुके पल्लाडे वलाले वे ॥

154. वचे नाराले मितारि मेंदु ।

155. वचे किन्नुक ल्युँकि काम पुर मांयि । ।

156. वा वान ल्लवे सोव वड्राले । रोनि वाल्ली मिलि आयना ।

157. वा वान पुल्लालि अम्मा वाट्वारि , वाय वान कुम्मालि अम्मा कालारि ।

158. पुले वायु वार्यकाल उयलाक ।

159. वोल्लोरि केल्लोलो मोयु कोयि उड्डुक मन्न ।

160. नवे कवाड छाट्टे कुछे पर्रे कवाड रम्मोतु चले ।

161. नोक वारि मलि वड ।

162. मोक वाड कोड मलि वल्यारि मोक मेहगु वलाले ।

163. मिन्ना कोर्रे अल्लापुल्याले क्राम ।

164. मिन्ना दूदु वमुहान खिचिल्यारोरेय मोयु आयना ।

165. मिरे किल्लालालयाल कुर्रा किंकिले ।

166. मेवाल रव्वा निडल्यारि किल्लोलु अल्ल अल्यारि तो बे कब्सुलेवो लोवो ।

167. मेलुक ना कम्यारि वट्टूका कवाड ।

168. पैसाक्याल वायु वर्रे मुल्लाल आर्वेहुर. ।

169. वतिकुता वाल्ल वम वोवो वो ।

170. वरवेरि वोक किल्यारि ठोक ।

171. चमराजेय काम अक्ष ।

172. चोरियाम मेलोते को पाताक ।

173. चम्याडोंगुते चोलाजेय पुलमाते उतराजेय चजेपुंज मन्म ।

174. चारोम मेलेते को चक्रि पुरि उड्राक ।

175. पेट्टु चड्केजोर पुट्टि च ला ।

176. पोर्वेजा रजा मोनु उड्डोतो , उचचारे तोमि पेट पितो ।

177. पोर्वेयाक मेतोतो पुड्तोतो ।

178. पेट मोंगि माड्नाक चर्वा चजोरु रजा ।

179. पोट्टाक ना मोनु चलेक मानु पिकम ना ।

180. पोट्टाक ना मोनु पुंगट चम्पुनु चाडूंक मम्म ।

181. चोटेक मेतारि कर्टे लानु ।

182. च्याउ अतना कोटोनु पोल्मोत्याल मोड कप्पारि कोटोनु पोल्मोतुक कापना ।

183. कुर्मेय कुर्मेय मजा कुर्मेय टांच कुमेतो कोड्के काचेय ।

184. कुला पोत्ताम का क रव्वा चचोक मारतो ।

185. कुतोतो कुलाक पोर्वोंडु रजेकाते रम्मा पे ?

186. फेचारे कामक पिकमतितापाक बोनुरि कामक कोड ।

187. चम कमे कप्पारि अम्म पितेक ।

188. चमाक चम मोड्कोना कप्पारि मेड्वाक चम मोम्तोतो ।

189. चमरेय मोम अम्म ती म चम मजम ।

190. चमनाक मक जोतेत पात्त तोलनेय मजम ।

191. चमनारेय तर्कम चले मनाक चमारेय अम्म कोड ना ।

चमनाते हर्पारि चड्रयारोय पुलाते चमोरि चट्टुक मम्म ।

193. चट्चट्रे चमनाक मेट्चट्रेय पात्त ।

194. चट्चा उम्ब मेट्म्रेय ।

195. पेट्टो मेलतो चम्मारि मेहुंचरेय मोम्के कोचता ।

196.

196. केसुडु मदि राय मोट केतूक ।

197. पोड तसिकयारि सन्वाद जता वे गनि मोन्दोडु पुसिकयारि पोडा जता वे ?

198. वाल कन्नूक कनु कोरि वांपुराक कनु ।

199. नावडूवान मीतो मितरि कावे ।

200. मयारि पेनु तोम्मीयु इन्नता ।

201. मनुषाली वीचिल उरचोलो कुमुट ।

202. मरतना पुड्डु कातर अन्त वे ?

203. मेलोंतो मोनु मन्नाडु कवार अन्त वे ?

204. कन्नडूवाले उजार इवाल केलन ।

205. कद्दे मन्नाक अवोर्न कायारि मावि तोलनाक पुटो निड्डे ।

206. मरिय केसुडु केवता कायारि पुन पेनु केवता ।

207. मानुडु अंदिली राय वाडुडु परिहार ।

208. मिट्टा पोड़ पुपि ना , अम्मा पोसिल कन्न ना ।

209. मोट केलोसादि मेल्ल ।

210. मोट केलोतो उड्राक पिवातो ।

211. मेलोले अम्मा पिच्छ चाडव ।

212. मेलोले वराक्के केब उड्राक पिर्तुराक मन्न ।

213 मेलोलो मोडे उड्डावत वे ?

214. मेकुता कडी वाता पोड ।

215. मेकुली कादुडु पिव्वी दोम्बोलन ।

216. पो इवाल दोर्तुल ते इवाल पेर्तुल ।

217. राज्या पेनु राजु ।

218. राजेवकीनु मेले सकीन सकीरवार दोना ।

219. राजेवकीनु पोलुडु पोड कारव ।

220. राणा गुं सवीत कन्नव ।

221. रिलो कोड्क्यारि कोड्के दोलु ।

222. रोम पेवान पुका , विलान गोंं रड ।

222. रोम हेलन बुब , दिलम रड ।

223. सेम टड्लम मोड , पावेसेम बोचा पाड ।

224. लबेक मेत्यारि देम्बेक बुटु ।

225. बड़ो बुड्डु उरबांतु बला ।

226. कोराम बजम कोरेयाक चिल्वोर्नु मेलेत ।

227. बरे देवले चिलादिच ऊब्व बनूक बाबुना ।

228. बोधि उड्डुनु बनूक रला ।

229. कोकि बस्यारि हलातु अबो ।

230. कोम्बड़ू बलादि मोनु बोट बेत्यारि लो बब्याक बू बुडुनु रला ।

231. कोम्बड़ि बाबल पतिरलादि ।

232. कोम्बड़े अब राम , टांगु बनूक ना दाम ।

233. कोलमा मोरो , कोरेनु मोरो , बट्टाल चीड बट्टानु पोडो ।

234. कोलमा बलोमा बस्यारि कोकि बसेल अब ।

235. कंबारक मेत्यारि सोचे , दरवातु मेत्यारि बोम ।

236. बन बेलेते बादून बादीन बोड मकचारि बेने बेलेते ?

237. बन सोयांतु बर्डि बोड तं बनोलोर्य ।

238. बम्डोवदि पोड़बा बड्डोते बस्यारि देवडेबनादिच बड़लोक बोट्टे ।

239. बबे बरेड़ते बेम बाडोल ।

240. बब्याक बोम बर्य ।

241. बोरबेरि रबारब्यारोच [illegible]बोरबा ।

242. बलोक बूद पोकेब्यारोच बोय बोलोबा ।

243. बरावेवे बाम रमबे भारत ।

244. बर्बि बर्बि बडव ।

245. बोल बेलेबादि भेला ।

246. बुनट बेलेब्यावे बस्यारि बोल ।

247. बुब्बो टुबाक पोटु बबुना ।

248. कुय्या पोट्टदीतु कुच रव्वना ।

249. कुय्या पाल गोल्लियातु पली मोनु मोट नायल पे ॥

250. कुय्या मली पाल ।

251. कुय्याक तेकल मन्नुनु पेन्डवाल हांजि मुनु

252. पेयली मेंटपातु कुय्याली पेन ।

253. मलापे पुट्टि ना पुलोर्याल अमूलीव ना ।

254. डोंल पोर वाल वड्डल्या अल पेजा पुली पुट्टि वड्डल्या पोर ।

255. डोंसा लम्नुनु मला , गुंगुरापे लेक मरता ।

256. चिट्टु सेलु रमु मलोलो डोंस वाड्यादिर वड्डीत ।

परिशिष्ट - 4

हिन्दी तथा कोंकणी के कुछ समान कहावतें

हिन्दी कहावत	[illegible] कहावत
1. अंगूर खट्टे है ।	[illegible] ररहिस अंगुरि ।
2. अंधा सिपाही कानी घोड़ी विधना ने आप मिलाई जोड़ी ।	[illegible] निक्किस [illegible] ।
3. अंधे के हाथ में बटेर ।	कुड़ूखा हथेंतु [illegible] ।
4. अंधे की लाठी ।	कुड़ूखाहि लिंठ ।
5. अंधे के हाथ बटेर ।	कुड़ूखा हथेंतु [illegible] ।
6. अंधे के हिसाब दिन रात बराबर ।	कुड़ूखास रहिन [illegible] ?
7. अंधे को अंधा कहने से बुरा लगता है ।	[illegible] ।
8. अंधे की कुत्ता [illegible] ।	कुड़ूखास [illegible] राजा ।
9. अंधों में काना राजा ।	कुड़ूखानु [illegible] राजु ।
10. अपने दुखे का अल्लाह बेली	[illegible] रेगु [illegible] ।
11. अक्लमंद को एक इशारा काफी है ।	[illegible] रायोनु [illegible] ।
12. अवसर [illegible] कर आई चुकतो , फिर न भई पछताई ।	[illegible] ।
13. अढ़ाई दिन की सक्के ने भी बादशाहत कर ली ।	[illegible] ।
14. अपना नगरी [illegible] राज ।	[illegible] ।
15. अपना अपना दुखड़ा सब रोते है ।	[illegible] रहचा , [illegible] ना [illegible] रहचा [illegible] रहचा ।

16. अपना मु सोमन बराबर ।	कलमोते मुक्काक खोम ना ।
17. अपना टेटर देखे नहीं दूसरे की फुली निहारे ।	अपनाते पच्चा पोलालुगे मुक्काके बेनु दुसेरनाते पच्चा फुलीनुले सवन बोल्दोला ।
18. अपना सोना अपना परोसा ।	अपनाओ छालु अपनाते उरखन ।
19. अपना सोना उबकर सोय ।	अपनाते बर्ग मठानर्ग, केनबुनाते कन्तु पो ।
20. अपना मरे जे काम आवे ।	आप मनकान पायोके बदु चिनु ।
21. अपना ही पैसा खोटा तो परखनेवाले का क्या दोष ?	अपनायिनो दुद्दु दुवो कम्बारि अंबोकनारन उसीला मन्न ।
22. अपनी करनी पार उतरनी ।	कीट केलोतो उद्रवाक मिलोतो ।
23. अपनी नाक कटे दूसरे का सगुन बिगड़े ।	अपन मोर्नु बलेक रोड करना ।
24. अपने घर के सब बादशाह है ।	कलमोले परा कडे बेलो रानु ।
25. अपने दिल जैसा तो पराया आसरा क्या ?	रानु ओलकनकान बेनाक बोर्जुन ?
26. अपने बड़ों को बट्टा कौन कहे ?	नपुनवाक कमीते मिर्ग बन ।
27. अपने मरे बगैर स्वर्ग नहीं सोहता ।	अपन मोर्नु स्वर्नु देकुन ।
28. अपने गुरु कम नहीं ।	अपन केमहरि अपनाक मोनु ।
29. अपने ही घरे की ओले को है ।	नपुनवाक पायना बोम्ब मरि कम्बूले बेनाक विनोतो ?
30. आत्म रोशन करना ।	अरन्बानु मोनुनु बेच मरनावरि ।

31. अल्लाह दे तो कौन रोके तो घड़ भी कबूल है ।	रेकान [illegible] ।
32. अल्लाह यार है तो बेड़ा पार है ।	रेगु [illegible] ।
33. अक्कल का पूरा आदमी और हाथ का पूरा पत्थर फिर नहीं दीखता ।	[illegible] रघुना ।
34. अशर्फियाँ लूटे और कोयलों पर मुहर ।	[illegible] , [illegible] ।
35. अन्धी को आपकी चौराही का दर्द ।	रगु [illegible] पा रेगु ।
36. आँख की पुतली आँख के सामने ।	घुमट [illegible] ।
37. आ गई ईद बारात न आई तो जुमे रात ।	[illegible] ।
38. आ पड़ोसिन लड़ें ।	[illegible] उड्डु [illegible] ।
39. आकाश पाताल एक करना ।	आकाश पाताल एक [illegible] ।
40. आकाश पर पाताल पर चीर पर की टट्टो फूले ।	पर [illegible] ।
41. आखिर मरोगे , दुनिया छोड़ तोड़कर क्या करोगे ?	[illegible] ?
42. आग पानी का बैर ।	[illegible] ।
43. आग लगे पर कुआँ खोदना ।	[illegible] ।
	[illegible] ।
44. आग लेने आए थे क्या आए क्या चले ?	[illegible] ।
45. आग का बीमा क्या का देह ।	[illegible] राजु ।
46.	

46. आप मरो जगु का आवे आंधु ।	बद्धीक तोर्द्कि मंदि बेल्ल कुम्बेक पुद्दि बायकां ।
47. आप मुए क्या दूसरा दिन ।	कंदि केच्चारि मंदि रोहि ।
48. आप से क्या हू ।	कंदि मक्का मंदि कुक्क ।
49. आप है तो जग नहीं	कंदि हिल्लखो मंदि मा ।
50. आपद में पड़े तो परमात्मा को पूजे ।	कोलब्बक बाळा बीह भगवानन बाळा मा ।
51. आदमी ठोकर खाकर ही सीखता है ।	पेद्दु धड़के कोरि पुद्दि रक्का ।
52. आप बड़े घर की बेटी हो तो रंग कर ले ।	कोड्कि आयारि दनातु बक्को ।
53. आपकी टिकी यहाँ नहीं लगने की ।	बनीके बायांनु कुम्बीस राकि सिखुन्ना ।
54. आप आवे या भेद मिले ।	बने बायुंक कि केनु बेनुक ?
55. आप बोओ आप काटो , दूसरा बोओ दूसरा काटो ।	बंधो कोडुम्मारि पोय बावना ।
56. आय , तेरो कुदरत	रेयाको कोहु ।
57. आसमान का थूका मुँह पर आता है ।	उड़ुतरिरोनु पु केयारि दर्शारि ।
58. इस कान सुनी उस कान निकाल दो	के कमाल मलूहु मे कमाल सोळ्के ।
59. ईश्वर जब चाहता है तो खाक भी सोना बन जाता है ।	रेयाल बाढेबुम्मारि बम्माल रोतोनु बाबुमाल ।
60. ईश्वर जब देते है तो छप्पर फाड़कर देते हैं ।	रेनु दिवालन बाटोद बद्देम दिका ।

61. उड़ते को पकड़ना और जमा में रखे को छोड़ना भी नहीं ।	कड़्खोलो चहूदूल अन्नीहुों रोहूलीय मन्न ।
62. उसकी गिरह का क्या जाता है ?	कनेके मंटोखे रोंगा चखा ।
63. उसकी तूती बोल रही है ।	बँनेसो बानु ।
64. ऊँची दुकान फीका पकवान	खोड़्खे अस्स राम , छोनु बन्नूस ना राम ।
65. ऊँट तो कूदे पर बोरे पर कूदे ।	सान उड़्डम मोनु पाक ह उड़्डत्यारि गोचरा राछीर पड़्लके
66. ऊँट बुड्ढा हुआ , पर मूतना न आया ।	सोम्बु हाल अचत्वारीय सिखूल बलेमा ।
67. उजड़ गाँव में गुरार महतो ।	चेकाचे अम्मन सिरकमीनत्याक वोनुखि अम्मन खोड़ ।
68. उजार देश में रेंड़ार	उम्मीन चेन्ड़्यारि उड़्डत्ता ।
69. एक अनार सौ बीमार ।	चार सौंह चोंम्म पक ।
70. एक जान सौ आफ़त ।	दुप अनि उड़्डता । रनु प्रानु अनि सोंन रेह
71. एक तो था ही बावला फिर पर आई बहार ।	सिखासे बकुमालके ।
72. एक मुँह दो बात ।	सिमेखे सोम्बीय सिप्पान बार ।
73. एक लकड़ी से सब न हाँका जाय ।	मड़्खास अनि मींडेस्स बड़्डु रनु चलि करम ।
74. एक ही दुकान दु'ख में ।	सिम्बीस खोल्लि पड़ंजन छर्ये खोल्लि हवासा ।
75. एक ही लकड़ी से सबको हाँकना	रास कन्सीय मेलकुर । रनु बड़्डु पालम ।
76. ओखली में सिर दिया तो मूसलों का क्या डर ?	कन्सा पड़्खारि मसाला पेड़्डु ।
77. कटे पर नोन मिर्च लगाना ।	सम्सा उँखारि मीट ।
78. कभी के दिन बड़े कभी की रात ।	रनु बानु मीचके जानारि रनु बानु सुनेके ।
79.	

79. कमान से निकला तीर और मुँह से निकली बात फिर नहीं आती ।	बोम्मीनु कुकनु पड्डोसें उलार कामूक अयुना ।
80. कमाये धोतीवाला उड़ाये टोपीवाला ।	बाल चल्क चनु खीरि बाईयाक कनु ।
81. क्या खूब सौदा नकद है इस हाथ दे दे और उस हाथ ले ले ।	दे इस्साम दीर्डुम , दे इस्साम सेनुम ।
82. करम रेख ना मिटे करे कोई लाखों चतुराई ।	काटुपि बीसाली यजाले ललाटानुले कुकुम्मा ।
83. करमहीन बानर मन पड़ी रतन का ढेर ।	
कर छुवत पाथर भए पड़ी करम का फेर ।।	करतीनु बीलाधाल बोहूनु कल्बारि बोहनु पक्का ।
84. करे कल्लु मरे लल्लु	बाल चल्क चनु खीरि बाईराक कनु ।
85. काजल की कोठरी में कैसहु सयानो जाय	
एक लीक काजल की लागी है पै लागी है ।।	बोहूडा बधूरमीनु डाड़ु कल्बारि एरे पुनि लेखातालो रमुन्ना ।
86. किस्मत के लिखे का कोई नहीं मेट सकता ।	कम्ला चोलो बोने वरल्यारि रयलोलो ।
87. कुत्ते की दुम बारह बरस नलवे में रखो तो भी टेढ़ी की टेढ़ी ।	कुल्यारि बाल बोरिम्पानु लती म्लोनु मोट मायत पे ?
89. कुत्ते को घी नहीं पचता ।	कुल्यी पोद्‌टोनु दूध रच्चना ।
90. कुत्ते की हड्डी नहीं लगती है ।	कुल्याल मोचल रही ।
91. कोई भी माँ के पेट से तो लेकर नहीं निकला है ।	अम्मा पोद्‌टोनु कुकनु वेचुनु अयलोना ।
92. कोई मरे कोई जीये सथुरा घोल बताशा पीये ।	मोन्ना मेरो ओरेनु मेरो , सद्‌टोल चीड सद्‌टोनु पोलो ।
93. कोल्हू का बैल ।	सान्ता बीन्साली पहुली ।

94. [illegible] ।	[illegible] ।
95. [illegible] ।	[illegible] । [illegible] ।
96.	
96. [illegible] ।	[illegible] ।
97. [illegible] ।	[illegible] ।
98. [illegible] ।	[illegible] ।
99. [illegible] ।	[illegible] ।
100. [illegible] ।	[illegible] ।
101. [illegible], [illegible] ।	[illegible] ।
102. [illegible] ।	[illegible] ।
103. [illegible] ।	[illegible] ?
104. [illegible] ।	[illegible] ।
105. [illegible] ।	[illegible] ।
106. [illegible] । [illegible]	[illegible] ।
107. [illegible] ।	[illegible] ।
108. [illegible] ।	[illegible] ।
109. [illegible], [illegible] ।	[illegible] ।
110. [illegible] ।	[illegible] ।

111. घर भेद बहुत बखरबंध ।	बरबहूरे मखाक बेरबहूरि बाला ।
112. जलप्रलय में पानी राखे का क्या काम ?	बेमार कुकुरे को मसाल डाँक काला ?
113. जाने हुये कुए को पियें पड़कार छेद ।	अम्मन मोटो पुसेरूपाक ममाल पोटो ।
114. छोरा सबीर सब पुरान जाने ।	लक्कन मा बाट लगाकि खेट बीच ।
115. कबूतर कबुल जिनकुराक बोकु । (कोरकू)	चिड़िया की चोंच गँवार की हँसी (हिन्दी)
116. चितरकी औरा	रिको कुल्हीनु बजरु ।
117. पियार में चली और में पट्टी ।	सोम्मानु चाँद मनु पोट्टाक मारि मनुरोक खोट ।
118. चोर के घर में चोर की चोरी ।	मजाते मार्यु मामरपीम ।
119. चोर की दाढ़ी में तिनका ।	कुम्ब डेसीया मजाीर राक ।
120. चोर की माँ कोठी में सिर देकर रोती है ।	बेलाीय अम्बीय दर्यांनु रहूला ।
121. चोरी में का मुड़ मोड़ा ।	कोर्सिमाक रीच चीट ।
122. जाने घर कुछ नहीं दुयोरी घर बाघ ।	दरीनु मा देन्बेक बाट मावर बखान पिरिकेच कुर ।
123. दुरी पर नजदु नजदु पर दुरी ।	बेक बोजनु बीटयेर रजूड़ारीय बीट बोजनु बेलोरि रजूड़ारीय बानु बेलोबीय ।
124. ज्ञान के आगे समान नहीं	जिनेक डाड बा ।
125. जो के खाना नमक सिर्फ खाना ।	बमा बिट्टा खातर ।
126. जब दूध तब पानी खराब ।	दराक डरपाोते कोर ।
127. जहाँ मेंच वहाँ रंच ।	रानु बीसल्याक कट बस ।

128. जहाँ गड्ढा होगा वहीं पानी भरेगा ।	खोल्दु खोसलीको उदुराक रम्बता ।
129. जहाँ गुड़ होगा वहीं मक्खियाँ आयेंगी ।	मोक खोसलीकारे भुयि मोलु खोसलीको मुसु ।
130. जहाँ जाये बाले सिरां वहीं जाये पूँछ ।	कुम्या खाको पाल ।
131. जहाँ जाये भूखा वहीं पड़े सूखा ।	सोरक केरेले को पुँफ्याथि खोर ।
132. जहाँ न जाए सूर्य वहाँ कवि पहुँचते है ।	तुप सोठोपुँलाक स्यानु सिम्थारि कलोंसु खोतृताथ ।
133. जैसी करनी छूटे देखा । (लोकोक्ति)	खाको नेपाल साय आये क्लाल (हिन्दी)
134. जाको जौन स्वभाव जाय नहीं जीव से ।	
नीम न मीठा होय सींच गुड़ घी से ।	निम्या टुटु अमृताग सिंचिस्थारि मोलु जाक्या ।
135. जात की बेटी जात के ही जाती है ।	पानु खोसलीको पानु खोक्सा ।
136. जान बची लाखों पाये ।	प्रानु केस्थारि खोक सम्मन ।
137. जान सबको प्यारी है ।	सोगु क मटोसिथ खोलु ।
138. जिद न माने पितु गुरु की सीख ।	खोकत्याक सिलेक सोना अन्न केलेत्याक सिम्बराम ।
139. जितना लाभ उतना लोभ ।	केम्बा लखो बाबा पोर ।
140. जितना सस्ता उतना खराब ।	सवराये खान डमरो म्हारक ।
141. जितनी चादर देखो उतने ही पैर पसारो ।	केम्लु नाथि पाय गोट कोतुक ।
142. जिस पत्तल में खाना उसी में छेद करना ।	मेथिलो पम्थारि हनुक मन्न ।
143. जितना आदर उतना आदर ।	खोत खेलेत्याक मेम्न ।

144. जिसकी औरत अच्छी उसकी सूरत भी अच्छी ।	[illegible]
145. जिसके हाथ डोई उसका सब कोई ।	[illegible]
146. जिसने की बेहयाई उसने खाई दूध मलाई ।	[illegible]
147. जिसने की शरम उसके फूटे करम ।	[illegible]
148. जूँ के डर से गुदड़ी नहीं फेंकी जाती ।	[illegible]
149. झूठे हाथ से कुत्ता भी नहीं मारता ।	[illegible]
150. जैसा करो वैसा पाओ ।	[illegible]
151. जैसा देश वैसा भेष	[illegible]
152. जैसा नीम वैसा फल ।	[illegible]
153. जो अपने काम न आए वो भाड़ में जाये ।	[illegible]
154. जो बोवे सो लेवे फल , बुरा सो लेवे तोम ।	[illegible]
155. जो मिल हद से ज्यादा हुआ सो सस्ता हुआ ।	[illegible]
156. जो तैरेगा सो डूबेगा ।	[illegible]
157. जो ध्यान करेगा सो आम रोलना ।	[illegible]
158. जो साधु की माने बात रहे आनन्द वह दिन रात ।	[illegible]
159. जो बोये उसका पड़वा , जो खाये उसका पीड़या ।	[illegible]
160. झूठ के नहीं पड़ पड़ते ।	[illegible]

161. छूछे पर मुँह काला करके का पोलपाला ।	सक्काल बोरुम वर्ष ।
162. तन उजला मन कोयला ।	थवे बाराबो बिसोरि बेहु ।
163. कल वार अर वार	जम्बना बारै बाबु ।
164. तुम कुछ जानते हो नहीं सौंधे मुँह दूध पीते हो ।	बोल्मोंहु बेट्टंट सबारि बम्हुक बाहुम ।
165. तू भी रानी, मैं भी रानी, कौन भरे कुएँ का पानी ।	बम्म बैह हुम बैह बराबे बेमूठु बेम बाहि ।
166. तेरी भी तेरी दराजे खाँड कैसे काट ।	बो बबला तो बोहुना बबैन बबोले बा बाम ?
167. कैसो खेले खेल के मकतूल वैसे डला पे ।	बेम बिम्बोर्बोलोबि रहुला, नाहुं बिम्बोर्बोलोबि रहुला ।
168. पीछे वन में आग लगाय ।	अम्बाबि बाम्ब बहुमारि म बराबि बबी बराबिं ।
169. बड़ो बात में मुखल हाल बात में मुखल	हुंट बोबलो बबाबु मा ।
170. हाथ में जिसके बंदिया के दाँत नहीं गिने जाते ।	हाम बेहुबे माबुक हाल बोबम अबब बे ॥
171. रोजगार के दो कान होते है ।	बमराबिर बाम अबोबि ।
172. दुलारी बिटिया ईंट की लटकन ।	नाबबोबि बोबि बबु ।
173. दूध का जला छाछ फूँक फूँककर पीता है ।	हुम उबबोहु बहुबी बम्बर बेम उदुराम सिबिबबारि बिम्बा ।
174. दूर के ढोल सुहावने ।	दूर बबाम बोबोब बाहु ।
175. नाच न आवे आँगन टेढ़ा ।	बोबेबम बहुक बहुबा बबारि बहुबम बहुबे ।
176. भाग बड़ा सर्जन योद्धा ।	बूर्ति बाबि बबाबोबि बोर्बि बोबि ।
177. जो भी छूटे हाथ के जिसकी कभी उम पे ।	बैबि बम्बारि बबारि बोबबारि ।

178. हाथ काम पर मन न लाव । हातु मेध्यारोपि पानु मोलु ।

179. ब्याह न किया तो क्या बरात तो गए हैं । कोल्लम कालोन्न कत्यारोपि कोडि पलोल अल्ल ।

180. भागते भूत की लंगोटी भली । लातलो पतीत ल्ह्योले कुपलम ।

181. भूँकनेवाला कुत्ता काटता नहीं । मोंगुवे दुले कीव्वल् कत्तुवे दुले मोविना ।

182. मछली के बच्चे को तैरना कौन सिखाये ? मीनेम लाललीर कोहुक शिवलोतुम मनल ।

183. मन चंगा तो कठौती में गंगा । मन्लीतु पानु अल्ल मयारि मोगुवीतु प्पानु अल्ल ।

184. मुँह में राम राम बगल में छुरी । मोनवीतु पले चीट्टीतु कोना कोले ।

185. साँप भी मरे लाठी भी न टूटे लचीतूले चोहूचीय मल लहूलेले नाहूपुम ।

186. सारी रामायण सुन गये, पर यह न मालूम हुआ कि
राम रावण का था रावण । रामायन कलोरि अमूल्तु वोला रामोति मेल मोनु निलमोता ।

187. ओस चाटने से प्यास नहीं बुझती । मेडूर्ड वानु मवाला ।

××××××××××××